पाठशाला

भीतर और बाहर

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

वर्ष-1 अंक -1 (प्रवेशांक) जुलाई 2018

MPHIN34796

पाठशाला
भीतर और बाहर

जुलाई, 2018 (वर्ष 1, अंक 1)

- **सम्पादक मण्डल**
  हृदयकांत दीवान
  मनोज कुमार
  गौतम पाण्डेय
  सी.एन. सुब्रह्मण्यम
  अभय कुमार दुबे
- **कार्यकारी सम्पादक**
  गुरबचन सिंह
  रजनी द्विवेदी
- **सम्पादकीय सहयोग**
  अनिल सिंह
- **विशेष सहयोग**
  प्रदीप डिमरी
  रंजना सिंह

- **प्रकाशक**
  Azim Premji University
  अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय
  पिक्सल बी, पी.ई.एस. कैम्पस
  होसुर रोड, इलेक्ट्रानिक सिटी
  बैंगलूरू-560100
  Web: www.azimpremjiuniversity.edu.in
- **प्रकाशन स्थल**
  अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन
  प्लॉट नं. 163 - 164, त्रिलंगा कोऑपरेटिव सोसाइटी,
  E - 8, एक्सटेंशन, त्रिलंगा भोपाल, मध्य प्रदेश - 462039
  फोन नं. 0755 4074060, ई-मेल : apuhindimagazine@gmail.com
- **लेआउट / डिज़ाइन**
  गणेश ग्राफ़िक्स, देशबंधु काम्प्लेक्स, भोपाल
- **आवरण चित्र**
  बीहू, आनन्द निकेतन डेमोक्रेटिक स्कूल, भोपाल

पाठशाला भीतर और बाहर पत्रिका, अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन का हिन्दी प्रकाशन है। यह शिक्षकों, शिक्षक प्रशिक्षकों, अन्य ज़मीनी कार्यकर्ताओं व शिक्षा से सरोकार रखने वाले सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के लिए विचार-विमर्श का एक मंच है। पत्रिका का उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों के अनुभवों व आवाज़ को जगह देकर शिक्षा के विमर्श को गहन व यथार्थपरक बनाना है।

अनुक्रम

सम्पादकीय 4

इस अंक में... 6

विमर्श

1. कक्षा में सीसी टीवी की जगह नहीं / शिवानी नाग 9
2. क्या शिक्षक एक पेशेवर है? / निमरत कौर 13
3. बोर्ड परीक्षाएँ : एक दमनकारी एवं प्रतिगामी कदम / मुरारी झा 18
4. शुरुआती पाठकों के लिए बाल साहित्य : कुछ सवाल / चन्दन यादव 23
5. शिक्षक और शिक्षा दर्शन / अनानास कुमार 27

परिप्रेक्ष्य

6. गुणवत्ता के सौदागर / कुलदीप गर्ग 31
7. आँखें मूँदे कबूतर : यौनिकता की अभिव्यक्ति / निधि गुलाटी 43
8. कविता की समझ / देवयानी भारद्वाज 56
9. उत्तर-आधुनिकता, वास्तविकता और इतिहास की पाठ्यपुस्तकें / अमन मदान 69

शिक्षणशास्त्र

10. शिवशरण और उसकी मोटर कार / सुन्दर नौटियाल 80
11. क्या एक 'अच्छी कक्षा', 'गणित की सफल कक्षा' भी कही जा सकती है? / हनीत गाँधी 88

कक्षा अनुभव

12. क्यों कहें कहानियाँ / अनुराधा जैन 97
13. उच्चारण की गलतियाँ : हमारी समझ और उपाय / भारती पंडित 104
14. मेरी भाषा की कक्षा / विजयप्रकाश जैन 109
15. आखिर संवाद शुरू कैसे हो? : पर्यावरण की कक्षा के कुछ अनुभव / महमूद खान 113

साक्षात्कार

16. स्नेह और अनुशासन के बीच फँसी एक शिक्षिका (श्रीमती प्रमिला से टुलटुल बिस्वास की बातचीत) 120
17. समाज निरपेक्ष नहीं हैं भाषा (अपूर्वानंद से फ़ैयाज़ की बातचीत) 124

पुस्तक चर्चा

18. उम्मीद की राजनीति और शिक्षण शास्त्र / मनोज कुमार 140
19. नवजागरण के दौर में भाषाई ज़मीन की तलाश... / दीनानाथ मौर्य 148

शोध अध्ययन

20. अध्यापक अनुपस्थिति प्रवृति : एक अध्ययन 153

संवाद

21. क्या सभी बच्चों को स्कूल में गणित सिखाना चाहिए? 168

पत्रिका में छपे लेखों में व्यक्त विचार और मत लेखकों के अपने हैं।
अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का शैक्षणिक और गैर व्यावसायिक कार्यों के लिए उपयोग किया जा सकता है।
लेकिन इसके लिए लेखक एवं प्रकाशक से अनुमति लेना एवं स्रोत का उल्लेख अनिवार्य है।

सम्पादकीय

बारिश का मौसम है और हम आपके हाथों में शिक्षा की एक नई पत्रिका सौंप रहे हैं। आप सोच रहे होंगे कि शिक्षा की पत्रिका और बारिश का आपस में क्या रिश्ता है? लेकिन यह महज़ कोई संयोग नहीं है बल्कि ज्ञान परम्परा के साथ एक तरह की कदमताल है, क्योंकि सावन का यह मौसम दक्षिण एशिया की कई परम्पराओं में अध्ययन और विमर्श का समय है। बरसात की ऋतु में अध्ययन और अध्यापन पर केन्द्रित *पाठशाला भीतर और बाहर* के प्रवेशांक का उद्‌भव हम सभी के लिए शायद प्रासंगिक होगा।

भाषा, ज्ञान सृजन, और वर्चस्व के बीच के रिश्ते पर काफी कुछ लिखा गया है। हाल के दशकों में इन सब पर और इनके साथ शिक्षा के रिश्ते पर भी काफी मंथन हो रहा है। हमारे देश में भी इनके विभिन्न पक्षों पर कम से कम 2000 सालों से गहन और अकसर तीखे विवाद होते रहे हैं। ज्ञान की भाषा क्या हो, क्या बोलचाल की भाषा में उसका सृजन और संचार संभव है, ज्ञान का हक या पात्रता किसको है, क्या वह जन्म या पेशे से निर्धारित है, इन प्रश्नों पर इस देश की हरेक दर्शन परम्परा के अपने विचार रहे हैं और आपसी मतभेद भी। कहा जाता है कभी बुद्ध ने अपने विचारों को संस्कृत भाषा में दर्ज करने से सख्त मना किया था और कहा कि इसे हर समाज के लोग अपनी-अपनी बोलचाल की भाषा में कहें, सुनें।

आज के सन्दर्भ को देखते हुए हमें यह ज़रूरी लगता है कि शिक्षा को लेकर हो रहे सोच-विचार में ज्यादा से ज्यादा लोग शामिल हों, ताकि यह विमर्श केवल विश्वविद्यालयों तक सीमित न रहे। यह तभी संभव है जब लोगों को अपनी भाषाओं में न केवल उपयुक्त सामग्री पढ़ने को मिले बल्कि ऐसा मंच भी मिले जहाँ वे अपने अनुभवों व अपने विचारों को रख सकें। इसी से शिक्षा पर हो रहे विमर्श तथा ज्ञान सृजन के नए दायरे खुलेंगे।

पत्रिका *पाठशाला भीतर और बाहर* इसी दिशा में एक प्रयास है। यह पत्रिका हिन्दी में है और हमारा आग्रह है कि हमारे पाठक और लेखक इस भाषा में सोचें, बहस करें, पढ़ें, और लिखें। हमारा उद्‌देश्य हिन्दी को समृद्ध करना भर नहीं है बल्कि यह भी है कि शिक्षा, और सब के लिए शिक्षा पर हो रही बहस में ज्यादा भागीदारी हो और उसमें नई आवाज़ें शामिल हों। अन्य भारतीय भाषाओं की भी इस पत्रिका में जगह है। हम इन भाषाओं से अनूदित लेख इसमें शामिल करेंगे। हर भाषा में सोच विचार की अपार संभावनाएँ हैं लेकिन ये संभावनाएँ फलित हो पाएँ इसके लिए इन भाषाओं में विमर्श की आवश्यकता है।

पिछले 50 सालों में विश्व स्तर पर शिक्षा, उसका दार्शनिक और सामाजिक सरोकार, बचपन का निर्माण और शिक्षणशास्त्र को लेकर तीखी बहस और विमर्श हुए हैं। दुनिया भर के लोगों के अनुभव से उपजी ये बहसें केवल अकादमिक रुचि के लोगों या विश्वविद्यालयों और सेमिनारों तक सीमित रह जाएँ– यह ठीक नहीं। शिक्षा पर कोई डिस्कोर्स तभी सार्थक और गहरा होगा जब विद्यार्थियों, शिक्षकों और स्कूलों के विविध अनुभव और विश्लेषण अलग-अलग ज़ुबान और अन्दाज़ में कहे जाएँगे, और स्थापित डिस्कोर्स को चुनौती दी जाएगी। इस पत्रिका का मकसद भी यही है। वर्तमान में अधिकतर विमर्श अंग्रेज़ी में होने से बहुत से अनुभवी लोग इससे छूट जाते हैं। हम आशा करते हैं कि हिन्दी में हो रहे संवाद में आप सब सम्मिलित हो सकेंगे। हमारी कल्पना में इस पत्रिका के पाठक, जो शिक्षा में रुचि लेने वाले कोई भी व्यक्ति हो सकते हैं, इसके भावी लेखक भी बनेंगे।

सब के लिए शिक्षा मुहैया कराने का विचार एक आधुनिक विचार है जिसका रिश्ता उद्योगीकरण,

राष्ट्र-राज्य, लोकतंत्र और उपनिवेशवाद के विकास से है। यह महज़ सौ-दो सौ साल की बात है। आज भी इस बात को लेकर विवाद है कि क्या सब बच्चे सीख सकते हैं और इस कथन का मायने क्या है। उदाहरण के लिए बच्चों के बीच अभिरुचि और सीखने की गति में विभिन्नता का शिक्षा में समान अवसर के सिद्धान्त से एक तनाव भरा रिश्ता है।

आधुनिक स्कूली शिक्षा के लोकव्यापीकरण और उचित शिक्षा के मानदण्डों को लेकर उन्नीसवीं सदी से नीतियाँ और योजनाएँ बन रही हैं। लेकिन आज तक न तो बहस थमी है, न हम लक्ष्य प्राप्ति के निकट हैं। 1990 के बाद का दौर काफी जटिल रहा है जिसमें एक ओर तो लोकव्यापीकरण का लक्ष्य नजदीक दिख रहा है, मगर दूसरी ओर स्कूली तंत्र का स्तरीकरण, विभेदीकरण, निजीकरण और अनौपचारीकरण तेजी से बढ़ रहा है। शिक्षण का अनुभव कभी इतना विविध नहीं था। ऐसे में इस विमर्श में जिन्हें शामिल होना है उन स्वरों की विविधता बढ़ती जा रही है।

राजनीतिक रूप से भी यह दशक महत्त्वपूर्ण रहे हैं जिनमें वैश्वीकरण और जातिगत, सांप्रदायिक व अन्य पहचान आधारित ध्रुवीकरण के सामने राष्ट्रीय आन्दोलन की सामाजिक सहमति टूटती नज़र आ रही है। नए आदर्शों व सामाजिक लक्ष्यों के निर्माण में शिक्षा में हो रही बहसों का अहम स्थान है।

पिछले तीन चार दशकों से स्कूलों व कक्षाओं में छात्रों व शिक्षकों के आपसी व्यवहार व शिक्षण के तरीकों में बदलाव के लिए कई प्रयास शुरू किये गए हैं। इनमें से अधिकांश शासन की पहल पर हुए हैं। इन प्रयासों के बारे में कई तरह के मत व अनुभव हैं। इनके अलावा हर क्षण स्कूलों व कक्षा में कुछ न कुछ ऐसे प्रयास होते ही रहते हैं, जिनकी मंशा कक्षा में सभी को शामिल करने के साथ-साथ सभी को सीखने का मौका देने की है।

अनुभवों की यह विविधता अभूतपूर्व है और ये अनुभव कई तरह की चर्चाओं व विश्लेषण के विषय बनते रहे हैं। इनमें से कुछ ही व्यापक हो पाते हैं। स्कूलों, छात्रों व कक्षाओं के साथ नज़दीकी से जुड़े लोगों, समुदाय के साथ संवाद कर रहे लोगों व भावी शिक्षकों को तैयार कर रहे लोगों के अनुभव, मत, सीख व उनके ज़ेहन में उठ रहे सवाल और निदान आदि व्यापक संवाद से पूरे ही छूट जाते हैं। इससे एक तो ऐसे लोगों को निहायत अकेलेपन का अहसास सालता है और दूसरे उनके अनुभव से निकली सीख अन्य लोगों तक नहीं जा पाती।

हमारे लिए इस पत्रिका का एक और उद्देश्य ज़मीनी स्तर पर काम कर रहे लोगों को ऐसे मौके उपलब्ध कराना है जिनमें वे अपने कार्यों और प्रयासों में होने वाले अनुभवों पर गहनता से विचार कर सकें और उसे अन्य लोगों व प्रदेशों के अनुभवों के समकक्ष रख कर विश्लेषण के प्रयास कर सकें। उनके इस अनुभव व विश्लेषण को यदि सार्थक ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया से जुड़ना है तो ज़रूरी है कि ये लोग बचपन, शिक्षा, दर्शन और समाज को लेकर हो रहे विमर्श और बहसों से वाक़िफ़ हों और उनके सन्दर्भ में अपने अनुभवों को देख पाएँ। हमारी कोशिश है कि यह पत्रिका एक ऐसा मंच बने जिसमें न सिर्फ अलग-अलग स्तरों, जगहों पर हो रहे कार्यों के बारे में परस्पर आदान-प्रदान हो बल्कि सबको शिक्षा पर अध्ययन के लिए स्तरीय सामग्री भी मिले।

कोई पत्रिका अपने समर्थ पाठकों से ही समृद्ध हो सकती है। हमारी गुज़ारिश है कि पाठकीय सक्रियता के साथ ही बतौर सजग लेखक भी आप इसमें सहयोग करें; तभी यह पत्रिका अपना उद्देश्यानुकूल स्वरूप पा सकेगी।

सम्पादक मण्डल

इस अंक में...

पाठशाला का प्रवेशांक आपके हाथों में है। इस अंक में शिक्षा के विविध मसलों पर 21 लेख समाहित हैं, जिन्हें विमर्श, परिप्रेक्ष्य, शिक्षणशास्त्र, कक्षा अनुभव, साक्षात्कार, पुस्तक चर्चा, शोध अध्ययन और संवाद जैसे स्थायी स्तम्भों में विन्यस्त किया गया है। **विमर्श** में शिक्षा के सामयिक ज्वलंत विषयों से जुड़ी सामग्री को शामिल किया गया है। इसमें शिवानी नाग का पहला लेख ***कक्षा में सीसी टीवी की जगह नहीं*** सवाल उठाता है कि क्या स्कूलों में होने वाली घटनाओं को रोकने में सीसी टीवी वास्तव में मददगार हो सकता है या कक्षा में होने वाली स्वाभाविक प्रक्रियाओं मसलन छात्रों की आपसी बातचीत, शिक्षक व छात्रों की बातचीत अथवा सीखने-सिखाने के दौरान घटित होने वाले सभी व्यवहारों पर निगरानी से शिक्षक व छात्र की आज़ादी का हनन होता है। इसी कॉलम में शामिल निमरत खंदपुर का दूसरा लेख ***क्या शिक्षक एक पेशेवर है?*** शीर्षक के सवाल के इर्द गिर्द ही बुना गया है। यह कार्यशालाओं में चर्चा के दौरान शिक्षकों द्वारा दी गई 'पेशेवर' शब्द की परिभाषा को समेकित करता है और एनसीएफ 2005, एनसीएफटीई 2009 व अन्य शिक्षाविदों को उद्धृत करते हुए पेशेवर शब्द के अर्थ को समझने-समझाने की कोशिश करता है। **विमर्श** में शामिल मुरारी झा का तीसरा लेख ***बोर्ड परीक्षाएँ : एक दमनकारी एवं प्रतिगामी कदम***, बोर्ड परीक्षाओं और इससे बच्चों में उपजने वाले डर और उससे विकसित होती डर की संस्कृति कैसा समाज गढ़ती है, के प्रश्न पर गहरी दृष्टि डालता है। चन्दन यादव का आलेख ***शुरुआती पाठकों के लिए बाल साहित्य : कुछ सवाल*** में बाल साहित्य पर विचार किया गया है। लेख बच्चों को किस स्तर पर साहित्य उपलब्ध कराया जाए जैसे अहम् सवालों पर भी विमर्श के अवसर देता है। अपनी शुरुआत में ही यह लेख अभिभावकों और शिक्षकों की पढ़ना सीखने से सम्बन्धित प्रचलित मान्यताओं पर बहस करते हुए यह सुझाता है कि बच्चों में पढ़ने का चस्का लगाने व पढ़ने के कौशल में आत्मनिर्भर बनाने के लिए किस तरह का बाल साहित्य उपयुक्त होगा। **विमर्श** का अन्तिम लेख ***शिक्षक और शिक्षा दर्शन*** है। लेखक अनानास कुमार अपने व अन्य शिक्षाविदों के अनुभवों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हुए बताते हैं कि शिक्षा दर्शन की समझ शिक्षकों को शिक्षण के स्वरूप को पहचानने, पाठ्यचर्या व पाठ्यक्रम के उद्देश्यों व शिक्षा में होने वाले परिवर्तनों को समझने में मददगार होती है।

परिप्रेक्ष्य स्तम्भ में शामिल कुलदीप गर्ग का संवाद शैली में रचित लेख ***गुणवत्ता के सौदागर***, शिक्षा में गुणवत्ता के मसले पर जनमानस में पैठी प्रचलित समझ को खँगालते हुए सवाल उठाता है कि क्या शिक्षा की गुणवत्ता की धारणा किसी औद्योगिक उत्पाद की भाँति तय की जानी चाहिए? लेख गुणवत्ता की पारम्परिक समझ के बरक्स शिक्षा में गुणवत्ता की आधुनिक समझ की रूपरेखा प्रस्तावित करता है।

यौनिकता की अभिव्यक्ति एक जटिल मसला है। लेखिका निधि गुलाटी स्कूलों में घटित कुछ वाकयों का विवरण देते हुए अपने लेख ***आँखें मूँदे कबूतर : यौनिकता की अभिव्यक्ति*** में बच्चों की यौनिकता के मसले का जिक्र करती हैं। लेख सवाल उठाता है कि हर यौन अभिव्यक्ति को शोषण या नैतिकता का हनन समझा जाएगा या फिर मानवीय विकास का एक पहलू?

इसी स्तम्भ में शामिल देवयानी भारद्वाज का लेख ***कविता की समझ*** आरम्भिक कक्षाओं में भाषा शिक्षण के उद्देश्य, कविता, भाषा शिक्षण में कविता शिक्षण की क्या जगह और कक्षा के विभिन्न स्तरों पर कविता के इस्तेमाल जैसे विषयों की गहन पड़ताल करता है।

किस ज्ञान को सही मानें, किस हद तक सही मानें या पूरा ही गलत मानें– यह समझना आसान प्रक्रिया नहीं है। अमन मदान का लेख ***उत्तर-आधुनिकता, वास्तविकता और इतिहास की***

पाठ्यपुस्तकें... ज्ञान रचना के उद्यम में उत्तर आधुनिकतावाद के योगदान की पड़ताल करते हुए इसकी कठोर और नरम अवधारणाओं की व्याख्या करता है।

शिक्षणशास्त्र स्तम्भ में शामिल पहला लेख ***शिवशरण और उसकी मोटर कार*** सुन्दर नौटियाल ने कथा रूप में लिखा है। यह कथा सीखने की प्रक्रिया के रूप में बच्चे की समझ में आने वाले लक्ष्य, उसका अपने आसपास की चीजों से जुड़ाव, उनके बारे में बहुत कुछ जान पाने की जिज्ञासा, अपने स्तर पर कुछ कर पाने की इच्छा और साथ ही निरन्तर सोचते जाने व विकल्प ढूँढ़ने की तलब के इर्द गिर्द रची गई है। इसी स्तम्भ में हनीत गाँधी का लेख ***क्या एक 'अच्छी कक्षा', 'गणित की सफल कक्षा' भी कही जा सकती है?***, गतिविधियों से भरी गणित की कक्षाओं के अवलोकनों के विश्लेषण पर आधारित है। यह लेख स्थापित करने की कोशिश करता है कि एक 'अच्छी' दिखाई देने वाली कक्षा का वास्तव में गणित की एक 'अच्छी कक्षा' के मानदण्डों पर भी खरा उतरना आवश्यक है।

कक्षा अनुभव स्तम्भ में शामिल लेख ***क्यों कहें कहानियाँ*** अनुराधा जैन ने लिखा है। बच्चों के साथ काम करने के लिए तैयारी व फिर किए गए काम के अनुभवों का विस्तृत विवरण देते हुए वे बताती हैं कि कहानियों को कैसे काम में लिया जा सकता है और यह भी कि कहानियाँ न केवल भाषा सीखने में मददगार होती हैं बल्कि वे बच्चों को अपनी संस्कृति से जुड़ने व उनकी सोचने विचारने की क्षमता के विकास में भी सहायता देती हैं। भाषा शिक्षण के अनुभवों पर आधारित भारती पंडित का लेख ***उच्चारण की गलतियाँ : हमारी समझ और उपाय***, शुरुआती कक्षाओं में भाषा शिक्षण के दौरान उच्चारण की शुद्धता पर दिए जाने वाले ज़ोर के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करता है। लेख सवाल उठाता है कि क्या उच्चारण दोष को एक बहुत बड़ी समस्या के रूप में देखा जाना चाहिए? इसी स्तम्भ के तीसरे लेख ***मेरी भाषा की कक्षा*** में विजयप्रकाश जैन अपने अध्यापकीय अनुभवों से इस संभावना को पुष्ट करते हैं कि कक्षा में मानक के साथ-साथ स्थानीय भाषा का एक साथ प्रयोग करना संभव है। लेख उन बिन्दुओं को भी उभारता है कि दोनों भाषाओं का प्रयोग कैसे सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के अन्य पहलुओं, मसलन शिक्षक के साथ सहजता, सीखने की ललक, सीखने वाले में आत्मविश्वास आदि को भी प्रभावित करता है। चौथा लेख महमूद खान का है जिसका शीर्षक है ***आखिर संवाद शुरू कैसे हो?*** लेख में पर्यावरण की कक्षा के कुछ अनुभव साझा करते हुए शिक्षण में संवाद की महत्ता स्थापित की गई है। लेख दर्शाता है कि कक्षा में संवाद, बच्चों को सीखने में किस तरह मददगार होता है। लेख सुकरात के विचारों के आलोक में संवाद के विभिन्न पहलुओं और समृद्ध संवाद के लिए शिक्षक की तैयारी पर रोशनी डालता है।

साक्षात्कार स्तम्भ में दो साक्षात्कार शामिल हैं। पहला प्राथमिक शिक्षक का है व दूसरा एक जाने-माने शिक्षाविद का। शिक्षिका श्रीमती प्रमिला चौहान से टुलटुल बिस्वास ने बातचीत की है और शिक्षाविद अपूर्वानंद का साक्षात्कार लिया है फ़ैयाज़ ने। पहला साक्षात्कार एक आम शिक्षक की शिक्षकीय यात्रा, उसकी चुनौतियों को प्रस्तुत करता है। जबकि दूसरा साक्षात्कार भाषा के मानकीकरण व भाषा शिक्षण से सम्बन्धित मसलों पर केन्द्रित है। इस साक्षात्कार में पाठ्यपुस्तक और मानकीकृत भाषा से जुड़े सवालों को भी संबोधित किया गया है।

पुस्तक चर्चा के अन्तर्गत प्रवेशांक में दो पुस्तकों के बारे में कुछ बातचीत है। पहली है महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित पुस्तक ***हिन्दी भाषा की उत्पत्ति,*** जो आज से 110 साल पहले लिखी गई थी। दीनानाथ मौर्य ने पुस्तक के परिचय लेख ***नवजागरण के दौर में भाषाई ज़मीन की तलाश*** में इसकी मुख्य बातों को उस समय की परिस्थितियों में व्याख्यायित व प्रस्तुत किया है। परिचय पढ़ कर लगता है कि भाषा से सम्बन्धित कुछ प्रश्न हमेशा से ही चर्चा का विषय रहे हैं– जैसे क्या पूरे देश की एक भाषा और एक लिपि हो, या बोली और भाषा का सम्बन्ध क्या है, भारत में कितनी भाषाएँ हैं आदि। मनोज कुमार द्वारा लिखित पुस्तक चर्चा ***उम्मीद की राजनीति और शिक्षणशास्त्र***

हेनरी जीरु की पुस्तक ***पेडागॉजी एड पॉलिटिक्स ऑफ होप*** से रूबरू होने का अवसर देती है। यह चर्चा आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र, इसमें निहित आलोचनात्मक का अर्थ, विवेकशीलता और उसके विविध पहलुओं को सम्बोधित है। इसमें प्रत्यक्षवाद और आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के टकराव आदि पर भी संक्षेप में चर्चा की गई है– साथ ही यह भी कि कक्षा शिक्षण में यह किस तरह फलित होता दिखाई देता है।

शोध अध्ययन स्तम्भ के अन्तर्गत वर्ष 2016 में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की फील्ड रिसर्च टीम द्वारा किए गए अध्ययन, ***'अध्यापक अनुपस्थिति प्रवृति'*** की रिपोर्ट संक्षेप में दी गई है। यह अध्ययन उन क्षेत्रों में किया गया था जहाँ फाउण्डेशन की सक्रिय उपस्थिति है। यह अध्ययन 'अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति', जिसे 'बिना कारण के अनुपस्थित रहना' समझा जाता है, से जुड़े पहलुओं पर शोधपरक निष्कर्ष प्रस्तुत करता है।

संवाद के अन्तर्गत प्रवेशांक के लिए आयोजित 'संवाद' का विषय था ***क्या सभी बच्चों को स्कूल में गणित सिखाना चाहिए?*** बातचीत में अलग-अलग विषय पढ़ा रहे शिक्षकों ने इस सवाल के पक्ष और विपक्ष में अपने अनुभवजन्य मत प्रस्तुत किए। सहभागी शिक्षकों ने गणित के बारे बनी धारणाओं और इसके अध्यापन की मुश्किलों का जिक्र करते हुए इसके सुधार के लिए व्यवहारिक सुझाव भी दिए।

इस तरह प्रवेशांक में शिक्षा के सरोकारों और सवालों पर विविध आलेख हैं। उम्मीद है कि यह आलेख आपकी पाठकीय अपेक्षाओं को पूरा करेंगे।

सम्पादक मण्डल

कक्षा में सीसी टीवी की जगह नहीं

शिवानी नाग

शिक्षण संस्थानों में व्यवस्थागत सुधारों के अन्तर्गत कई नवाचार होते रहे हैं। इनमें से कुछ तो सुविधा और सुरक्षा से सीधे तौर पर जुड़ते हैं तो कुछ मानवीय व्यवहार में बदलाव की अपेक्षा करते हैं। स्कूलों में सीसी टीवी कैमरा लगाया जाना इसी कड़ी में है।
सीसी टीवी लगाए जाने का विचार कॉरपोरेट जगत से आया हुआ है। इसके मूल में सुरक्षा और निगरानी बताई जा रही है। कॉरपोरेट जगत में कार्य निष्पादन, गुणवत्ता, प्रभावकारिता, चूक, जवाबदेही और आज्ञापालन जैसे विषय, प्रबन्धन और श्रमिक वर्ग के बीच सम्बन्धों के चश्मे से देखे जाते हैं। इसके मूल में अविश्वास, शोषण, दोषारोपण और अधिकारों का संघर्ष है। ऐसे में स्कूलों में सीसी टीवी लगाए जाने का निर्णय कई सवाल खड़े करता है। यह लेख इन्हीं सवालों और इनके निहितार्थ को शिक्षा के शैक्षिक-सामाजिक सरोकारों की रोशनी में देखने की कोशिश करता है। सं.

हाल के दिनों में स्कूल परिसर के भीतर छात्रों की सुरक्षा सुनिश्चित करना चिन्ता का एक मुख्य विषय बन कर उभरा है। इसके समाधान के लिए कक्षा में सीसी टीवी की मौजूदगी को बतौर हल प्रस्तुत किया जा रहा है। इस हल के कई समर्थकों का तो यहाँ तक मानना है कि कक्षा में सीसी टीवी कैमरा लग जाने से शिक्षक भी समय पर कक्षा में आएँगे और अच्छी तरह पढ़ाएँगे भी। बच्चों की सुरक्षा, शिक्षा व्यवस्था में पारदर्शिता और शिक्षकों की जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए सीसी टीवी द्वारा की गई रिकॉर्डिंग माँ-बाप और शिक्षा अधिकारी भी अपने-अपने फोन पर देख पाएँगे। इस मसले पर समाचार चैनलों पर कई बहसें सुनने का मौका मिला। इन बहसों को सुन कर मन में उठ रहे सवालों के जवाब तो कम मिले, पर कई नए प्रश्न उठ खड़े हुए। इस लेख में इन्हीं कुछ प्रश्नों और इस सुझाव से उत्साहित न हो पाने के कुछ कारणों को साझा करने का प्रयास किया है।

सीसी टीवी को अन्य संसाधन की तुलना में महत्त्व देना कितना सही ?

शिक्षकों का कक्षा में नियमित रूप से आना और तैयारी कर के आना शिक्षा की गुणवत्ता से जोड़ा जाता है। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा निःसंदेह एक गम्भीर चिन्ता का विषय है। पर गुणवत्ता सुनिश्चित करने के लिए सीसी टीवी को प्राथमिकता देना कितना सही है– वह भी तब जब कई सरकारी स्कूलों में स्थायी शिक्षकों की नियुक्ति और अन्य ज़रूरी शैक्षिक संसाधनों (इंफ्रास्ट्रक्चर) की व्यवस्था केवल पैसों की कमी की वजह से स्थगित कर दी जाती है? जिस देश में शिक्षा पर सरकार द्वारा किए जाने वाले खर्च पर हमेशा असंतुष्टि ही व्यक्त की गई हो, उस देश में शिक्षक की नियुक्ति, शिक्षकों की तैयारी और स्कूली संसाधन जैसे– कमरे, पुस्तकों से भरे हुए पुस्तकालय, खेल के मैदान, ज़रूरी सामग्री से लैस प्रयोगशालाएँ, साफ़ पानी और शौचालय इत्यादि की जगह सीसी टीवी पर ध्यान देना क्या सच में गुणवत्ता के हक में है?

सीसी टीवी के सन्दर्भ में हो रही बहस में इन प्रश्नों पर भी विमर्श होना चाहिए।

सीसी टीवी की निगरानी में कक्षाओं का स्वरूप

कक्षा में सीसी टीवी लगाए जाने के तर्क पर उठ रहे सवालों का आधार केवल खर्च सम्बन्धी नहीं है। क्या पर्याप्त आर्थिक संसाधनों के होने पर यह सुझाव एक प्रभावी सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के हक में होता? कल्पना कीजिए कि आप एक शिक्षक हैं और जिस कक्षा में आप पढ़ाते हैं उसे कोई कैमरे के ज़रिए बाहर से देख रहा है। ऐसे सन्दर्भ में वहाँ सीखने-सिखाने का माहौल कैसा होगा? क्या एक शिक्षक शिक्षण पद्धति का प्रयोग करने के लिए स्वयं को प्रेरित महसूस कर पाएगा, यह जानते हुए कि सभी प्रयोग हमेशा सफल नहीं होते? क्या एक शिक्षक कक्षा में एक ऐसी बहस को या किसी ऐसी सामूहिक क्रिया को प्रोत्साहित कर पाएगा जिसमें भाग लेते हुए विद्यार्थी अत्यन्त उत्साहित हो जाएँ और बाहर से देखने वाले को लगे कि जैसे शिक्षक का विद्यार्थियों पर कोई नियंत्रण नहीं? क्या कोई शिक्षक बच्चों से कुछ कठिन सवाल पूछने या उनके समक्ष कुछ चुनौतीपूर्ण शैक्षिक समस्याएँ प्रस्तुत करने की हिम्मत जुटा पाएगा, यह जानते हुए कि अगर बच्चों ने तुरन्त उसका हल न बताया तो बाहर से देखने वाले को लग सकता है कि वह उन्हें कुछ सिखा नहीं पाया? क्या कोई शिक्षक ऐसे माहौल में कभी बच्चों के साथ अनौपचारिक महसूस करते हुए उन्हें कोई चुटकुला, गाना, कविता या कहानी सुना पाएगा जिसका पाठ्यक्रम से कोई सीधा सम्बन्ध न हो, इस डर में कि कोई देख कर यह न समझे कि वह समय बर्बाद कर रहा है? सघन निगरानी के ऐसे माहौल में कोई शिक्षक अपने बच्चो को पितृसत्तात्मक और जातिवादी ढाँचों को चुनौती देने के लिए कैसे प्रोत्साहित कर पाएगा? कई सारे अभिभावक इस यथास्थिति के पोषक हो सकते हैं, गैर बराबरी के समर्थक हो सकते हैं। इस स्थिति में विद्यार्थियों को तार्किक और आलोचनात्मक ढंग से सोचने के लिए खुले विचार-विमर्श का प्रयास सघन निगरानी का शिकार हो सकता है।

बच्चों की परिस्थिति तो शायद और भी ज़्यादा दयनीय हो जाए। ऐसी निगरानी वाली कक्षाओं में क्या बच्चे मासूम शरारत कर पाएँगे और एक दूसरे को अपने दिल के राज़ कह पाएँगे? शायद गलती करने और उनसे सीखने के मौके भी कम हो जाएँ, जब उनकी हरेक गलती पर न जाने कितने लोगों की सख्त निगाहें हैं। एक ऐसे दौर में जहाँ स्कूल और घर दोनों ही जगह कड़ी प्रतिस्पर्धा का माहौल तैयार करने की कोशिश की जाती है, ज़रा सोचिए एक बच्चे की स्थिति जिसके माँ-बाप शिक्षक से ज़्यादा अपने बच्चे पर नज़र टिकाए हुए होंगे और उसके घर पहुँचते ही उस पर कुछ ऐसे प्रश्नों की बौछार कर देंगे—"जब टीचर ने सवाल किया तुमने अपना हाथ खड़ा क्यों नहीं किया?" "तुमने जवाब वैसे क्यों नहीं दिया जैसा मैंने घर पर सिखा कर भेजा था?" "जब शिक्षक कुछ कह रहा था, तुम बाहर क्यों देख रहे थे"? "तुमने अपने घर के अन्दर की बात टीचर को क्यों बताई?" क्या ऐसे माहौल में एक बच्चा जो कुछ पारिवारिक या सामाजिक चुनौतियों का सामना कर रहा है, कभी उन्हें अपने सहपाठियों या शिक्षक के साथ साझा कर पाएगा?

ऐसे माहौल में तो सबसे सुरक्षित विकल्प होगा कि शिक्षक सिर्फ 'सिखाए' और विद्यार्थी सिर्फ 'सीखें'— चुपचाप, आज्ञाकारितापूर्वक, हमेशा अनुशासन बनाए हुए और सिर्फ तभी बोलते हुए जब उनसे कुछ पूछा जाए। ऐसे शैक्षिक वातावरण में कहाँ कोई यथास्थिति को चुनौती दे पाएगा! ऐसी ज़गह में शिक्षा का सिर्फ हस्तान्तरण सम्भव है। ऐसी शिक्षा परिवर्तनकारी नहीं हो सकती। कई वर्षों से 'क्रिटिकल पेडागॉजी' से जुड़े दार्शनिकों और शिक्षकों ने यह समझाने की कोशिश की है कि बच्चों को खाली पात्र मानते हुए एकतरफा दिया ज्ञान शिक्षा नहीं है। एक कक्षा में गलती करने, गलतियों से सीखने, और एक दूसरे से सीखने के मौके उपलब्ध होने चाहिए और ऐसी कक्षा की रचना संदेह की

दृष्टि से हो रही निगरानी के अन्दर नहीं की जा सकती। यहाँ पर ज़रूरी है कि उन मान्यताओं को भी परखने का प्रयास किया जाए जिनसे कक्षाओं को सुरक्षित, पारदर्शी और ज़वाबदेह बनाने का हल सीसी टीवी में मिलता है।

अविश्वसनीय शिक्षक और हमेशा विश्वसनीय माता-पिता

यह विश्वास कि कक्षा में सीसी टीवी लगने से और उनके ज़रिए माता-पिता द्वारा कक्षा की प्रक्रिया को देख पाने से बच्चों की सुरक्षा और शिक्षा की गुणवत्ता तय हो सकती है, इस मान्यता पर आधारित है कि शिक्षक अविश्वसनीय है और माँ-बाप हमेशा विश्वसनीय। शिक्षक बच्चों का भला-बुरा नहीं समझ सकते और अभिभावक हमेशा बच्चों के भले बुरे की सही समझ रखते हैं। यह मान्यता वास्तविकता से कहीं दूर है। स्कूल परिसर अथवा कक्षा के भीतर घटित कई ऐसे वृत्तान्त मिल जाएँगे जहाँ एक संवेदनशील शिक्षक के साथ एक सहमे हुए बच्चे ने उसके साथ घर या आस पड़ोस में हो रही हिंसा या भेदभाव के अनुभव साझा किए हैं। ऐसे कई वृत्तान्त और मिल जाएँगे जहाँ स्कूल में पढ़ रही लड़कियों ने किसी शिक्षक को विश्वासपात्र मान, स्कूल की सहायता से घर वालों द्वारा किया जा रहा बाल विवाह रुकवाया है। न जाने ऐसे भी कितने वृत्तान्त और हैं जहाँ एक संवदेनशील और सतर्क शिक्षक ने किसी बच्चे के व्यवहार में अचानक आए परिवर्तन से सचेत होते हुए यह जानने की कोशिश की है कि कहीं घर या ट्यूशन या कहीं और वह किसी शारीरिक या यौन हिंसा का शिकार तो नहीं हो रहा। कई बार कक्षा की चारदीवारी के भीतर बच्चों ने अपने मुश्किल अनुभवों या ऐसी आकाँक्षाओं को साझा करने की सुरक्षित ज़गह पाई है, जिन्हें वह कई बार अपने अभिभावकों से भी नहीं कह पाते। घर पर डॉक्टर या इंजीनियर बनने का दबाव झेलती हुई बच्ची अपने हिन्दी के शिक्षक को अपनी कविताएँ सुनाती है। एक और बच्ची अपने माँ-बाप की अपेक्षाओं से परे खुद के कलाकार बनने के सपने को अपनी कला के शिक्षक के साथ बाँटती है। क्या हमने नहीं सुनी वे घटनाएँ जहाँ किसी परीक्षा में फेल होने पर एक विद्यार्थी इसलिए ख़ुदक़ुशी कर लेता है क्योंकि वह अपना परीक्षाफल अपने माँ-बाप को बताने का साहस नहीं कर पाता। अपनी निराशा से कहीं ज़्यादा असहनीय और भयभीत करने वाली निराशा उसके अभिभावकों की है। इन घटनाओं के बारे में बात करने का तात्पर्य यह बिलकुल नहीं है कि कक्षाएँ हमेशा सुरक्षित, भेदभाव रहित और संवेदनशील जगह होती हैं और शिक्षक हमेशा बच्चों के हक के लिए प्रतिबद्ध। पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि सीसी टीवी द्वारा माँ-बाप की कक्षा पर नज़र रहने से शिक्षण में बदलाव आएगा, किसी तर्कपूर्ण मान्यता की उपज नहीं है।

शिक्षकों की निगरानी बनाम शिक्षकों की तैयारी

सीसी टीवी पर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा और बच्चों की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी थोप देना कहीं-न-कहीं हमारा और शिक्षा अधिकारियों का ध्यान कुछ अहम् मुद्दों से भी भटकाता है और ये हैं– शिक्षक की तैयारी और उसके लिए सहायक स्थितियाँ निर्मित करने की मंशा और कोशिशें। अगर हमें लगता है कि शिक्षक तैयारी के साथ कक्षा में नहीं आते या अच्छा नहीं पढ़ाते और उनकी मौजूदगी के बावजूद बच्चे सुरक्षित नहीं, तो क्या उन पर नज़र रखने से कहीं ज़्यादा ज़रूरी उनकी तैयारी और उनका समर्थन नहीं है। पर यह ज़िम्मेदारी तो हमने न जाने कितनी ही बी.एड. की डिग्री बेच रहीं छोटी-छोटी दुकानों के हाथों में छोड़ दी है। शायद ही इन दुकानों की रुचि शैक्षणिक दृष्टि से मज़बूत और सामाजिक रूप से संवेदनशील शिक्षकों को तैयार करने में हो। ऐसे में सीसी टीवी की उपस्थिति शिक्षकों को बेहतर और ज़वाबदेह बनाने से ज़्यादा, उन्हें बस ज़्यादा सावधान रहने के लिए ही प्रेरित कर पाएगी।

सुरक्षा की अवधारणाओं के बारे में फिर से सोचने की ज़रूरत

एक शैक्षणिक संस्थान में सुरक्षा को केवल निगरानी के माध्यम से सुनिश्चित कराने का विचार कहीं न कहीं भोलेपन से भी ग्रस्त है। हरियाणा के स्कूल में हुए जिस हादसे ने हम सबका ध्यान सीसी टीवी पर टिका दिया वह हादसा आखिर था क्या– एक बच्चा स्कूल के एक शौचालय में मरा हुआ पाया गया। कक्षा में सीसी टीवी की मौजूदगी इस हादसे को कैसे रोक पाती, मैं नहीं जानती। मैं यह भी नहीं जानती कि क्या स्कूल परिसर की हर सम्भव जगह में सीसी टीवी को लगाया जा भी सकता है? पर सवाल यहाँ सिर्फ सीसी टीवी की मौजूदगी या अनुपस्थिति का नहीं है। अगर पुलिस द्वारा दिए गए हाल ही के कथन में सत्यता है, तो प्रद्युमन का क़त्ल किसी खतरनाक गाड़ी चालक ने नहीं बल्कि उसी के स्कूल में पढ़ने वाले एक अन्य छात्र ने किया। इस छात्र को यह स्कूल और समाज एक ज़िन्दगी की महत्ता नहीं सिखा पाया, सिखा पाया तो केवल स्कूल और घर का ऐसा डर जो किसी की जान तक लेने को मज़बूर कर सकता है। अगर एक बच्चा स्कूल में होने वाली अभिभावक–शिक्षक मीटिंग से इतना भयभीत हो सकता है कि उसे स्थगित कराने के लिए वह किसी की जान तक ले सके, तो क्या उसके इस डर का कारण केवल एक 'दुष्ट और भयानक' शिक्षक रहा होगा या एक ऐसे घर का परिवेश जहाँ शिक्षक द्वारा की गई शिकायत, घर पर उस बच्चे के लिए मानसिक या शारीरिक हिंसा का कारण बन सकती है? इस प्रश्न का दायरा सिर्फ इतना भर नहीं है।

कहीं हम शिक्षकों, अभिभावकों और बच्चों में सहानभूति, संवेदनशीलता और मानव जीवन और हकों के प्रति सम्मान के मूल्यों को स्थापित करने की ज़रूरत और ज़िम्मेदारी से भाग तो नहीं रहे। कम–से–कम इस घटना के बाद होने वाले विमर्शों में तो यह चिन्ता कहीं नज़र नहीं आती। सीसी टीवी से कहीं ज़्यादा ज़रूरत है ऐसी शिक्षण प्रणालियों और पाठ्यक्रमों को विकसित करने की जो विद्यार्थियों को ऐसा इंसान बनाने की ओर प्रेरित कर सकें जो अन्य इंसानों की शारीरिक, भावनात्मक और संज्ञानात्मक हितों को समझेंगे और इनसे जुड़ी सीमाओं को पहचान कर उनका सम्मान करेंगे।

आखिर में, अगर हम शिक्षा को एकतरफा ज्ञान वितरण की प्रक्रिया नहीं मानते और शिक्षा में सामाजिक परिवर्तन की संभावना तलाशते हैं, शिक्षण प्रक्रियाओं से यह उम्मीद रखते हैं कि वे एक अति स्तरीकृत और गैर–बराबर समाज से कट्टरपंथ, पूर्वाग्रहों और अतार्किकता की जड़ों को उखाड़ने की पृष्ठभूमि तैयार कर पाएँगी, तो कक्षाओं को ऐसी ज़गह बनाना पड़ेगी जहाँ बिना किसी डर के ईमानदार संवाद संभव हो। पूर्वाग्रहों और रूढ़िवादी अवधारणाओं को जड़ से निकाल पाने के लिए ऐसी ज़गहों की ज़रूरत होगी जो संवेदनशील हों और 'नॉन-जजमेंटल' हों। ऐसी ज़गह माइक्रोफोन और सीसी टीवी से लैस नहीं हो सकतीं, जहाँ संवाद ईमानदार न होकर, केवल कैमरा के लिए किया गया 'प्रदर्शन' होकर रह जाए।

शिक्षण संस्थान विद्यार्थियों में ऐसी क्षमता का विकास कर पाने में सक्षम होने चाहिए जिनसे वे अपने कार्यों, अपनी सोच और उनमें निहित मान्यताओं और पूर्वाग्रहों पर आत्मचिन्तन कर सकें। कक्षा में सीसी टीवी कैमरा केवल शिक्षकों को तभी तक सावधान रहने के लिए प्रेरित कर सकता है जब तक कि कैमरे की नज़र उन पर है।

शिवानी नाग पिछले तीन दशक से शिक्षा और सामाजिक मसलों पर लेखन एवं अध्यापन कर्म से जुड़ी हुई हैं। वर्तमान में अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली के स्कूल ऑफ एजुकेशन स्टडीज़ में सहायक प्राध्यापक के पद पर कार्यरत हैं।
सम्पर्कः shivani@aud.ac.in

क्या शिक्षक एक पेशेवर है ?

निमरत खंदपुर

आम तौर पर शिक्षक और शिक्षण के सन्दर्भ में पेशा, पेशेवर इत्यादि शब्दों का प्रयोग उचित नहीं माना जाता। इस लेख में पेशा और पेशेवर शब्दों पर कुछ विद्वानों के मतों को साझा करते हुए इन शब्दों का अर्थ समझने का प्रयास किया गया है। लेख में यह चर्चा भी शामिल है कि पेशेवर तैयारी की आख़िर ज़रूरत क्यों है, पेशेवर तैयारी में क्या-क्या शामिल होता है और यह कैसे शिक्षक को अपनी ज़िम्मेदारियों को समझने और उन्हें अंजाम देने में मददगार होती है। सं.

शिक्षक-शिक्षकों की कार्यशालाओं में अक्सर राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2009 पर चर्चा होती है। चर्चा के दौरान, प्रतिभागियों का ध्यान दस्तावेज़ के उपशीर्षक पर लाया जाता है। यह उपशीर्षक दस्तावेज़ के उद्देश्य को संक्षिप्त में प्रस्तुत करता है– 'पेशेवर और मानवीय शिक्षकों की तैयारी की ओर'।

मेरा अनुभव रहा है कि मानवीय शब्द को ले कर सकारात्मक प्रतिक्रियाएँ मिलती हैं। परन्तु, पेशा (प्रोफेशन) शब्द पर प्रतिक्रियाएँ नकारात्मक ही नहीं, अक्सर आक्रामक भी होती हैं। कुछ प्रतिभागी यह चिन्ता रखते हैं कि शिक्षक तो गुरु होता है– एक गुरु पेशेवर (प्रोफेशनल) कैसे हो सकता है? यह चिन्ता भी रखी जाती है कि एक पेशेवर तो वेतन के लिए काम करता है - एक शिक्षक अगर केवल वेतन के लिए काम करेगा तो उसकी सोच और उसके कार्य का दायरा बहुत सीमित हो जाएगा।

कुछ प्रतिभागियों का यह कहना होता है कि जब से शिक्षक एक पेशेवर के रूप में देखा जाने लगा है, तब से उसकी समाज में प्रतिष्ठा कम हो गई है। तो प्रश्न यह उठता है कि यह शब्द इतना महत्वपूर्ण क्यों है कि इसका स्थान पाठ्यचर्या की रूपरेखा के उपशीर्षक में चिह्नित किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले, ज़रूरी है कि इस शब्द को समझने का प्रयत्न किया जाए।

पेशेवर शब्द का तात्पर्य

पेशे को परिभाषित करते हुए एरिक होईल (1982) कुछ मानक प्रस्तुत करते हैं :

- पेशा एक ऐसा कार्य है जो महत्त्वपूर्ण सामाजिक लक्ष्य पूरे करता है। इस कार्य को करने के लिए खास दर्ज़े की निपुणता की आवश्यकता होती है।
- यह कार्य करते समय नई-नई परिस्थितियाँ निर्मित हो सकती हैं जिनका इन निपुणताओं की मदद से सामना करना पड़ सकता है।
- अतः अनुभव से प्राप्त ज्ञान या निश्चित गुर पर्याप्त नहीं होता, एक संगठित एवं व्यवस्थित ज्ञान की मदद से समाधान निकालने पड़ते है।
- इस ज्ञान और कौशलों को हासिल करने के लिए एक लम्बे अरसे की उच्च शिक्षा की ज़रूरत है।

शिक्षकों के साथ एक कार्यशाला के दौरान लम्बी चर्चा छिड़ी। प्रश्न यह था कि शिक्षकों के सन्दर्भ में पेशेवर शब्द का उपयोग उचित है या नहीं। कुछ शिक्षकों को इस शब्द से आपत्ति नहीं थी। उनका कहना था कि निजी और पेशेवर ज़िन्दगी अलग-अलग होती है। इसलिए दोनों में भेद करने की आवश्यकता है। तथापि, यह भी विचार रखा गया कि पेशेवराना मूल्य व्यक्तिगत मूल्यों पर ही आधारित होते हैं। अतः दोनों में भेद करना आवश्यक नहीं है। इस पर शिक्षकों ने यह तर्क रखा कि वे केवल शिक्षक नहीं, साधारण इंसान भी हैं। अतः निजी और पेशेवराना जीवन में अन्तर करने की आवश्यकता है। आम इन्सान की तरह शिक्षक भी चौक में गोल-गप्पे खाना चाहते हैं, जीन्स पहनना चाहते हैं, शाम को दो पैग लगाना चाहते हैं। शिक्षकों ने सवाल उठाया– मेरे लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त क्या हैं? उदाहरण के लिए, बच्चे पूछते हैं कि आप के नाखून लम्बे हैं तो हमें नाखून काटने को क्यों कहते है? तो क्या शिक्षकों से जिस तरह के व्यवहार की अपेक्षाएँ हैं, वह उनके निजी जीवन में भी लागू होती हैं? शिक्षकों का कहना था कि इन मुद्दों का समाधान आजकल के भौतिकवादी समाज में आवश्यक है।

- इस तैयारी के दौरान पेशेवराना मूल्यों में समाजीकरण भी शामिल है।
- 'ग्राहक' के प्रति प्रतिबद्धता इन मूल्यों में अहम है।
- क्योंकि व्यावसायिक ज्ञान हर स्थिति के लिए समान रूप से उपयोग में नहीं लाया जा सकता, इसलिए पेशेवर के लिए स्वायत्तता और निर्णय लेने की स्वतंत्रता अनिवार्य हैं।
- क्योंकि पेशे की ज़िम्मेदारियाँ इतनी विशिष्ट हैं, इसलिए इस पेशे से सम्बन्धित नीति निर्धारण में पेशे के सदस्यों की भागीदारी और निर्णय लेने का अधिकार और शासन से स्वायत्तता आवश्यक है।
- तैयारी की लम्बी अवधि, ज़िम्मेदारी और 'ग्राहक' के प्रति गहन प्रतिबद्धता का परिणाम उच्च प्रतिष्ठा और उपयुक्त वेतन हैं।

राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2009 में व्यवसाय की विशेषताएँ कुछ ऐसे परिभाषित की गई हैं: 'अकादमिक प्रशिक्षण की पर्याप्त लम्बी अवधि, ज्ञान का एक व्यवस्थित, सुगठित भण्डार जिस पर यह कार्य आधारित है, पर्याप्त समय का औपचारिक और गहन व्यावसायिक प्रशिक्षण एवं कार्य क्षेत्र में व्यावहारिक अनुभव, और व्यावसायिक नैतिकता के कोड जो सदस्यों को एक बिरादरी में बाँधते हों'। (अनूदित, पृष्ठ संख्या 15)

ह्यूज सोकट के विचार साझा करते हुए केम्पबेल (1996) कहती हैं कि व्यवसाय का मुद्दा मूलरूप से सदाचार और नैतिकता का मुद्दा है। स्वभाव तो बदलता नहीं है परन्तु पेशेवर विकास के माध्यम से उस पेशे के प्रति उत्तरदायित्व की समझ विकसित होती है। कौशल, निपुणता और नैतिक अभिकर्तृत्व (एजेंसी) व्यक्ति में ऐसी मानसिक स्थिति उत्पन्न करते हैं कि दूसरों की भलाई अनिवार्य होती है। अतः भेदभाव करने का सवाल ही नहीं उठता। एक नैतिक रूपरेखा

के अनुसार वे कार्य करते हैं– यह रूपरेखा पेशेवर तैयारी के दौरान विकसित होती है और हर पेशेवर व्यक्ति इस रूपरेखा के प्रति निष्ठा रखता है।

स्क़एर्स (2003) के अनुसार कुछ लोगों का कहना है कि शिक्षण एक पेशा हो ही नहीं सकता। शिक्षण अनेक अध्ययन के क्षेत्रों से लिए गए ज्ञान का मिश्रण है। वह खुद एक अध्ययन का क्षेत्र है ही नहीं। यही कारण है कि शिक्षकों की आवाज़ नीति या उच्च स्तर के निर्णयों में पाई ही नहीं जाती। परन्तु स्क़एर्स इस राय को शिक्षण के प्रति घटिया सोच समझते हैं। कुछ हद तक वह शिक्षकों को जिम्मेदार ठहराते हैं क्योंकि उन्होंने शिक्षण को केवल विधियों से परिभाषित कर दिया है। स्क़एर्स शिक्षण को नई सोच से देखने का प्रस्ताव रखते हैं– शिक्षण अन्य व्यवसायों की तरह किसी उद्देश्य प्राप्ति में सहायक है, शिक्षण संदर्भ आधारित है और शिक्षण प्रक्रियात्मक है।

शिक्षण, स्वांतः सुखाय नहीं किया जाता है बल्कि किसी और के सीखने में सहयोगी होता है और सीखने से जो बदलाव आता है, वह शिक्षण के दायरे से कहीं अधिक है। शिक्षण, स्थिति और शिक्षार्थी के सन्दर्भ से बदलता है; इसलिए शिक्षकों को लगातार आकस्मिक निर्णय लेना पड़ता है। वह तयशुदा तरीकों को अपना नहीं सकते। वह समय और सोच के सन्दर्भ में भी बदलता है। अतः, स्क़एर्स शिक्षण को एक पेशे के रुप में देखते हैं।

ऊपर की गई चर्चा में जो पहलू निकल कर आए हैं, उन पर एक शिक्षक के सन्दर्भ में शोध साहित्य और निजी अनुभव के आधार पर आगे चर्चा की गई है।

पेशेवर शब्द का तात्पर्य– शिक्षक के सन्दर्भ में

एक पेशेवर व्यक्ति की अपनी अलग पेशेवराना पहचान होती है– एक शिक्षक के कार्य की विशेषताओं पर चिन्तन करने पर कोई संदेह नहीं कि शिक्षक की अनोखी पहचान होती है। साथ ही, एक पेशे में प्रवेश औपचारिक होता है– यह कथन शिक्षक के लिए भी सही है। एक व्यक्ति शिक्षक तभी बन सकता है जब वह कम से कम दो साल शिक्षक शिक्षा के संस्थान में लगा कर, परीक्षा में सफल हो कर, मान्यता प्राप्त डिग्री हासिल करे। साथ ही कुछ कक्षाओं में पढ़ाने के लिए, शिक्षक को टीचिंग एलीजबिलिटी टेस्ट (टीइटी) में भी सफलता का प्रदर्शन देना पड़ता है।

शिक्षण के लिए व्यवस्थित ज्ञान की आवश्यकता है। एक शिक्षक के लिए सैद्धान्तिक ज्ञान, विषयवस्तु से सम्बन्धित ज्ञान और पेशेवर ज्ञान अनिवार्य है। विषयवस्तु के गहन ज्ञान होने पर ही एक शिक्षक विभिन्न स्तर के छात्रों को उपयुक्त प्रकार से यह ज्ञान प्रस्तुत कर सकता है। साथ ही, विषयवस्तु का ज्ञान शिक्षक को आत्मविश्वास देता है। यह आत्मविश्वास एक ऐसे शिक्षक का विकास करता है जो छात्रों को स्वयं सीखने की आज़ादी दे सकता हो। उनके प्रश्नों के उत्तर दे सकता हो और इन प्रश्नों के आधार पर, पूर्वनिर्धारित योजना से अलग हट सकता है। यह तभी संभव है जब सेवापूर्व शिक्षक शिक्षा के दौरान, विद्यार्थी शिक्षकों को असल कक्षाओं में कार्य करने के अवसर दिये जाएँ जिन पर उन्हें चिन्तन करने के लिए प्रोत्साहन के साथ सकारात्मक फीडबैक दिया जाए। साथ ही, अनुभवी शिक्षकों और अपने सहपाठियों की कक्षाओं का अवलोकन कर उनके द्वारा किए जा रहे कार्य को समझने व उसका विश्लेषण करने के लिए चर्चा के अवसर उपलब्ध कराये जाएँ।

शिक्षणशास्त्र और शिक्षापद्धति एवं विषयवस्तु की मिली-जुली समझ भी शिक्षण-अधिगम की प्रक्रिया के लिए अनिवार्य है। शिक्षक को न केवल ज्ञान की समझ की ज़रूरत है परन्तु उसे इस ज्ञान का मन्थन अपने अनुभव के साथ करके, एक निजी रूपरेखा को तैयार करना है जो उसके निर्णय और काम को दिशा दे। यह

केवल एक सुनियोजित एवं लम्बी अवधि के शिक्षक शिक्षा कार्यक्रम से मुमकिन है।

एक पेशेवर शिक्षक के लिए व्यवस्थित सुगठित ज्ञान भण्डार की आवश्यकता न केवल शिक्षण-अधिगम की प्रक्रिया है बल्कि अपनी स्वायत्तता बनाने के लिए भी ज़रुरी है। एक पेशेवर शिक्षक की विशेषताओं में स्वायत्तता और ज़वाबदेही भी शामिल हैं। परन्तु, स्वायत्तता और ज़वाबदेही, समझ और अनुभव का परिणाम हैं। अगर एक शिक्षक को अपने कार्यक्षेत्र के हर पहलू– चाहे वह शिक्षण–अधिगम और आकलन सम्बन्धित हो या दूसरी शैक्षिक प्रक्रियाओं से जुड़ा हो, या उसके स्वयं के विकास से जुड़ा हो– की गहरी समझ हो, तो वह निर्णय खुद ले सकता है। अगर शिक्षा के व्यापक लक्ष्यों की समझ हो, तो अपने द्वारा लिए गए हर निर्णय के परिणाम के बारे में चिन्तन करके शिक्षक खुद ही ज़िम्मेदारी ले सकता है– उसे किसी की निगरानी की ज़रूरत नहीं होगी।

एक शिक्षक को शिक्षा और उसकी व्यवस्था के विभिन्न दृष्टिकोणों की समझ भी होनी चाहिए। शिक्षा नीति और क्रियान्वयन की समझ होने पर शिक्षक अपने रोज़ के कार्यों में खास मतलब पा सकता है। जो कार्य उन्हें कठिन या अनुचित लगते हैं, उनके पीछे क्या सोच है यह समझना भी शिक्षक के लिए आवश्यक है। समाज और शिक्षा के अन्तर्सम्बन्ध, शिक्षा व्यवस्था के विभिन्न भागों में अन्तर्सम्बन्ध एवं इन सब का शिक्षा के इतिहास के साथ जुड़ाव– यह सब समझना एक शिक्षक के लिए अनिवार्य है। तभी वह अपने रोज़ के छोटे–छोटे और उद्वेलित करने वाले किस्सों से उठकर अपना कार्य कर सकता है।

पेशे की विशेषताओं में साझी व्यावसायिक नैतिकता भी शामिल है; वे मूल्य और नियम जिन को आत्मसात कर शिक्षक अपना कार्य करते हैं। चाहे वह बच्चों से प्यार या समुदाय और उसकी भिन्नताओं के प्रति आदर हो, या अपने विकास के प्रति प्रतिबद्धता हो। व्यवसाइयों की एक बिरादरी सी बन जाती है जिसमें नैतिक व्यवहार के लिखित या अलिखित नियम से बन जाते हैं। इस बिरादरी का हर एक सदस्य प्रवीणता की ओर अग्रसर होता है।

आशा है कि पूर्वगामी चर्चा से यह स्पष्ट हो गया होगा कि शिक्षक के पेशेवर विकास की उपयुक्त प्रक्रियाओं से शिक्षक की पेशेवर क्षमताओं का विकास किया जा सकता है। एक प्रश्न जो शिक्षकों के सन्दर्भ में अक्सर पूछा जाता है– क्या शिक्षक पैदा होते हैं या उन्हें बनाया जा सकता है? इसका उत्तर स्पष्ट है- उपयुक्त प्रक्रियाओं और प्रासंगिक अनुभवों के माध्यम से छात्र-अध्यापकों को एक ज़िम्मेदार व्यावसायी बनाया जा सकता है।

उपसंहार

पूर्वगामी चर्चा के आधार पर एक पेशेवर शिक्षक के जो गुण उभर कर आते हैं, वे शिक्षक के सशक्तिकरण से सीधा सम्बन्ध रखते हैं– सैद्धान्तिक ज्ञान, विषयवस्तु का ज्ञान और शिक्षणशास्त्र को लेकर कार्य करने के लिए एक व्यवस्थित रूपरेखा। व्यावसायिक ज्ञान में शिक्षक के उत्तरदायित्व, शिक्षा व्यवस्था की समझ, कार्य–क्षेत्र की समझ और शिक्षा और समुदाय के अन्तर्सम्बन्ध की समझ शामिल हैं। इन सब की प्राप्ति के लिए जहाँ एक ओर एक लम्बी अवधि की औपचारिक और गहन शिक्षा की ज़रुरत है वहीं अनुभव की अहमियत, चिन्तन, स्वायत्तता एवं ज़वाबदेही भी ज़रुरी है।

देखा जाए तो, शिक्षक को एक पेशेवर की तरह तैयार करना स्कूल में उनकी रोज की दिनचर्या के लिए अहम है। अपने कार्य करने की योग्यता और नई स्थितियों में शिक्षा की प्रक्रियाओं को पूरा करने के लिए, शिक्षक को एक पेशेवर व्यक्ति के समान गुणों का प्रदर्शन करना होगा। परन्तु शिक्षक एक पेशेवर नहीं बन पाया– एक लम्बे समय की शिक्षा की जगह, ज़्यादातर शिक्षक दो साल का 'प्रशिक्षण' पाते हैं। शिक्षक–शिक्षा नीति एक पेशेवर शिक्षक की बात

करती है परन्तु शिक्षक को नीति की नज़र से देखा नहीं जाता। शिक्षक की सेवा-शर्तों को देखा जाए या उनका समाज में स्थान देखा जाए– दोनों ही उसे पेशेवर के रूप में प्रस्तुत नहीं करते। शिक्षक से अपेक्षा है कि वह समालोचक एवं विवेकशील व्यक्तियों का विकास करे, पर यह कार्य करने की न तो उनकी तैयारी है, न उनके पास ऐसी पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तकें हैं जिन के सहयोग से इसे बेहतर तरीके से किया जा सकता है। जिस प्रकार का प्रशिक्षण उन्हें मिला है और जिस हद तक उन्हें अपने निर्णय करने की स्वायत्तता है, चाहते हुए भी शिक्षक खुद को कर्मकाण्डी प्रक्रियाओं से अलग नहीं कर पाते।

शायद यही कारण है कि जब भी शिक्षकों के साथ कार्यशालाओं में 'पेशेवर शिक्षक' की बात होती है, वह उसे वास्तविकता से बहुत अलग पाते हैं। कई दशकों से शिक्षकों ने अपने आप को इतना लाचार पाया है कि उनकी पेशेवर पहचान गुरु और राष्ट्र-निर्माता से हट कर केवल एक कर्मचारी की बन गई है। वे एक पेशेवर के विवरण को अपने से बहुत दूर पाते हैं। कोशिश रहती है कि अगर पेशा शब्द पर सहमति नहीं बने तो कम से कम उस पेशे के मानकों पर तो सहमति हो। यह मानक एक ऐसी शिक्षक शिक्षा का मार्गदर्शन करते हैं जिसमें हमारी कक्षाओं में बदलाव लाने की क्षमता है।

राष्ट्रीय शिक्षक शिक्षा पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2009 में शिक्षण के पेशे की तैयारी का विवरण कुछ ऐसे किया गया है– 'शिक्षण एक पेशा है और शिक्षक शिक्षा, शिक्षकों के पेशेवर विकास की प्रक्रिया है। एक व्यक्ति को व्यावसाय के लिए तैयार करना एक कठिन कार्य है जिसमें कई मोर्चों और दृष्टिकोण से कार्यवाही की आवश्यकता है।' (अनूदित पृष्ठ, 15) आशा है कि हमारी शिक्षक शिक्षा में बदलाव जल्द आएगा, और हमारे शिक्षक मानवीय और पेशेवर गुणों से सम्पन्न होंगे।

सन्दर्भ

कृष्ण कुमार (2008), *'निरीह तानाशाह : भारत का अध्यापक'*। दीवार का इस्तेमाल और अन्य लेख। एकलव्य, भोपाल।

Calderhead, J. (1991), 'Teaching as a Professional Activity', A Pollard & J Bourne (Eds) *Teaching and Learning in the Primary School.* London: Routledge : 80 – 83

Campbell, E. (1996), 'The Moral Core of Professionalism as a Teachable Ideal and a Matter of Character', Book Review. *The Moral Base for Teacher Professionalism* by Hugh Sockett. *Curriculum Inquiry*, Vol. 26, No.1 : 71-80

Darling-Hammond, L. (2005), 'Teaching as a Profession: Lessons in Teacher Preparation and Professional Development', *The Phi Delta Kappan*, Vol. 87, No. 3 : 237-240

Hoyle, E. (1982), 'The Professionalization of Teachers: A Paradox', *British Journal of Educational Studies*, Vol. 30, No. 2 : 161-171

Labaree, D.F. (2000), 'On the Nature of Teaching and Teacher Education. Difficult Practices that Look Easy', *Journal of Teacher Education*, Vol. 51, Issue 3 : 228-233

Squires, G. (2003), Chapter 2. The Paradigm Problem. *Teaching as a Professional Discipline*. Abingdon-on-Thames: Routledge.

निमरत खंदपुर पिछले तीन दशक से शिक्षक शिक्षा एवं अध्यापन के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ कॉनटीनुइंग एजुकेशन ऐंड यूनिवर्सिटी रिसोर्स सेंटर में कार्यरत हैं।
सम्पर्कः nimrat.kaur@azimpremjifoundation.org

बोर्ड परीक्षा : एक दमनकारी एवं प्रतिगामी कदम

मुरारी झा

देश के नीतिगत दस्तावेजों में सम्पूर्ण परीक्षा पद्धति पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया जाता रहा है। यह हमेशा से आलोचना का विषय रही है। 'शिक्षा बिना बोझ के' में वर्णित है कि दसवीं और बारहवीं के अन्त में होने वाली बोर्ड परीक्षा की इस दृष्टि से समीक्षा की जानी चाहिए कि अभी के पाठ आधारित और प्रश्नोत्तरी प्रकार की परीक्षा की विधि को बदल दिया जाए क्योंकि इससे न केवल तनाव का स्तर बहुत बढ़ जाता है बल्कि रूढ़िबद्ध अध्ययन को भी बढ़ावा मिलता है। फिर भी पिछले दिनों सीबीएसई द्वारा बोर्ड परीक्षा को दसवीं कक्षा में अनिवार्य कर दिया गया है। यह आलेख शिक्षा में कथित सुधार के इस प्रतिगामी कदम का शिक्षक के अनुभवों से उपजा आलोचनात्मक नजरिया प्रस्तुत करता है यह दर्शाता है कि कैसे यह निर्णय शिक्षा की प्रगतिशील पहलकदमियों को हतोत्साहित करने का जरिया बन रहा है। यह भविष्य में संस्थागत परिवर्तनों को भी प्रभावित करेगा। सं.

यह लेख हाल ही में सीबीएसई द्वारा दसवीं कक्षा में एक बार फिर से बोर्ड परीक्षा को अनिवार्य कर दिए जाने के सम्बन्ध में है। लेख में एक शिक्षक के नज़रिए से चीज़ों को देखने की कोशिश की गई है। लेख इस बात का विश्लेषण करता है कि यह पहल किस प्रकार प्रगतिशील शिक्षकों को हतोत्साहित करेगी और शिक्षा में होने वाले सुधारों के लिए एक प्रतिगामी कदम साबित होगी।

हाल ही में सीबीएसई की तरफ से जारी एक विज्ञप्ति के अनुसार आगामी शिक्षा सत्र से बोर्ड परीक्षा को 10वीं कक्षा में फिर से अनिवार्य कर दिया गया है। ऐसा कहा गया है कि शिक्षक तथा अभिभावक इस बात की माँग कर रहे थे एवं इसके हट जाने से विद्यार्थियों में शिक्षा के प्रति गम्भीरता कम हो गई थी। कुछ शिक्षकों के शब्दों में कहें तो 'बच्चों ने डरना बन्द कर दिया था'। अरे भाई! किस से डरना बन्द कर दिया था? परीक्षा से.... हाँ, लेकिन शिक्षकों का एक समूह ऐसा मान बैठा था कि बच्चों ने उनसे भी डरना बन्द कर दिया है। डण्डा तो पहले ही छिन गया था। सभी शिक्षक बोर्ड परीक्षा का स्वागत कर रहे हों ऐसी बात नहीं है। इसका विरोध करने वाले शिक्षक की हैसियत से मैं अपनी बात यहाँ लिख रहा हूँ।

बोर्ड परीक्षा का हट जाना या फिर से उसको बहाल करना, एक मामूली-सी घटना लग सकती है, परन्तु इससे कई सारे सवालों के साथ देखने की ज़रूरत है।

बोर्ड परीक्षा को लेकर सामाजिक मुश्किलें

बोर्ड के आने के साथ ही जो पहली प्रतिक्रिया शिक्षकों के एक समूह की थी कि अब बच्चे डरेंगे- मानो बच्चों को डराना शिक्षक और शिक्षा व्यवस्था के सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्यों में से एक हो! मुझे तो लगता है कि शिक्षा को हमेशा से ही डरावना बनाए रखने की परम्परा रही है। उदाहरण के तौर पर इसको कुछ ही वर्गों तक सीमित रखना, ऐसे शब्दों का इस्तेमाल करना जो जनसामान्य के बीच प्रचलन में नहीं हों, आदि।

एक ऐतिहासिक परम्परा रही है जिसमें शिक्षा का इस्तेमाल कुछ खास वर्गों को डराने के लिए किया जाता रहा है। आज भी बहुत आसानी से यह कह दिया जाता है कि ये झुग्गी-झोपड़ी के बच्चे नहीं पढ़ सकते हैं। इस ऐतिहासिक परम्परा को ध्यान में रखते हुए अगर देखें तो शिक्षकों की यह प्रतिक्रिया कि 'अब बच्चे डरेंगे' आपको असहज नहीं लगेगी। हमें इस बात पर भी गौर करना चाहिए कि आखिर इस डर की संस्कृति में शिक्षा लेने वाले बच्चे एक नागरिक के रूप में क्या करेंगे? स्कूल में शिक्षकों से डरेंगे, बाद में पुलिस से डरेंगे, दबंगों से डरेंगे, अपने बॉस से डरेंगे, नेताओं से डरेंगे; सिर्फ डरेंगे ही नहीं मौका मिलने पर डराएँगे भी। डरने वाले लोगों की गहरी लालसा होती है कि काश! वो भी कभी डराने वाले बनें। मेरे स्कूल में आठवीं कक्षा के एक छात्र ने किसी के बगीचे से एक अमरूद तोड़ लिया, पुलिस में शिकायत की गई, चोरी का इल्ज़ाम लगाया गया। शायद पुलिस के द्वारा कुछ मार-पिटाई भी की गई। अब जब मैं उससे पूछता हूँ कि आप क्या बनोगे तो वो कहता हैं कि पुलिस बनूँगा। मैं अपने सीमित अनुभव से यह कह सकता हूँ कि शोषितों में 'शोषक' बनने की अभिलाषा बहुत अधिक होती है। इस तरह हम डर की एक संस्कृति पैदा करते हैं। डर रचनात्मकता को बहुत प्रभावित करता है। याद करिए टैगोर के वो शब्द जिनमें वे एक ऐसे विश्व की कल्पना करते हैं जिसमें डर न हो। हम सब ने इस कल्पना को काफ़ी सराहा भी है, लेकिन हमें बोर्ड एग्जाम भी चाहिए।

नवीनतम प्रयोगों को हतोत्साहित करती बोर्ड परीक्षा

क्या होगा उन प्रयोगों का जो देश भर में कुछ शिक्षक अपनी कक्षा में करते रहे हैं। उन में से एक प्रयोग के बारे में यहाँ विस्तार से लिखूँगा और फिर पाठकों से यह सवाल होगा कि इस तरह के कामों के लिए इस व्यवस्था में कहाँ जगह है?

मुझे ऐसा लगता है कि स्कूल में जो सीखने-सिखाने की प्रक्रिया है वह वास्तविक जीवन में चल रही घटनाओं के सन्दर्भ में हो। हम बच्चों की ज़िन्दगी को, उनके विचारों को कक्षा में जगह दें तथा पाठ्यपुस्तक में लिखी हुई जानकारी उनके जीवन के अनुभवों से जोड़ी जाए। इस तरह के कार्य के लिए आपको एक तरह की स्वतन्त्रता चाहिए और ये स्वतन्त्रता आप कहाँ से लाएँगे जब आप बोर्ड परीक्षा के लिए पढ़ाएँगे।

किस तरह के काम की बात कर रहा हूँ मैं... चलिए, बच्चों की भाषा में ही देखते हैं इसे...

"आज मुझे लिखने के लिए कोई भी टॉपिक समझ में नहीं आ रहा है, मैंने बहुत सोचा लेकिन फिर भी कुछ समझ में नहीं आ रहा है। दिमाग में एक टॉपिक आया जो अभी भारत में चल रहा है– नोटबन्दी, पर कुछ देर तक सोचने के बाद मुझे ये टॉपिक अच्छा नहीं लगा, इसलिए मैंने इस टॉपिक पर नहीं लिखा। हमारे सर कहते हैं कि तुम जो भी टॉपिक लिखो, वो तुम्हारा अनुभव होना चाहिए, वो स्टोरी तुमसे जुड़ी होनी चाहिए... पर फिर भी मुझे कुछ भी समझ नहीं आ रहा था, क्योंकि एक पेज लिखने की चिन्ता नहीं थी, मेरा दिमाग कहीं ओर ही था। पता नहीं क्यों, आज मुझे कोई टॉपिक नहीं मिल रहा था इसलिए मैंने अपने न लिखने की वज़ह को ही अपना टॉपिक बना लिया।"

एक दूसरे बच्चे ने इसी तरह का एक लेख साझा किया–

"सर हमें रोज़ाना एक पेज़ लिखने के लिए कहते हैं, वे बोलते हैं कि कुछ भी कहीं से किसी के बारे में लिखो और वो लिखो जो तुम्हारा अनुभव हो... जो तुम महसूस करते हो। आप तो बड़ी आसानी से कह देते हैं पर जब मैं लिखने बैठती हूँ तो बहुत 'कन्फ्यूज्ड' हो जाती हूँ कि किसके बारे में लिखूँ... क्या लिखूँ... कैसे लिखूँ... कैसे शुरू करूँ और कैसे अन्त करूँ? थोड़ी देर बाद एक टॉपिक को लेकर उसके बारे में सोचती हूँ... उसकी शुरुआत करती हूँ, फिर धीरे-धीरे उसके बारे में लिखते-लिखते पेज़ पूरा

हो जाता है। फिर ये समझ नहीं आता कि ख़त्म कहाँ करूँ, कभी-कभी तो लिखते-लिखते शब्द खत्म ही नहीं होते। बहुत आसान होता है अपने शब्दों में लिखना। लेकिन कोई टॉपिक होना चाहिए जिसके बारे में हम जानते हों और उसे महसूस किया हो, तभी हम आसानी से लिख सकते हैं।"

मैं कुछ और इसमें जोड़ना चाहता हूँ। ये तो था कि बच्चे किस तरह इस पूरे काम को देख पाए समझ पाए। एक शिक्षक के रूप में जो बात मुझे बहुत परेशान करती है, वह है स्कूल के अन्दर की बनावटी दुनिया। हम कुछ ऐसा करते हुए दिखना चाहते हैं जो हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से बहुत अलग होता है, किसी विषय को इसलिए पढ़ रहे होते हैं क्योंकि वह पाठ्यक्रम का हिस्सा है तथा परीक्षा में उस पाठ्यक्रम से जुड़े सवाल पूछे जाएँगे। हालात इस कदर बनावटी रूप ले चुके हैं कि आप बच्चों से पूछें कि जल की हमारे जीवन में क्या उपयोगिता है? तो बच्चों का जवाब होता है– "सर, कल याद करके बता दूँगा।" मेरी यह एक ज़िद रही है कि किसी तरह अपनी कक्षा में होने वाले काम को बनावटी होने से बचाऊँ तथा पाठ्यक्रम में निर्देशित विषयों को बच्चों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से जोड़ पाऊँ। मैं रोज़मर्रा की ज़िन्दगी को तो नियंत्रित नहीं कर सकता हूँ, लेकिन हाँ, पाठ्यक्रम को कुछ हद तक मैं समायोजित करने की कोशिश ज़रूर करता हूँ।

ये सब होता कैसे है ?

मेरे साथ कक्षा में सीखने वाले बच्चों को एक पेज़ हर दिन लिख के लाना होता है। टॉपिक मैं तय नहीं करता हूँ। मुझे लगता है कि 'किस मुद्दे पर लिखूँ' यह तय करने के लिए भी बच्चे विचारों की एक प्रक्रिया से गुज़रते हैं और यह प्रक्रिया शायद उनके टॉपिक से ज़्यादा महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त एक फ़ायदा यह भी होता है कि अगर 40 बच्चे कक्षा में हैं तो 40 अलग-अलग मुद्दों पर आपके पास लेख आ जाते हैं और इस बात की तुलना भी नहीं होती कि किसका अच्छा है और किसका बुरा। मैं सरसरी निगाहों से तय करता हूँ कि सभी बच्चों ने यह लिखा है या नहीं, फिर बच्चों के पास इस बात का विकल्प होता है कि चाहें तो मुझे अपना लेख पढ़ने की इजाज़त दें और चाहें तो नहीं दें। कुछ लेखों के साथ चर्चा शुरू होती है और वह पाठ्यक्रम के किसी हिस्से से जुड़ जाती है। कई बार बच्चे इस बारे में नहीं जानते हैं और बातों ही बातों में हम पाठ्यक्रम में निर्देशित किसी पाठ को पढ़ लेते हैं। बाद में मैं उन्हें बता देता हूँ कि हमने ये वाला पाठ पढ़ लिया है। उदाहरण के लिए 10वीं कक्षा में *लोकतांत्रिक राजनीति* नाम की पुस्तक में एक पाठ है "लिंग, जाति एवं धर्म", इस पाठ को हम ने बच्चों के ऐसे ही एक लेख के माध्यम से पढ़ा था। अब सवाल यह है कि मैं और मेरे जैसे हजारों शिक्षक जो अपनी कक्षा को परीक्षा-तंत्र के शिकंजे से निकालने का कुछ प्रयास करते हैं उनका क्या होगा? क्या होगा उन बच्चों का जो वो बातें भी सीखना चाहते हैं जो उनकी ज़िन्दगी से जुड़ी हैं और शायद जिसके लिए परीक्षा-तंत्र में कोई जगह नहीं है? आप अगर कभी स्कूल आएँ और 12वीं कक्षा के बगल से गुजरें तो इस बोर्ड परीक्षा की ताकत का अन्दाज़ा आप लगा सकते हैं। 40 के आस-पास बच्चे इस कदर खामोश रहते हैं मानो उन्होंने मौन धारण कर लिया हो..... स्कूल में हो रही अन्य घटनाओं से उनका कोई वास्ता नहीं होता है, यहाँ तक कि सुबह की प्रार्थना के समय भी उनको पढ़ाई करवाई जाती है। हर दिन एक घण्टे की अतिरिक्त पढ़ाई होती है। सर्दी और गर्मी की छुट्टी में भी इनको स्कूल बुलाया जाता है। और यही सब एक बार फिर से 10वीं के बच्चों के साथ होगा। इतनी ज़द्दोज़हद किस बात के लिए, भई बोर्ड परीक्षा जो होने वाली है!

बोर्ड परीक्षा को शिक्षा की गुणवत्ता में वृद्धि के रूप में देखने की भूल

दलील दी जाती है कि बोर्ड परीक्षा से शिक्षा की 'गुणवत्ता' में सुधार आएगा। लेकिन इस

गुणवत्ता का होगा क्या? उच्च शिक्षा में तो अभी भी कुछ ही लोगों के लिए सुविधाएँ हैं, आपने उच्च शिक्षा में प्रवेश के लिए अलग से प्रवेश परीक्षा रखी ही हुई है, नौकरी में जाने के लिए अलग से परीक्षा तथा साक्षात्कार का प्रावधान है ही..... तो फिर आपको सिर्फ़ इस बात से परेशानी है कि कुछ ज़्यादा बच्चों को सर्टिफिकेट क्यों मिल जाता है? सर्टिफिकेट आधुनिक बाज़ार आधारित अर्थव्यवस्था में रोजगार पाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। फिर चाहे वह अकुशल रोज़गार ही क्यों न हो, सर्टिफिकेट अनिवार्य हो गया है, हजारों की संख्या में जो लोग ड्राइवर का, गार्ड का, इत्यादि काम ढूँढ़ने के लिए बाज़ार में जाते हैं और जिनके पास सर्टिफिकेट नहीं होता है तो उन्हें नौकरी पर नहीं रखा जाता है। ये लोग 'गुणवत्ता' पूर्ण शिक्षा के शिकार हो जाते हैं।

आँकड़े क्या बताते हैं ?

वर्ष	10वीं कक्षा उत्तीर्ण %	12वीं कक्षा उत्तीर्ण %
2009	88.83	81.00
2010	89.28	79.87
2011	96.61	80.88
2012	98.19	80.19
2013	98.76	82.10
2014	98.87	82.66
2015	97.32	82

स्रोत : सीबीएसई वार्षिक रिपोर्ट, 2015-2016

ये आँकड़े बहुत दिलचस्प हैं। 2009 तथा 2010 में 10वीं बोर्ड परीक्षा में करीब-करीब 89 प्रतिशत छात्र उत्तीर्ण हुए। 2012 में जब ये छात्र 12वीं की परीक्षा में बैठे, उस वर्ष उत्तीर्णता का प्रतिशत 80 रहा। 2011 में जब पहली बार 10वीं में बोर्ड परीक्षा को वैकल्पिक बना दिया गया, उस वर्ष करीब-करीब 97 प्रतिशत छात्र उत्तीर्ण हुए। यही बच्चे जब 2013 में 12वीं की परीक्षा में बैठे तो करीब-करीब 82 प्रतिशत छात्र उत्तीर्ण हुए। यही ट्रेण्ड 2014 एवं 2015 के 12वीं बोर्ड परीक्षा के परिणाम में भी देखने को मिलता है। वहीं दूसरी ओर वैकल्पिक बोर्ड परीक्षा की व्यवस्था के बाद 10वीं परीक्षा पास करने वाले छात्रों के प्रतिशत में इज़ाफा हुआ, और 2014 में यह बढ़कर 98.87 तक पहुँच गया, तथा अगले वर्ष 2015 में मामूली गिरावट के साथ 97.32 पर आ गया।

मोटे तौर पर देखें तो वैकल्पिक बोर्ड परीक्षा के आयोजन के बाद से करीब-करीब 10 प्रतिशत ज़्यादा छात्र 10वीं पास होने लगे। साथ ही यह आँकड़े दिखाते हैं कि 12वीं के बोर्ड के रिजल्ट पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आँकड़ों का व्यापक अध्ययन यह भी दिखाता है कि 2013 से 2015 के बीच अच्छे ग्रेड से पास होने वाले बच्चों की संख्या भी बढ़ी है। ये आँकड़े तो यह दिखाते ही हैं कि गुणवत्ता पर कोई असर नहीं पड़ा। यह सिर्फ एक अफ़वाह थी कि गुणवत्ता में भारी गिरावट आ गई है। फिर ऐसी भी क्या मुसीबत आ गई कि संसद में भी यह मुद्दा उठा और आनन-फ़ानन में बोर्ड परीक्षा को फिर से बहाल करने का फैसला ले लिया गया।

मुझे ऐसा लगता है कि सबसे बड़ी वज़ह है 10 प्रतिशत ज़्यादा बच्चों द्वारा 10वीं की परीक्षा पास कर जाना। समाज में कुछ ऐसे वर्ग हैं जिनको ये बात बिलकुल पसन्द नहीं आई। वे अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाए रखना चाहते हैं। स्कूल में आयोजित होने वाली परीक्षा में जब बच्चे बड़ी संख्या में पास होने लगे तो इनकी विशिष्टता खत्म होने लगी। फिर कुछ लोगों ने शोर मचाना शुरू किया कि शिक्षा की गुणवत्ता घट गई है। इनके पास आवाज़ है और अपनी आवाज़ को दूर तक पहुँचाने की व्यवस्था भी है। वह वर्ग उत्साह से भरा था जिनके घर में पहली बार किसी ने मैट्रिक पास किया, लेकिन यह उत्साह ज़्यादा दिन टिक नहीं सका। हाल ही में एक बच्चे की माँ ने मुझ से ये शब्द कहे, "मैं दूसरों के घरों में काम करने जाती हूँ, झाड़ू और पोंछा लगाते-

लगाते कमर में दर्द रहने लगा है, उम्र भी थोड़ी ज़्यादा हो गई है, कई बार खाना बनाते समय हाथ जल जाता है, लेकिन मैं चाहती हूँ कि मेरी बेटियों को ये सब नहीं करना पड़े। किसी तरह 'एक कागज' यहाँ से मिल जाए।" कागज़ से उनका मतलब सर्टिफिकेट से है। मुझे ऐसा लग रहा था कि ये 'कागज़' उनके जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। और हो भी क्यों न –कहीं जब रोज़गार ढूँढ़ने जाएँ तो सबसे पहले कागज़ दिखाने के लिए ही तो कहा जाता है।

अब ज़रा सोचिए, 10वीं में 98 प्रतिशत छात्र पास हुए, 12वीं में 82 प्रतिशत- यानी कि करीब-करीब 16 प्रतिशत छात्र स्कूली व्यवस्था से बाहर हो गए, लेकिन उनके पास एक कागज़ तो है जिसके दम पर वे 'मैट्रिक फेल' कहलाने से बच सकेंगे। जब चाहें अपनी पढ़ाई को आगे बढ़ा सकेंगे, कुछ रोजगार प्राप्त कर सकेंगे। यह उस स्थिति से तो ज़रूर बेहतर है जब ये छात्र दसवीं पास नहीं होने के कारण ही स्कूली व्यवस्था से बाहर हो जाते थे।

10वीं में वैकल्पिक बोर्ड परीक्षा के दौरान स्कूल में बच्चों के व्यक्तिगत गुणों को देखा गया। सीसीई के अन्तर्गत इस बात की व्यवस्था थी कि बच्चों के विशिष्ट गुणों के आधार पर भी उनका मूल्यांकन किया जाए। कई बच्चे जो संगीत, खेल-कूद एवं कला के विभिन्न आयामों में बेहतर प्रदर्शन कर रहे थे, बोर्ड परीक्षा पास करने में सफल हुए। अब इस तरह के गुणों के लिए कोई जगह नहीं होगी।

एक प्रतिगामी कदम

मुझे ऐसा लगता है कि 10वीं में एक बार फिर से बोर्ड परीक्षा को लाना, स्कूली शिक्षा में हो रहे संस्थागत सुधार के लिए एक गहरा झटका है। जब एक तरफ़ सभी संस्थाओं में सुधार की बात चल रही हो, उसी दौर में शिक्षा में होने वाले सुधार को रोक देना भविष्य के लिए बहुत ही खतरनाक है। साथ ही यह कई मायनों में शिक्षक, छात्र एवं स्कूल की स्वतंत्रता छीनने वाला कदम भी है। बोर्ड परीक्षाओं के ऐसे दौर में हम स्कूल की कल्पना एक स्वतंत्र शिक्षा के केन्द्र के रूप में कैसे कर सकते हैं।

हमारी बहुत सारी मान्यताएँ हमारी धारणाओं पर आधारित होती हैं और उनमें से एक धारणा यह है कि अच्छी शिक्षा के लिए डर का होना जरूरी है, जो कि गलत है। बच्चों को डराए बिना पढ़ाने वाले शिक्षकों के लिए, नवीनतम प्रयोग करने वाले शिक्षकों के लिए बोर्ड परीक्षा स्वागत योग्य कदम नहीं है। बोर्ड परीक्षा से सम्बन्धित आँकड़े बताते हैं कि बोर्ड परीक्षा के हट जाने के बाद शिक्षा की गुणवत्ता में कोई बड़ी गिरावट नहीं आई थी बल्कि दबे-कुचले समूहों को रोज़गार पाने के लिए एक सर्टिफिकेट का समर्थन मिल गया था। बोर्ड परीक्षा को फिर से बहाल करना शिक्षा में हो रहे संस्थागत परिवर्तन को बुरी तरह प्रभावित करेगा, यह एक प्रतिगामी कदम साबित होगा।

मुरारी झा पिछले एक दशक से शिक्षा के मसलों पर अध्ययन एवं लेखन के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में दिल्ली के शासकीय विद्यालय में बतौर सामाजिक विज्ञान शिक्षक कार्यरत हैं। सम्पर्कः murarijha1984@gmail.com

शुरुआती पाठकों के लिए बाल साहित्य कुछ सवाल

चन्दन यादव

स्कूल में आकर विद्यार्थी पढ़ना-लिखना सीखते हैं। यह प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए कि उन्हें पढ़ने का चस्का लग सके और वे एक सक्षम पाठक बन सकें। यह ज़रूरी है कि विद्यार्थी जब स्कूल से निकलें तब सक्षम और स्वतंत्र पाठक बनकर निकलें। सीखने में आत्मनिर्भरता हासिल करने और सीखने की जीवनपर्यन्त प्रकिया में शामिल होने की यह एक महत्त्वपूर्ण पूर्व शर्त है। लेकिन क्या स्कूल बच्चों को सक्षम पाठक बना पा रहे हैं? पढ़ना-लिखना सिखाने की प्रक्रिया में कुछ तो ऐसा है कि बच्चे अक्षर ज्ञान और मात्रा ज्ञान के बाद किसी तरह जोड़-जोड़ कर पढ़ना सीख भी लेते हैं तब भी किताबों से उन की दोस्ती नहीं हो पाती है। चन्दन यादव प्राथमिक कक्षाओं में प्रयुक्त होने वाली पठन-सामग्रियों के विश्लेषण के जरिए इन्हीं सवालों की पड़ताल कर रहे हैं। सं.

बाल साहित्य की बच्चों तक पहुँच से जुड़े दो प्रमुख मामले हैं। पहला "इस की बच्चों तक पहुँच पढ़ना सीखने के बाद होनी चाहिए या इस के दौरान?" और दूसरा "बाल साहित्य किसे कहें?" हम एक-एक करके दोनों पहलुओं पर बात करेंगे। पहला मामला "पढ़ने की समझ" से जुड़ा हुआ है और दूसरा "बच्चों और साहित्य की समझ" से।

हम अपनी बात पहले मसले से शुरू करेंगे।

बच्चों की शिक्षा से जुड़े व्यक्ति, शिक्षक और अभिभावक यह मानते हैं कि बच्चों को पढ़ना सीखने के बाद किताबें दी जानी चाहिए। एक राज्य के दसियों स्कूलों के अवलोकन में मैंने पाया कि वहाँ बच्चों के लिए पुस्तकालय की किताबें उपलब्ध हैं। पर पहली और दूसरी कक्षा के बच्चों को किताबें नहीं दी जाती हैं।

इस के पीछे पढ़ने की पारम्परिक समझ है। माना जाता है कि जब बच्चे सभी वर्णों और मात्राओं को पहचानना, बोलना और जोड़कर उच्चारण करना सीख जाएँ तो हम कह सकते हैं कि वे पढ़ना सीख गए हैं। इस समझ से संचालित लोग पहले वर्ण सिखाते हैं, फिर मात्राएँ, इस के बाद शब्द। वाक्य पठन का नम्बर अन्त में आता है। इस तरीके में यह स्वाभाविक है कि बच्चों को पढ़ना सीखने के बाद ही किताबें दी जाएँ।

पढ़ने की नई समझ के अनुसार यह माना जाता है कि चित्रों को देखकर समझना, किताब के पन्ने पलटते हुए चित्र के आधार पर मन से कहानी बनाना (लोगोग्राफिक पठन) और कहानी-कविता सुनना भी शुरुआती पठन है। पढ़ने की इस समझ के अनुसार पढ़ने का मतलब छपी हुई सामग्री से अर्थ ग्रहण करना है। इस में कई अन्य कौशल शामिल हैं, जिस में पूर्व ज्ञान का उपयोग करना, सन्दर्भ और विषय को समझना, अनुमान लगाना, सम्बन्ध बैठाना आदि मुख्य हैं।

पढ़ने की पारम्परिक समझ छोटे बच्चों को किताबों से वंचित तो करती ही है इस से पढ़ना सिखाने के लिए उपयोग की जा रही विषयवस्तु भी नकारात्मक रूप से प्रभावित होती है। कोई भी रचना भले ही वह कितनी भी अच्छी हो,

अगर कुछ खास वर्ण सिखाने के लिए उपयुक्त न हो तो उसे पाठ्यपुस्तक का हिस्सा नहीं बनाया जा सकता। इसे हम पाठ्यपुस्तकों से लिए कुछ उदाहरणों में देख सकते हैं।

पाठ्यपुस्तकों की रचनाएँ

हमारे देश के बहुत से बच्चों को पढ़ने के लिए जो एकमात्र किताब मयस्सर है, वह भाषा की पाठ्यपुस्तक है। मैंने उत्तर प्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ़ जैसे हिन्दी भाषी राज्यों की हिन्दी की किताबें देखी हैं। इस के आधार पर मैं इतना कह सकता हूँ कि कई बाल पत्रिकाओं और अखबारों में बच्चों के लिए निर्धारित ज़गह पर दिखाई देने वाली रचनाओं की तुलना में पाठ्यपुस्तकों का रचना चयन बेहतर है। एनसीइआरटी की ***रिमझिम*** की प्रशंसा तो नाम लेकर भी की जा सकती है।

पाठ्यपुस्तकों में चयनित रचनाओं की दिक्कतें दूसरी तरह की हैं, जो पढ़ने की पारम्परिक समझ से जुड़ी हुई हैं। इस के अनुसार बच्चों को पहले वर्ण सिखाना पड़ता है। हालाँकि अब इस के लिए क ख ग घ वाला क्रम चलन में नहीं है। फिर भी इस के पहले कि बच्चों को स्वतन्त्र ढंग से पढ़ने के लिए किताबें दी जाएँ, सिखाने तो सारे वर्ण हैं। इस के चलते किताब बनाने वाली टीम का कोई भी बन्दा कैसी भी बेसिरपैर की तुकबन्दी जड़ देता है। शर्त बस इतनी है कि उस में सिखाए जा रहे 4-5 वर्ण आते हों।

जैसे– ऋ और त्र सिखाने के लिए–
वर्षा की ऋतु आई है
त्रण पर हरियाली छाई है
–हरियाणा की झिलमिल

ग और र सिखाने के लिए–
गमला फूलों वाला लाओ
अपना घर आँगन महकाओ
नल से पानी लेकर आओ
पौधों की तुम प्यास बुझाओ
मछली देखो आओ-आओ
रस्सी कूदो नाचो-गाओ।
–समेकित छत्तीसगढ़

इस स्थिति को एक बच्चे की निगाह से देखिए। कक्षा पहली में आए एक बच्चे के लिए यह एक ऐसा समय है, जबकि उस का लिखित सामग्री से परिचय हो रहा है। इस वक्त उसे महसूस होना चाहिए कि पढ़ना एक मज़ेदार काम है, ताकि उसे इस को सीखने की प्रेरणा मिले। और होता इस के ठीक विपरीत है।

बच्चो तुम भी अब उठ जाओ,
माता पिता को शीश नवाओ।

हज़ार तरीके से यही बात तो स्कूल के बाहर भी कही जा रही है। फिर उसे पढ़ना क्यों सीखना चाहिए!

पढ़ना सीखने की पारम्परिक समझ के यही नतीजे हो सकते हैं। इस जुगत में "बाल साहित्य" की जगह सिकुड़ती जाती है। इस के साथ कुछ और भी सिकुड़ता है, पढ़ने का आनन्द, पढ़ने की रुचि, नए अनुभवों से साक्षात्कार, भाषा की छटा, सोचने और अनुभव से जोड़ने की गुंजाइश वगैरह। इस में बच्चे की मुख्य भूमिका ऐसे विद्यार्थी की है, जिसे पढ़ना सीखना है। वो पाठक भी हो सकता है, ये बहुत दूर की बात है।

बाल साहित्य से जुड़ा दूसरा मसला यह है कि हम "बाल साहित्य" किसे कहें?

इसे और विस्तार से कहना हो तो हम कहेंगे कि क्या वह बच्चों के सरोकार और सवालों से दो चार होता है? क्या वह बच्चों के अनुभवों में कुछ नया जोड़ता है? क्या वह उन्हें फ़रक तरीके से कुछ सोचने के लिए प्रेरित करता है? क्या वह उन में ये अहसास जगा पता है कि पढ़ना एक आनन्ददायक काम है?

अच्छा होगा कि हम एक कहानी, जो मुझे किताब रूप में मिली, से बात शुरू करें–

एक तोता था। उस का नाम मिट्ठू था। वह अपनी पत्नी के साथ एक पेड़ पर रहता था। उस के पेड़ के पास ही एक रानी का महल था। महल के बगीचे में ढेर सारे अमरूद लगे थे। जब भी मिट्ठू को भूख लगती, वह महल के बगीचे से अमरूद तोड़ने चला जाता था। मिट्ठू अमरूद

खाता कम, फेंकता व खराब ज़्यादा करता था। यह देखकर रानी बहुत दुखी थी। उस ने सोचा तोते को अमरूद खराब करने से कैसे रोका जाए। एक दिन जब मिट्ठू अमरूद तोड़ने गया तो रानी ने उस को पकड़ लिया। मिट्ठू ने काफी चिरौरी की कि रानी उसे छोड़ दे। रानी ने मिट्ठू से कहा, "मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगी, अपने पास ही रखूँगी और अच्छे-अच्छे अमरूद खाने को दूँगी।" मिट्ठू बहुत खुश हो गया लेकिन थोड़ी ही देर में उसे अपनी पत्नी की याद आने लगी। उस ने रानी से कहा, "मेरी पत्नी मेरा इन्तज़ार कर रही है, वह भूखी होगी।" रानी को दया आ गई। उस ने बहुत सारे अमरूद और फल तोड़कर मिट्ठू को दिए और बोली– यह अपनी पत्नी को दे देना और दोनों मिलकर खा लेना। मिट्ठू ने घर जाकर सारा किस्सा अपनी पत्नी को बताया। पत्नी ने भी मिट्ठू को समझाया कि आज से कभी भी फल खराब नहीं करना।

आप अगर बच्चों के लिए लिखे गए अच्छे साहित्य से दो चार हुए हैं तो आपने "बीमारी" पकड़ ली होगी।

यह कहानी तोतों का उबाऊ मानवीकरण है। हालाँकि इंसान जब रचेंगे तो कुछ न कुछ मानवीकरण तो होगा। इस में तोता कमाऊ पति है, तोती पति पर आश्रित गृहिणी है। दोनों एक ऐसे समाज में रहते हैं, जैसे में हम भी रहते हैं। तोता बच्चों की तरह खाना फैलाता है। खाना फैलाना बुरी बात है, इस को वे तय करते हैं जो ताकत में तोते से बड़े हैं। 'रानी' जैसे हम बड़े तय करते हैं कि बच्चों के लिए क्या अच्छा क्या बुरा है। कहानी तोते की इस स्वीकारोक्ति के साथ खत्म होती है कि खाते हुए खाना फैलाना अच्छी बात नहीं है।

कहानी की रानी, बच्चों के अभिभावक, या स्कूल के शिक्षक कोई भी हो सकता है! और बुरी बात की एक लम्बी सूची बनाई जा सकती है–

प्रतिदिन स्नान न करना बुरी बात है।

रोज मंजन न करना बुरी बात है।

कक्षा में आपस में बात करना बुरी बात है।

रोज स्कूल न जाना बुरी बात है।

सुबह उठते ही माता-पिता को प्रणाम न करना बुरी बात है।

बुरे बच्चों '?' की संगत करना बुरी बात है।

हम ने ऊपर जो 'राग बुरी बात' सुनाया वो तो बच्चे के कानों में अनवरत गूँजता ही रहता है। जहाँ उन को लिखित सामग्री से परिचित कराना है, उन में पढ़ने के प्रति ललक जगानी है, उन को नए अनुभव और भाषा की छटा का एक्सपोजर देना है, क्या वहाँ भी यही "राग" बजाते रहना चाहिए?

फ़र्ज़ करो कि इस में रानी की जगह किसान होता! तोते की ज़गह खरगोश, बन्दर या भालू होता! होता तो होता! तब भी ये कहानी राग बुरी बात के आग्रह से टस से मस न होती। खेद की बात है कि ख़ासकर शुरुआती पाठकों के लिए रचा जाने वाला बाल साहित्य इसी तरह की रचनाओं से भरा हुआ है।

एक प्रकार है, शहरी बच्चों को हीरो बनाने का। मैं कुछ काल्पनिक शीर्षक दे रहा हूँ, इस उम्मीद से कि आप ने इस से मिलते-जुलते शीर्षक देखे होंगे। "पिंकू की समझदारी", "दोस्त की मदद", "राजू ने चोर को सिखाया सबक" आदि। आप आधी कहानी और उस का पूरा सार तो इन के शीर्षक से ही बूझ सकते हैं।

एक दूसरा प्रकार है, शिक्षा देना। हालाँकि शिक्षा तो सब जगह है, जैसे "लालच का फल", "धीरज का फल", "ईर्ष्या बुरी बला", "चूहे को मिला सबक"।

एक तीसरा प्रकार है, मानवीय दुर्गुणों का जानवरों पर आरोपण। "चालाक लोमड़ी", "बड़बोला कौआ", "मूर्ख बन्दर", "दयालु हाथी" आदि।

आप ऐसे और प्रकार भी ढूँढ़ सकते हैं। मुझे इन के कुछ खास लक्षण भर गिनाने हैं।

एक– सारी कहानियाँ बच्चों को कोई न कोई शिक्षा देना चाहती हैं।

दो– अधिकांश कहानियों के पात्र बदल जाएँ,

जैसे कौए की जगह बगुला आ जाए, तब भी कहानी वही रहेगी।

तीन– सारी कहानियाँ अर्थ के स्तर पर इकहरी होंगी। पाठक के लिए अर्थ गढ़ने की जगह बहुत कम होगी।

चार– उन में बिरले ही कहन का कोई नया अन्दाज़ या दुनिया को देखने की कोई नई खिड़की मिलेगी।

मैं जब भी इस तरह की रचनाएँ देखता हूँ तब मुझे सब से अधिक अफसोस इस बात का होता है कि "हम बच्चों को, उन के सरोकारों, उन की कल्पनाओं और उन की सोचने-समझने की क्षमता को कितना कम जानते हैं।"

इस स्याह परिदृश्य में उम्मीद के कुछ जुगनू भी हैं। इस कड़ी में हम कई नाम ले सकते हैं। पीपुल्स पब्लिशिंग हॉउस, नेशनल बुक ट्रस्ट, चिल्ड्रन बुक ट्रस्ट, टाटा का पराग ट्रस्ट, एकलव्य, कथा, तूलिका आदि। रूम टू रीड और प्रथम हैं जिन के लिए किताबें प्रकाशित करने का मुख्य उद्देश्य पढ़ना सिखाना है, पर वे पाठ्यपुस्तकों से झलकती पढ़ने की संकुचित समझ से संचालित नहीं हैं। इसी कड़ी में एकलव्य की पत्रिका *चकमक* और इकतारा बालसाहित्य केन्द्र की पत्रिका *प्लूटो* का नाम भी लिया जा सकता है।

तो हमने राजतंत्र से लोकतंत्र में चली आई एक रानी और तोते की कहानी से बातचीत शुरू की थी। तोता जो कौआ, बगुला या कुत्ता होता तब भी कहानी वही रहती।

अच्छा होगा कि अब हम बिना किसी सैद्धान्तिक विमर्श के बच्चों के लिए लिखी कुछ रचनाओं को पढ़कर इस बात को महसूस करें कि छोटे बच्चों के लिए किस तरह का साहित्य होना चाहिए।

एक

शेर दहाड़ा जंगल में
तो तोते उड़ गए।
आँख घुमाकर तोते बोले,
किस के उड़ गए?

- प्रभात

दो

माँ ने कहा पानी बरबाद मत करो,
मैंने नल बन्द कर दिया।
माँ ने कहा समय बरबाद मत करो,
मैंने घड़ी बन्द कर दी।

- वृषाली जोशी

तीन

मछली जल की रानी है,
अब यह बात पुरानी है।

- सुशील शुक्ल

चार

कितनी भोली कितनी प्यारी
सब पशुओं में न्यारी गाय,
सारा दूध हमें दे देती,
आओ इसे पिला दें चाय।

- शेरजंग गर्ग

पाँच

देर से पहुँची मैं स्कूल
एकदम चिल एकदम कूल
सर ने मेरा बैग उतारा
और दिया चम्पा का फूल।

छह

धान लगाई है
अब की खेतों में हम ने
अपनी जान लगाई है।

- सुशील शुक्ल

ये सभी रचनाएँ कविताएँ हैं। कहानियों का ज़िक्र फिर कभी। इन को पढ़कर सोचिए कि क्या ये समझने की कोई नई खिड़की खोलती हैं? क्या ये चीज़ों को अलग अन्दाज़ से देखती हैं? क्या ये भाषा और कहन का कोई अछूता पन्ना खोलती हैं? क्या ये संवेदनाओं को विस्तार देती हैं? और इस सब के साथ एक और ज़रूरी बात कि पढ़ने का आनन्द देती हैं?

चन्दन यादव तीन दशकों से बतौर शिक्षा कार्यकर्ता सक्रिय हैं। वर्तमान में लैंग्वेज लर्निंग फाउंडेशन से जुड़कर कार्य कर रहे हैं।
सम्पर्क : chandansamwad@gmail.com

शिक्षक और शिक्षा दर्शन

अनानास कुमार

आज की स्कूली शिक्षा की परिस्थितियों में शिक्षक की कमजोर तैयारी एक अहम मसला है। इसे आम तौर पर शिक्षक-शिक्षा की अप्रासंगिकता एवं सन्दर्भहीनता से जोड़ कर देखा जाता है। इस पर बहुत चर्चा भी होती है। यह आलेख डॉ. के.एल. श्रीमाली, हर्बट स्पेंसर, आचार्य बिनोवा भावे के शिक्षा सम्बन्धी दार्शनिक विचारों की रोशनी में लिखा गया है। शिक्षक-शिक्षा के प्रमुख आधार क्या हैं? एक शिक्षक को शिक्षा दर्शन की समझ होना क्यों जरूरी है? यह समझ उन्हें अपने अध्यापन कार्य को बेहतर बनाने में किस तरह से मदद करती है? आलेख में ऐसे ही कुछ सवालों पर विचार किया गया हैं । सं.

शिक्षक बनने की प्रक्रिया में शामिल होने के दौरान पढ़ने-लिखने के क्रम में यह अनुभव हुआ कि वास्तव में शिक्षक-शिक्षा के तीन प्रमुख आधार होते हैं, यह हैं– दार्शनिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक। जिसमें दार्शनिक आधार सबसे पुराना और महत्वपूर्ण है। हालाँकि व्यावहारिक और कक्षा-कक्षीय (बी.एड,एम.एड. और डी.एल.एड आदि) बातचीत में शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार प्रमुखता से दिखाई देते हैं, किन्तु मेरी समझ में दार्शनिक आधार इसलिए ज़्यादा महत्वपूर्ण लगता है क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध शिक्षक की सोच और व्यवहार से होता है। जिसका गहरा प्रभाव शिक्षण कार्य व स्थल दोनों ही जगहों पर पड़ता है। अपने इस आलेख में मैंने अपने इसी अनुभव को समेटते हुए एक शिक्षक के लिए शिक्षा-दर्शन की आवश्यकता व उसके कारणों के बारे में लिखने की कोशिश की है। मेरी समझ है कि अपने सम्पूर्ण शैक्षणिक जीवन काल में कई ऐसे अवसर आते हैं जब एक शिक्षक को शिक्षा दर्शन के आधार की आवश्यकता पड़ती है।

शिक्षण के स्वरूप को पहचानने के लिए

शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करने अर्थात् शिक्षक बनने के बाद हर शिक्षक की यह कामना होती है कि वह अपने कार्य में सर्वोच्च सफलता प्राप्त करे। किन्तु शिक्षणशास्त्र के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रायः दोनों ही अनुभव यह बतलाते हैं कि कार्य में सफलता केवल कामना से नहीं बल्कि कार्य के स्वरूप पर भी निर्भर रहती है। अतः शिक्षक भी अपने कार्य में तभी सफल होता है जब वह शिक्षण के स्वरूप को ठीक से पहचाने। शिक्षण का स्वरूप शिक्षा दर्शन निश्चित करता है। अतः शिक्षक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह शिक्षा दर्शन से भी परिचय प्राप्त करे।

वर्तमान शिक्षा के परिवेश और नीतिगत सन्दर्भ में तो शिक्षक और शिक्षा दर्शन सैद्धान्तिक रूप से एक दूसरे के बिना आधे-अधूरे प्रतीत होते हैं, किन्तु ज्योंही हम इसे एक शिक्षक के विद्यालयी जीवन की दैनिक कसौटियों के चश्में से देखने की कोशिश करते हैं तो ये दोनों ही अलग-अलग दिखते हैं। हालाँकि इसकी कई वज़हें गिनाई जा

सकती हैं मसलन, शिक्षक बनने की तैयारी के दौरान शुरू से ही इस विषय पर गम्भीरता से ध्यान न दिया जाना, शिक्षा के कार्यस्थल पर विभिन्न चुनौतियों का सामना करने के दौरान इस पर से जाने अनजाने में ध्यान हट जाना, सेवाकाल के दौरान इसके बारे में लगातार बातचीत करने के मंच, मौके और रचनात्मक प्रक्रिया का अभाव और शिक्षक साथियों के बीच सतत एवं व्यापक रूप से नियमित बातचीत का के अवसरों की कमी आदि।

जीवन दर्शन को चुनने के लिए

पेशेवर जीवन में प्रत्येक शिक्षक सदैव ही किसी न किसी विषय का अध्यापन करता है और वह स्वयं उस विषय विशेष का व्याख्याता, प्रवक्ता, प्राध्यापक या अध्यापक आदि कहने में गर्व का अनुभव करता है। अगर हम शिक्षक के इस विचार की गहराई में जाएँ तो यह समझ में आता है कि दरअसल यह गर्व की अपेक्षा चिन्ता का विषय अधिक प्रतीत होता है। क्योंकि अध्यापक को तो जीवन का शिक्षक होना चाहिए न कि किसी विषय का। इस बात की पुष्टि सुप्रसिद्ध प्रकृतिवादी दार्शनिक हर्बट स्पेंसर के उस दार्शनिक विचार से भी होती है जिसमें वे कहते हैं– "शिक्षा का उद्‌देश्य पूर्ण जीवन की तैयारी है।" इसलिए अगर किसी विषय में उच्च कोटि का प्रकाण्ड पण्डित भी यदि उक्त विषय के सीखने वाले व्यक्ति के जीवन की समस्याओं से अपरिचित है तो वह विषय का सच्चा ज्ञाता कदापि नहीं कहा जा सकता है।

बालक के सर्वांगीण विकास के लिए

एक सच्चे शिक्षक का शिक्षकत्व इसी में है कि वह सीखने वाले बालक के यथासम्भव सम्पूर्ण जीवन रहस्यों से परिचित हो और उसके जीवन के सन्दर्भ में ही अपने विषय को सम्पूर्ण ज्ञान की एक शाखा के रूप में उसे पढ़ाए जो उसे आगे के जीवन को जीने में मददगार हो। तभी वह एक सफल शिक्षक हो सकता है अन्यथा नहीं। जीवन के रहस्यों व उसके सम्बन्धों का परिचय व उसे पढ़ाने के तरीके शिक्षा दर्शन के अध्ययन से प्राप्त होते हैं, जो शिक्षक को सच्चा दार्शनिक और उसके द्वारा दी गई शिक्षा को व्यावहारिक और दैनिक जीवन में काम आने वाली शिक्षा बना सकता है।

इसके अलावा बालक के इस सर्वांगीण विकास में कौन-कौन से तत्व आते हैं और व्यक्तित्व के किन-किन पक्षों के विकास पर विशेष बल दिया जाए, इसका निर्णय लेने में भी शिक्षा दर्शन विशेष मदद करता है।

शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम और शिक्षण विधियों के ज्ञान के लिए

कई कारणों से आज का शिक्षक अधिकांशतः अपने विभाग को कोसते हुए न केवल यंत्रवत कार्य करता रहता है अपितु कागज़ी कार्यों की अधिकता से तनावयुक्त होते हुए बच्चों के स्वर्णिम भविष्य के लिए प्रदान की जाने वाली कक्षा-कक्षीय प्रक्रिया को रोचकता बनाने की बजाए उसे बोझिल बना देता है। जिसके परिणामस्वरूप सीखने वाले बच्चे तो शिक्षा से विमुख होते ही हैं, शिक्षक को भी अपने कार्य की समस्याओं की न तो अनुभूति होती है और न ही उसके बारे में उसे विचार करने की प्रेरणा मिलती है। ऐसी अवस्था में शिक्षक के लिए शिक्षा दर्शन शिक्षण के स्वरूप को निश्चित करते हुए शिक्षा के सभी पहलुओं पर विचार करता है। शिक्षा का क्या उद्‌देश्य हो, इस उद्‌देश्य को प्राप्त करने के लिए क्या पाठ्यक्रम बनाया जाए, तथा उद्‌देश्य की प्राप्ति के लिए पढ़ाने की विधि क्या हो? इन सब बातों पर शिक्षा दर्शन में बात होती है।

सुयोग्य शिक्षक सदैव ही अपनी शिक्षण विधि में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करता रहता है क्योंकि वह इस बात का पक्षधर होता है कि कोई भी पद्धति प्रत्येक परिस्थिति में उपयुक्त नहीं हो सकती है। यदि ऐसा होता तो विभिन्न

शिक्षण विधियों का निर्माण न होता। शिक्षण विधियों में सतत बदलाव लाने की इच्छा रखने वाले शिक्षकों के लिए भी शिक्षा दर्शन बड़ा मददगार साबित होता है।

शिक्षण पद्धतियों में बदलाव के बारे में आचार्य विनोबा भावे लिखते हैं– "जब आपसे यह कहा जाता है कि 'हम फ्रोबेल, पेस्टालॉजी या मोंटेसरी की पद्धति से शिक्षा दे रहे हैं', तो आप ख़ुशी से समझ लें कि यह केवल वाणी का श्रम है, यह शब्द-शिक्षण है, यह किसी भी पद्धति की अर्थशून्य नक़ल है, यह प्रेत है, इसमें प्राण नहीं है। शिक्षण यानी बीजगणित का कोई फार्मूला (सूत्र) नहीं है कि उसे लगाते ही उत्तर तैयार! आज दी जाने वाली शिक्षा, शिक्षा ही नहीं है और न उसे देने की वर्तमान पद्धति ही वास्तविक पद्धति है। 'जो अन्दर है, वह सहज भाव से प्रकट होता है'– इस प्रकार जो प्रकट होता है, वही शिक्षण है।"

शिक्षा प्रणाली में आए सामयिक दोष निवारण के लिए

अपने कार्यक्षेत्र के दौरान औपचारिक व अनौपचारिक मंचों पर शिक्षकों के साथ होती रहने वाली बातचीत में ऐसा प्रतीत हुआ है कि आज भी बहुत सारे शिक्षक, शिक्षा की वास्तविक समस्याओं से अनभिज्ञ हैं, अर्थात वे यह सोचते और कहते हुए मिल जाते हैं कि 'जैसा चल रहा है, वैसा ही ठीक है। ऐसा कहने के दौरान शायद वे इस बात से अनजान हो रहे होते हैं कि जिस प्रकार प्रत्येक प्रक्रिया में गुण-दोष रहते हैं उसी प्रकार शिक्षा रूपी इस सहजीवी प्रक्रिया में भी समय के प्रवाह के साथ कुछ दोष आ जाते हैं। शिक्षा पर भी देश और काल का सामयिक प्रभाव पड़ता है और कभी सामाजिक या राजनीतिक कारणों से परम्परागत प्रणाली ही बहुत दिनों तक चलती रहती है। एक ही प्रणाली के लगातार चलते रहने के कारण इसमें अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। एक जागरूक शिक्षक या सजग नागरिक के रूप में शिक्षा के इन गुण दोषों से अवगत होते हुए इसके निराकरण के लिए उद्यम करते रहना भी अति आवश्यक है। इन गुण दोषों का विश्लेषण और इसके सुधार के उपाय सुझाना व उसके विभिन्न कारण-परिणामों को गहराई से समझने में भी शिक्षा दर्शन अपनी प्रमुख भूमिका निभाता है।

शिक्षा में सामयिक बदलाव के महत्त्व को समझने के लिए

शिक्षा में आए सामयिक दोष के सुधार की प्रक्रिया लगातार ही चलती रहती है और अपने देश के सन्दर्भ में तो 'शिक्षा सुधार' का नारा और भी जोरों से लगाया जाता रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् गठित राधाकृष्णन कमेटी से लेकर मुदालियर आयोग, कोठारी आयोग, प्रो. यशपाल समिति आदि की सिफारिशें आज भी क्रियान्वयन का इंतज़ार कर रही हैं। इन सभी के काम व उद्देश्य लगभग एक होने के बाद भी भारतीय शिक्षा व्यवस्था में अपेक्षाकृत कम ही सुधार हो पाया है। इन अल्प सुधारों के पीछे के कारणों का अगर हम ठीक से विश्लेषण करें तो पाते हैं कि इन सभी प्रयासों में शिक्षकों व उनके दृष्टिकोणों को बदलने की बात और प्रक्रिया को बातचीत के केन्द्र से काफी दूर ही रखा गया है, जो कि किसी भी दृष्टिकोण से उचित नहीं जान पड़ता है। यही कारण है कि शिक्षा सुधार की कोई भी योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि शिक्षक का दृष्टिकोण न बदले। शिक्षक, शिक्षा सुधार की धुरी है और इस धुरी का दृष्टिकोण शिक्षा दर्शन से बनता है। शिक्षा दर्शन का अध्ययन शिक्षक को शिक्षा में सुधार या फिर सामयिक बदलाव के महत्व को समझने में भी मदद करता है।

विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम समन्वयन सम्बन्धी ज्ञान के लिए

भारत जैसे देश में जहाँ अधिकांश शिक्षक आज भी घड़ी या फिर मनमौजी तरीके से कक्षा में जाकर केवल पढ़ना-पढ़ाना अपना कर्तव्य समझते हैं। ऐसे देश की शिक्षा के कार्य को

परिभाषित करते हुए डॉ. के.एल श्रीमाली कहते हैं—'भारत में शिक्षा का यह कार्य है कि देश की सांस्कृतिक परम्परा के मूलभूत तत्वों को खोजा जाए और यह देखा जाए कि वर्तमान परिस्थितियों में वे किस सीमा तक व्यवहृत हो सकते हैं।'

शिक्षण सदा स्वाभाविक रूप से होना चाहिए। अध्यापन काल के दौरान शिक्षक को सदैव ही ऐसा दृष्टिकोण बनाना चाहिए एवं अपना आचरण इस प्रकार का रखना चाहिए जिससे कि छात्र उनके संपर्क में आते ही शिक्षा ग्रहण कर ले। इन परिस्थितियों में शिक्षा दर्शन शिक्षक को सामान्यतः ज्ञान के विभिन्न विषयों में एवं विशेषतः शिक्षा की विभिन्न शाखाओं में समन्वय स्थापित करने में भी काफी हद तक मदद करता है। यदि इस समन्वय की ओर ध्यान न दिया जाए तो शिक्षक का कार्य प्रभावहीन होने लगता है। इसीलिए रस्क महोदय ने कहा है— "जो शिक्षक, शिक्षा दर्शन की उपेक्षा करते हैं, उन्हें अपने कार्य को प्रभावहीन बना डालने के रूप में इस उपेक्षा का दण्ड भुगतना पड़ता है।"

शिक्षा दर्शन शिक्षक को आचार्यवान बनने में सहायता प्रदान करता है और भाड़े के गुरु की अपेक्षा सच्चा गुरु बनने की प्रेरणा देता है। शिक्षा के क्षेत्र में आ रही दिन-प्रतिदिन की अनसुलझी समस्या इस बात के लिए भी आगाह करती है कि शिक्षक को शिक्षण की सफलता के लिए दार्शनिक बनाना ही पड़ेगा। डॉ. के.एल श्रीमाली की यह बात यहाँ बहुत ही सन्दर्भित लगती है, वे कहते हैं— "इस प्रकार शिक्षक का कोई शिक्षा दर्शन अवश्यमेव होना चाहिए, केवल यही नहीं, शिक्षक को छात्रों में जीवन दर्शन का विकास करने के लिए तैयार होकर इस व्यवसाय में प्रवेश करना चाहिए।"

अंततः मेरी समझ में एक सच्चा शिक्षक, सच्चा दार्शनिक भी होता है। वह लगातार शिक्षा दर्शन के विभिन्न दृष्टिकोणों का अध्ययन कर शिक्षा के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बच्चों की शिक्षा के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करने का प्रयास करता रहता है। हालाँकि एक शिक्षक को शिक्षा विज्ञान से भी बड़ी सहायता मिलती है और वह अनेक समस्याओं को शिक्षा विज्ञान की सहायता से सुलझा भी सकता है, किन्तु बिना शिक्षा दर्शन के सफल शिक्षक होने में संदेह ही है।

सन्दर्भ

आचार्य विनोबा भावे (1972), *शिक्षण-विचार*, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी

जेम्स एस. रॉस (1972), *शिक्षण सिद्धांत के मूल आधार*, रामनगर एस चन्द एंड कम्पनी, नई दिल्ली

आर. आर. रस्क (1956), *द फिलॉसफिकल बेसिक ऑफ एजुकेशन*, यूनिवर्सिटी ऑफ लन्दन प्रेस, लन्दन

आर. आर. रस्क (1972), *शिक्षा के दार्शनिक आधार*, हिंदी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

के.एल. श्रीमाली (1965), *एजुकेशन इन चेंजिंग इंडिया*, एशिया पब्लिशिंग हॉउस, दिल्ली

स्वाति जैनः *भारत में शैक्षिक शिक्षा का विकास*

सर्वपल्ली राधाकृष्णन (2007), *धर्म और समाज*, रीड बुक्स,

विभिन्न विश्वविद्यालय के बी.एड., एम.एड के पाठ्यक्रम

अनानास कुमार डेढ़ दशक से ग्रामीण शिक्षा के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के शोध संकाय से जुड़कर कार्य कर रहे हैं।
सम्पर्क : ananas.kumar@azimpremjifoundation.org

गुणवत्ता के सौदागर

कुलदीप गर्ग

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में गुणवत्ता हर क्षेत्र का एक मुख्य मुद्दा है। लेकिन गुणवत्ता के मायने क्या हैं? क्या हर क्षेत्र के लिए गुणवत्ता के मानदण्ड और उसके मायने एक ही होने चाहिए या क्षेत्र विशेष के हिसाब से इसमें फ़र्क हो सकते हैं? इन प्रश्नों पर विचार नहीं किया जाता। यह लेख, शिक्षा और सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में गुणवत्ता तय करने के लिए उद्योग जगत के मानदण्ड अपनाने के सन्दर्भ में विश्लेषण प्रस्तुत करता है। बातचीत की शैली में लिखा गया यह लेख इस बात पर प्रकाश डालता है कि उद्योग जगत में गुणवत्ता के मानदण्डों को किन आधारों पर तय किया जाता है और उन्हीं आधारों को लेकर शिक्षा की गुणवत्ता को तय करने में क्या समस्याएँ हो सकती हैं। सं.

तौसीफ़ : पिछले साल की बात है। हल्की सी ठण्ड थी, शाम का समय था और मैं टहल कर घर की ओर लौट रहा था। तभी देखा कि सामने से रामस्वरूप जी आ रहे हैं। रामस्वरूप जी एक शिक्षक रहे हैं। एक चिन्तनशील और शिक्षा पर लगातार एक पैनी नज़र रखने वाले व्यक्ति हैं। उनका कहना है कि "दर्शनशास्त्र पढ़ो नहीं, बल्कि दर्शन करो। उसे जीवन में करके देखो और अपनाओ"। मेरी और उनकी मुलाकात पिछले वर्ष यहीं टहलते हुए हुई थी। तब से हम मिलते रहे हैं और अपने अकादमिक, रोज़मर्रा के संघर्ष, राजनीतिक , सामाजिक और तमाम मुद्दों पर सोचते व बातचीत करते रहे हैं।

रामस्वरूपजी : अरे तौसीफ़ कहाँ हो भाई बहुत दिनों के बाद दिख रहे हो?

तौसीफ़ : नमस्कार, कैसे हैं आप? हाँ मैं ऑफिस के काम से बाहर गया हुआ था।

रामस्वरूपजी : अच्छा तो यह बात है। खैर और सुनाओ कैसी कट रही है ज़िन्दगी?

तौसीफ़ : जी बिल्कुल! बस यूँ ही टहलते हुए सोच रहा था कि अशरफ को अब स्कूल में दाखिला दिलवाना है? किस स्कूल में उसका दाखिला करवाना चाहिए? आप की नज़र में है कोई स्कूल जिसकी क्वालिटी अच्छी हो? जहाँ क्वालिटी एजुकेशन मिलती हो?

रामस्वरूपजी : तौसीफ़ भाई तुम कब से इस "क्वालिटी" के चक्कर में पड़ गए हो?

तौसीफ़ : मतलब?

रामस्वरूपजी : मतलब यह कि आज कल सब लोग "क्वालिटी" की बात कर रहे हैं। मानो कि यह कोई जादुई चीज़ हमारे हाथ लग गई हो। सब इसका गीत गा रहे हैं: "क्वालिटी एजुकेशन", "क्वालिटी हॉस्पिटल", "क्वालिटी सर्विस" आदि। न जाने क्या-क्या और कहाँ-कहाँ इस शब्द का इस्तेमाल हो रहा है आखिर ये चीज़ क्या है भाई? इसके मायने क्या है? मैं जितना समझ पाया हूँ उससे तो लगता है कि जनमानस में इसकी कोई साफ-सुथरी परिभाषा हो या छवि हो ऐसा लगता नहीं है।

तौसीफ़ : अच्छा ठीक है। आईए वहाँ उस चाय की थड़ी पर बैठते हैं और एक-एक चाय पीते हैं और वहीं बात करते हैं इस पर।

रामस्वरूपजी : ये भी ठीक है भाई, बहुत दिन हो गए हैं तुम्हारे साथ चाय नहीं पी, चलो।

(चाय की थड़ी पर दोनों चाय पीते हुए)

तौसीफ़ : हाँ तो मैं जितना समझता हूँ वो आपको बताता हूँ। देखिए हम इस चाय के उदाहरण से इसे समझते हैं। इस चाय की "क्वालिटी" इस बात में निहित है कि यह हमें संतुष्ट कर पाए। बाज़ार में वही चीज़ें टिक पाती हैं जिनमें क्वालिटी होती है। बाज़ार में वो चीज़ें ही टिकेंगी जो उपभोक्ता द्वारा खरीदी जाएँगी और उपभोक्ता उन्हीं चीज़ों को खरीदेंगे जो उनकी ज़रूरतों को संतुष्ट करेंगी।

रामस्वरूपजी : बहुत बढ़िया!!! तो इसका अर्थ यह है कि कोई चीज़ अच्छी है या बुरी इसका निर्धारण उपभोक्ता की संतुष्टि से होगा। अगर उपभोक्ता संतुष्ट हुआ तो चीज़ अच्छी; नहीं हुआ तो ख़राब। क्यों?

तौसीफ़ : आप बिल्कुल सही समझे। मैं यही कह रहा था।

रामस्वरूपजी : यदि हम यह मान लेते हैं कि यह सही है तो इसमें कुछ गम्भीर समस्याएँ हैं!

तौसीफ़ : इसमें क्या समस्या है?

रामस्वरूपजी : एक तो यह कि यदि उपभोक्ता की संतुष्टि ही पैमाना हो तो फिर दरअसल कोई मानक पैमाना तो हो ही नहीं सकता।

तौसीफ़ : मतलब? मैं ये नहीं समझा।

रामस्वरूपजी : ठीक है। कोई उदाहरण ले लेते है। चलो व्हिस्की का उदाहरण लेते है। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है कि व्हिस्की में 47 प्रतिशत अल्कोहल होता है। कल को उपभोक्ता कहने लगें कि हमें तो उस व्हिस्की में मज़ा आता है जिसमें अल्कोहल की मात्रा 50 प्रतिशत हो। हो सकता है कि कुछ उपभोक्ता इसकी 60 प्रतिशत मात्रा पसन्द करें। और यह भी हो सकता है कि कुछ तो ये चाहें कि इसकी मात्रा 90 प्रतिशत हो!!! अब सवाल यह है कि क्या बाज़ार के लिए यह सम्भव होगा कि वह कोई मानक पैमाना बना सके। क्योंकि उसे तो उपभोक्ता के सन्तोष को देखना है। फिर तो उसे वो सभी प्रकार की व्हिस्की बनानी पड़ेगी जो उपभोक्ता चाहते हैं। दूसरी समस्या यह है कि यहाँ "चाह" और "ज़रूरत" का फर्क बहुत ही धुँधला हो गया है। उपभोक्ता जो "चाहते" हैं बस वही सर्वोपरि हो गया है। लेकिन सवाल तो यह भी है भाई कि क्या इसकी उन्हें "ज़रूरत" भी है। कहीं ऐसा तो नहीं कि जो वो चाहते हैं उसकी ज़रूरत ही न हो? या वो वांछनीय न हो? जैसे मैं चाह सकता हूँ कि मुझे 90 प्रतिशत अल्कोहल वाली व्हिस्की पीने को मिले। लेकिन क्या यह वांछनीय है? जिन लोगों को अल्कोहल के अच्छे-बुरे प्रभाव के बारे में ज्ञान है वे आसानी से बता सकते हैं कि यदि मैं 90 प्रतिशत अल्कोहल वाली व्हिस्की पीता हूँ तो जल्दी ही मेरे साथ क्या हो सकता है? हो सकता है कि मैं अपने अबोध के चलते या ख़राब आदत के चलते किसी ऐसी चीज़ की चाहत रखता हूँ जो कि मेरे लिए, मेरे स्वास्थ्य के लिए वांछनीय न हो।

तौसीफ़ : ओह! अब मैं आपकी बात समझा। शायद उपभोक्ता के संतोष की बजाए हमें फिर कुछ और चीज़ों को आधार बनाना होगा। और उन चीज़ों पर यदि ध्यान दिया जाए तो शायद उपभोक्ता का संतोष स्वतः ही हम प्राप्त कर पाएँ, नहीं?

रामस्वरूपजी : अभी मैं अपने मन में बहुत स्पष्ट नहीं हूँ। मेरी समस्या यह है कि आखिर हम सब लोगों के मन में क्वालिटी के मायने क्या हैं? पहले हम वो तो समझें।

तौसीफ़ : ठीक है हम मिलकर कुछ परिभाषित करने की कोशिश करते हैं। क्योंकि मैं एक इंजीनियर हूँ इसलिए अपनी समझ से चीज़ों को रखता हूँ। मुझे लगता है कि औद्योगिक दुनिया में जब हम देखते हैं तो वहाँ क्वालिटी को लेकर काफी सजगता दिखती है। वहाँ हम जो कुछ भी बनाते हैं, उसके हर पक्ष के मानक-वर्णन बड़े ध्यान से पहले तैयार करते हैं। जैसे उस वस्तु का फंक्शन क्या है? यह फंक्शन वो कर पाए इसके लिए उसका भौतिक स्वरूप कैसा होना चाहिए? उसकी चौड़ाई, ऊँचाई, लम्बाई, मोटाई कितनी होनी चाहिए? उसका डिज़ाइन क्या है? वह किस पदार्थ का बनना चाहिए? उसकी बाहरी और अन्दरूनी सतह का कैसा टेक्सचर होना चाहिए? आदि हर उस चीज़ पर कुछ ऐसे मानक-वर्णन पहले इस तरह तैयार किए जाते हैं ताकि उनको नापा जा सके, चेक किया

जा सके। इस तरह एक पूरा मानक-वर्णन का मैन्युअल बनाया जाता है। फिर इस उत्पाद के निर्माण की हर उस अवस्था को पहचाना जाता है, जहाँ-जहाँ यह चेक किया जाता है कि उस अवस्था विशेष तक के मानक उसने प्राप्त कर लिए हैं कि नहीं? हर अवस्था पर जाँच होती है और आखिरकार वह उत्पाद अपने अन्तिम पड़ाव तक पहुँचता है।

किसी भी अवस्था में यदि कोई कमी या खराबी पाई जाती है तो उस अवस्था की निर्माण प्रक्रियाओं और अन्य कारकों की एक गहन जाँच होती है कि आखिर गलती हुई कहाँ? इस तरह जब सभी अवस्थाएँ एक दुरुस्त तरीके से एक ऐसा उत्पाद तैयार कर पाने में सक्षम हो जाती हैं, जो सभी मानकों को पूरा कर पाता है तब जाकर उनको स्वीकृत किया जाता है। यदि इस प्रक्रिया को देखें तो लगता है 'क्वालिटी' का अर्थ यहाँ उत्पाद विशेष के निर्माण-मानकों को प्राप्त कर लेने से है और उस उत्पाद द्वारा अपना फंक्शन ठीक वैसे ही कर लेने से है जैसा हम चाहते हैं।

रामस्वरूपजी : हाँ! तौसीफ़ भाई अब तुमने कुछ पते की बात की है। अब कुछ साफ़-साफ़ तस्वीर बनती है "क्वालिटी" की।

तौसीफ़ : हाँ!! इस पूरी प्रक्रिया को हम "क्वालिटी एश्योरेंस" या "गुणवत्ता सुनिश्चितकरण" कहते हैं। इसी प्रकार का "क्वालिटी ऐस्योरंस" स्कूल में भी किया जाना चाहिए और जब मैं आपसे पूछ रहा था कि आप मुझे किसी "क्वालिटी स्कूल" के बारे में बताएँ तो मैं कुछ इन्हीं अर्थों में आपसे पूछ रहा था। इसलिए स्कूल की क्वालिटी, या शिक्षा की क्वालिटी का अर्थ यहाँ शिक्षा की प्रक्रिया-मानकों को प्राप्त कर लेना होगा। वहाँ हम कोई उत्पाद तो बना नहीं रहे हैं। बल्कि एक बच्चे को शिक्षित कर रहे हैं। तो शिक्षित करने के कोई तो मानक होंगे? उन मानकों को प्राप्त करना ही "क्वालिटी एजुकेशन" होगी। शिक्षित करने की प्रक्रियाओं को भी कुछ सार्थक अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है और हर अवस्था के मानक तैयार किए जा सकते हैं। ताकि कोई भी उन मानकों के बरक्स यह देख सके कि क्या इस अवस्था में की जाने वाली शैक्षिक प्रतिक्रियाएँ उन मानकों को प्राप्त कर रही हैं या नहीं? और...

रामस्वरूपजी : और रुक जाओ तौसीफ़ भाई ... थोड़ा धीरे चलो। देखो अब आप यहाँ वही गलती कर रहे हो जो कि आजकल ज़्यादातर लोग कर रहे हैं।

तौसीफ़ : अच्छा! हो सकता है। लेकिन मैं ज़रूर जानना चाहूँगा कि यह गलती क्या है?

रामस्वरूपजी : हाँ, हाँ मैं जरूर आपको बताऊँगा। आप रुकिए। मैं आपको बताता हूँ। मैं आपको यह सब कुछ बिन्दुओं में बताने की कोशिश करता हूँ :

1. पहली बात तो यह है कि हम यह समझें कि आखिर वो गलती क्या है जो तुम अभी कर रहे थे या कहें कि हमारे समाज में ज़्यादातर लोग आजकल कर रहे हैं। गलती यह है कि हम यह भूल जाते हैं कि चीज़ों के मायने या परिभाषाएँ उनके सन्दर्भों से बँधें होते हैं। किसी एक सन्दर्भ में जो परिभाषाएँ वाज़िब हैं ज़रूरी नहीं कि दूसरे सन्दर्भों में भी वाजिब हों। हमारे साथ यही हुआ है। हमने 'क्वालिटी' की उस परिभाषा को अपनी रोज़मर्रा की भाषा का हिस्सा बना लिया जो कि उद्योग जगत में लागू होती है। उद्योग जगत की शब्दावली आजकल हम पर इतनी हावी है कि हमने जीवन के हर क्षेत्र में उसका उपयोग करना शुरू कर दिया है। भले ही वह शब्दावली वहाँ अर्थ का अनर्थ कर देती हो! हमें यह समझना होगा कि उद्योग जगत में क्वालिटी की एक सीमित परिभाषा है। उद्योग जगत ने यह परिभाषा उनकी अपनी जरूरतों के मुताबिक गढ़ी है। लेकिन इसका अर्थ यह तो नहीं कि वह जीवन के हर क्षेत्र में लागू हो सकती है। हमें जीवन के अलग-अलग क्षेत्रों के लिए अलग-अलग परिभाषाएँ चाहिए।
2. उद्योगीकरण तो एक आधुनिक घटनाक्रम है। औद्योगीकरण के पहले क्या लोगों के मन में चीज़ों के 'बढ़िया' या 'घटिया' होने के अर्थ और उनके मानक नहीं होते थे? बिलकुल होते थे। दरअसल अचानक से इस औद्योगिक शब्दावली 'क्वालिटी' के इतना

लोकप्रिय होने के पीछे के कारणों को हमें समझना होगा। मुझे लगता है कि इसके पीछे एक बड़ा और आधारभूत कारण है हर चीज़ का 'मास प्रॉडक्शन' या कहें 'भारी मात्रा में उत्पादन'। हमें न केवल वस्तुओं का भारी मात्रा में उत्पादन करना पड़ रहा है बल्कि सेवाओं (स्वास्थ्य, शिक्षा, सुरक्षा आदि) को भी बड़े पैमाने पर मुहैया करवाना पड़ रहा है। इतने बड़े पैमाने पर कि जितना इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ। औद्योगिक सफलता से हम इतने प्रभावित हुए कि हमें लगने लगा जिस प्रकार उद्योगों में चीज़ों की क्वालिटी को सुनिश्चित किया जा सकता है वैसे ही अन्य चीज़ों (जिसमें कि सेवाएँ भी शामिल हैं) की क्वालिटी को भी सुनिश्चित किया जा सकता है। जबकि यह एक भयंकर गलती है।

3. थोड़ा ध्यान से सोचने की ज़रूरत है। उद्योगों में "क्वालिटी एश्योरेंस" एक तकनीकी प्रक्रिया है। यहाँ 'क्वालिटी' का एक तकनीकी अर्थ है: अपने इच्छित फंक्शन को ठीक से कर पाना, और निर्माण-प्रक्रिया के मानकों पर खरा उतर पाना। हम यदि थोड़ा सा इतिहास में झाँकें तो पाएँगे कि उद्योगों में "क्वालिटी एश्योरेंस" के मायने और प्रक्रियाएँ धीरे-धीरे विकसित हुईं और उनको निर्धारित करने में एक चीज़ की बड़ी भूमिका है– यह सवाल कि कैसे ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाया जाए? इस सरोकार के चलते उद्योगों में ऐसी प्रक्रियाएँ और घटनाओं ने जन्म लिया जिनको हम सामान्य तौर पर नज़रन्दाज़ कर देते हैं। जैसे मुनाफ़ा एक बड़ी शक्ति है जिसके चलते ऐसी प्रक्रियाओं को ईज़ाद करने के बारे में सोचा गया कि कैसे कम से कम समय में ज़्यादा से ज़्यादा उत्पादन किया जाए? और कैसे उत्पादन-लागत को घटाया जाए? हम देखते हैं कि इसके चलते ही हमने ऐसे कारीगरों को कल्पित किया जो कम से कम हुनरमन्द हों ताकि वे सस्ते में काम करने को राजी हो जाएँ। इसीलिए ऐसी निर्माण प्रक्रियाएँ विकसित की गईं जहाँ एक उत्पाद को कई छोटे-छोटे हिस्सों में तोड़ दिया जाता है और हर हिस्सा कोई एक या कुछ साधारण कारीगर बनाते हैं। हर हिस्से के डिज़ाइन और मानकों के मैन्युअल बनाए गए ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि अन्त में ये सारे हिस्से आसानी से जोड़े जा सकें और एक पूर्ण उत्पाद की शक्ल ले सकें। हिस्सों में तोड़ना इसलिए ज़रूरी था क्योंकि छोटे-छोटे हिस्सों को बनाना आसान होता है और बहुत कम समय में ज़्यादा मात्रा में बनाया जा सकता है। दूसरा, या तो कारीगर खुद मैन्युअल देख कर यह जान सकता है कि उसने उस हिस्से के तय मानकों को पूरा कर लिया है कि नहीं या फिर कुछ अन्य लोगों (जो बहुत विशेषज्ञ न हों) को नियुक्त कर दिया जाए और वो आसानी से देख सकें कि मानकों के अनुसार ही उत्पादन हो रहा है कि नहीं। इस तरह उत्पादन की अपनी एक पूरी ब्यूरोक्रेसी भी विकसित हुई। एक बहुत ही खास बात इस पूरे घटनाक्रम में हुई। इस बात पर हमें गौर करना चाहिए। आप यहाँ कारीगर की स्थिति को देखिए। यहाँ अब कारीगर निर्माण की प्रक्रिया और निर्माण-मानकों को तय नहीं करता। उसकी इन सबको विकसित करने, इनको तय करने में कोई भूमिका नहीं है क्योंकि वो इतना हुनरमन्द और ज्ञानवान है ही नहीं। यह सब तो अब कोई और तय करता है। इस पूरी प्रक्रिया में बौद्धिक श्रम और शारीरिक श्रम का विभाजन भी हो गया।

4. अब सवाल यह है कि क्या शिक्षा में भी हम सभी प्रक्रियाओं को मुनाफे को केन्द्र में रखकर तय करते हैं? शिक्षा में यह सम्भव है क्या कि कम हुनरमन्द और कम काबिल लोग शिक्षा दे सकें? क्या शिक्षा में यह सम्भव है कि हम इसकी प्रक्रियाओं को छोटे-छोटे हिस्सों में तोड़ दें? और क्या यह सम्भव है कि हर हिस्से के मानक तय कर दें और उनके मैन्युअल बना दें? क्या यह सम्भव है कि शिक्षक के लिए बौद्धिक श्रम कोई और करे और वे केवल शारीरिक श्रम करें? हम ऐसे किसी व्यक्ति को शिक्षक कहेंगे भी क्या?

5. इसलिए मेरा मानना यह है कि जब हम कहते हैं 'क्वालिटी एजुकेशन', 'गुणवत्तापूर्ण शिक्षा', 'शिक्षा में क्वालिटी एश्योरेंस', 'क्वालिटी ऑफ़ एजुकेशन', 'शिक्षा की गुणवत्ता' आदि; ये सब मुझे अटपटा और अजीब लगता है। यहाँ 'क्वालिटी' या 'गुणवत्ता' शब्द जोड़ते ही आप उसका गलत प्रयोग कर रहे होते हैं। ये शब्द अपने साथ उद्योग जगत से एक बहुत सीमित अर्थ लेकर आते हैं और इसकी तरफ हमारा ध्यान ही नहीं जाता। दरअसल मुझे तो यह भी लगता है कि हमें यह भी सोचना चाहिए कि शिक्षा के 'अच्छेपन' या इसके आकलन की कसौटी को क्या यह 'क्वालिटी' शब्द प्रेषित कर भी सकता है ? क्योंकि 'क्वालिटी' शब्द वास्तव में 'अच्छेपन' के तत्वों को प्रेषित करने के लिए गढ़ा ही नहीं गया है। जैसा हमने ऊपर देखा भी है। यह शब्द तो केवल कुछ तय मानकों को प्राप्त करने को इंगित करता है। और ये मानक भी मुनाफ़ा कमाने के सरोकार के चलते कुछ इस तरह गढ़े जाते हैं ताकि उस न्यूनतम अवस्था (उच्चतम नहीं) को प्राप्त किया जा सके जहाँ उत्पाद बेचने योग्य बन सके और एक समय सीमा तक अपना फंक्शन कर सके। हमें सोचना यह चाहिए कि क्या हमें इस 'क्वालिटी' शब्द की ज़रूरत है? हम यह कहने की बजाए कि 'क्वालिटी एजुकेशन' के मायने क्या हैं, क्या यह नहीं पूछ सकते कि 'अच्छी शिक्षा' के मायने क्या हैं? यह कहने की बजाए कि हमें क्वालिटी एजुकेशन चाहिए; क्या हम यह नहीं कह सकते कि हमें 'अच्छी शिक्षा' चाहिए?
6. सवाल यह भी उठता है कि क्या शिक्षा में कुछ ऐसे मानक गढ़े भी जा सकते हैं क्या जो सर्वव्यापी, सर्वकालिक और सर्वमान्य हों?

तौसीफ़ : हम्म, मैंने इन पक्षों पर पहले नहीं सोचा था। आपसे बात करना एक कमाल का अनुभव होता है। (हँसते हुए)

(दोनों हँसते हुए उठते हैं और चाय के पैसे देकर वापस घर की ओर चल पड़ते हैं।)

तौसीफ़ : चलिए ठीक है माना कि 'क्वालिटी' शब्द अपने साथ एक बहुत संकुचित और तकनीकी अर्थ लेकर आता है। यह भी माना कि उद्योगों में क्वालिटी 'उत्कृष्टता' को प्राप्त करना नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसको बनाने में लगने वाली लागत बहुत बढ़ जाएगी और इस तरह मुनाफ़ा कमाना मुश्किल हो जाएगा। इस तरह यह बात उचित ही लगती है कि उद्योगों में क्वालिटी के मानकों को कहीं न कहीं मुनाफ़ा कमाने का भाव भी तय कर रहा होता है। और भी कई बातें जैसे श्रम का विभाजन आदि भी सही ही लगती हैं। चलिए एक बार के लिए यह भी माना कि हमें इस 'क्वालिटी' शब्द को ही छोड़ देना चाहिए और 'गुणवत्तापूर्ण शिक्षा' या 'क्वालिटी एजुकेशन' कहने की बजाए 'अच्छी शिक्षा' का इस्तेमाल करना चाहिए। लेकिन कहीं न कहीं हमें 'अच्छी शिक्षा' के भी तो कोई मानक कल्पित करने ही होंगे न, या नहीं?

रामस्वरूपजी : बिलकुल भाई, आप ठीक कह रहे हैं, यह तो करना ही होगा।

तौसीफ़ : तो फिर सवाल यह उठता है कि आखिर वो मानक होंगे क्या?

रामस्वरूपजी : देखो भाई तौसीफ़, अब आपने इस पूरे मामले की नब्ज़ पर हाथ रख दिया है। मुझे लगता है कि यह एक संवेदनशील मामला है, इसलिए इस पर थोड़ा संज़ीदगी से सोचना होगा।

तौसीफ़ : सही बात है। मैं आपकी चिन्ता समझ सकता हूँ। मैं चूँकि एक इंजीनियर हूँ तो शायद एक शिक्षक या शिक्षाविद की तरह तो नहीं सोच सकता लेकिन फिर भी आपसे अपने कुछ विचार और अनुभव साझा करता हूँ। अभी कुछ दिन पहले की बात है। मेरे व्हाट्स-एप पर एक मैसेज आया जिसमें मशहूर गुजराती शिक्षक गिजुभाई की किताब के कुछ अंश दिए गए थे। मैं चाहूँगा कि आप उसे पढ़ें।

(तौसीफ़ अपने फोन पर वह मैसेज खोलते हैं और अपना फोन रामस्वरूप जी को पढ़ने के लिए देते हैं। रामस्वरूप जी रुककर उस मैसेज को पढ़ते हुए...)

तौसीफ़ : मुझे लगता है कि यह एक शानदार उदाहरण है एक शिक्षा के अच्छेपन के मानदण्डों का। अपने स्कूल के और उसमें में दी जानी वाली शिक्षा के अच्छेपन के क्या मानदण्ड होंगे,

मेरी शाला में नहीं चलेगा
गिजुभाई

- मेरी शाला में शिक्षाशास्त्र की किताबों वाला विशाल पुस्तकालय नहीं होगा तो चलेगा, पर माँग–ताँग कर भी शिक्षा की पुस्तकों में से अगर कुछ न पढ़ा गया होगा तो यह नहीं चलेगा।
- मेरी शाला का भवन आलीशान पत्थरों का बना और पक्का फर्श नहीं होगा तो चलेगा, पर उसके आँगन में अगर गड्ढे पड़े हुए होंगे या वह चूने–माटी के पलस्तर से रहित होगा तो यह नहीं चलेगा।
- मेरी शाला की दीवारें रंग से पुती हुई खूबसूरत न होंगी तो चलेगा, पर अगर उन पर मकड़ी का एक भी जाला होगा या धूल चढ़ी हुई होगी तो यह नहीं चलेगा।
- मेरी शाला में सुन्दर दरी या गलीचे बिछे हुए नहीं होंगे तो चलेगा, पर अगर कहीं भी धूल-कचरा होगा और वह हमारे पैरों में आ रहा होगा तो यह नहीं चलेगा।
- मेरी शाला में शिक्षण सम्बन्धी थोक–बन्द उपकरण न हों तो चलेगा, पर मेरी शाला में भले ही थोड़े उपकरण क्यों न हों, अगर उनका सचमुच में उपयोग न होता होगा तो यह नहीं चलेगा।
- मेरी शाला में बड़ा–सा बाल–पुस्तकालय न हो तो चलेगा, पर भले ही हस्तलिखित क्यों न हो, बालकों द्वारा उल्लास–उमंग के साथ पठनीय पुस्तकें अगर नहीं होंगी तो यह नहीं चलेगा।
- मेरी शाला में मैं बहुत पढ़ा–लिखा पण्डित न होऊँ तो यह चलेगा, पर अगर मैं बालकों के प्रति सम्मान–भाव रखने वाला, उनके विकास का अर्थ समझकर उन्हें वातावरण प्रदान करने वाला न होऊँ तो यह नहीं चलेगा।
- मेरी शाला में मैं बालकों को पढ़ाने या प्रतिपल उन्हे ज्ञानी बनाने के लिए न दौड़ूँ तो यह चलेगा, लेकिन अगर मैं उनके काम में बाधक बनूँ, उनको बार–बार डरा–धमका कर पढ़ाने बिठाऊँ तो यह नहीं चलेगा।
- मेरी शाला में बालक दो पल पढ़ेंगे और दो पल खेलेंगे तो यह चलेगा, परन्तु अगर बालक कारखाने के मजदूरों की तरह दिन-भर काम करते ही रहें और मैं उनके ऊपर सख्त नज़रें रखे रहूँ तो यह नहीं चलेगा।
- मेरी शाला में बालक मेरे गले न पड़ते हों या मेरे दोस्त बन कर मेरे आगे–आगे न चलते हों तो यह चलेगा, पर अगर वे मुझसे दूर-दूर भागते हों और मुझे देख कर डरते हों तो यह नहीं चलेगा।
- मेरी शाला में बालक कम पढ़ेंगे तो चलेगा, धीमे–धीमे पढ़ेंगे तो चलेगा परन्तु अगर चीख–चीख कर, जोर–जोर से पढ़ते हुए उकता जाएँगे या निस्तेज हो जाएँगे तो यह नहीं चलेगा।
- मेरी शाला में बालक मर्जी–मुताबिक बैठें, इच्छा हो तो पढ़ें या चित्र बनाएँ तो यह चलेगा लेकिन किसी के आने पर दिखावे के लिए ही अगर वे लिखेंगे या चित्र बनाएँगे तो नहीं चलेगा।
- मेरी शाला में बालक अगर समय पर काम पूरा न हो सका तो शान्ति से मुझे आकर मना कर देंगे अथवा अगर धीमी गति से काम करेंगे तब भी चलेगा, पर कदाचित् मैं मारूँगा या डाँटूगा तभी दौड़-दौड़ कर काम करेंगे तो यह नहीं चलेगा।

–गिजुभाई की पुस्तक *'शिक्षक हों तो'* से

गिजुभाई ने उनका एक ख़ाका यहाँ एक सरल और प्रभावी भाषा में खींचा है। उन्होंने ऐसी कुछ बातें पहचान ली हैं जिन पर कोई समझौता नहीं होगा। शिक्षा के अच्छेपन के उन्होंने ऐसे कुछ प्रतिमान पहचान लिए हैं जिन पर कोई कोताही नहीं बरती जाएगी। ये सब वो बातें हैं जो उनके स्कूल को और उसमें दी जाने वाली शिक्षा को अच्छा बनाती हैं, बेहतरीन बनाती हैं। (बातें करते–करते कब रामस्वरूप जी का घर आ गया पता ही नहीं चला। रामस्वरूप जी ने तौसीफ़ को अपने घर में आने को कहा ताकि बात को किसी निष्कर्ष पर लाकर ख़त्म किया जा सके। रामस्वरूप जी तौसीफ़ को अपने घर की बैठक में लेकर गए और वहाँ बैठ कर आगे की बातें करने लगे।)

रामस्वरूपजी : हाँ, तौसीफ़, तो...बिलकुल सही बात है आपकी। मुझे इसमें कोई शक नहीं कि गिजुभाई यहाँ शिक्षा के अच्छेपन के मानदण्डों पर अपना एक ख़ाका सुझा रहे हैं। जैसे आपको उनकी कई बातें अच्छी लगीं, वैसे ही मुझे भी उनकी एक बात अच्छी लगी वो यह कि गिजुभाई यहाँ एक दम साफ़–साफ़ शब्दों में अपनी बात कह रहे हैं। उन्होंने अपने मानदण्डों को ऐसी भाषा में कहा कि वे सब के सब हमारे सामने कुछ मूर्त बिन्दुओं के रूप में उभरते हैं। अब कोई भी आकर देख सकता है कि वैसा हो रहा है कि नहीं। उन्होंने कोशिश की है कि हर मानदण्ड को इस कदर मूर्त रूप दिया जाए ताकि हर कोई उन्हें जहाँ तक सम्भव हो व्यवहार में उतरते हुए देख सके, महसूस कर सके, उनका अवलोकन कर सके।

दूसरी बात जो मुझे अच्छी लगी वो यह कि गिजुभाई यहाँ अपने विवेक से शिक्षा के अच्छेपन की एक धारणा बनाते हैं और उस पर कायम हैं। मुझे पता है कि उनके पास पर्याप्त तर्क भी हैं कि वे ऐसी धारणा ही क्यों बना रहे हैं। तो मुझे उनका यह पक्ष भी अच्छा लगा- अपने विवेक से एक धारणा बनाना और फिर उसके पक्ष में तर्क गढ़ना कि यह धारणा क्यों उचित है।

तौसीफ़ : हम्म, आपने बिलकुल सही कहा। तो अब हम कह सकते हैं कि अच्छी शिक्षा के क्या

मानदण्ड हो सकते हैं। उसका एक ख़ाका हमें मिल गया है। अब अगर मैं अशरफ के लिए कोई स्कूल ढूँढ़ता हूँ तो पहले मैं इन तीन-चार चीज़ों का अवलोकन करूँगा:

शिक्षक और बच्चों के बीच रिश्ते : जैसे क्या वहाँ बच्चों का सम्मान होता है?; क्या वहाँ खुला, डर और दबाव रहित माहौल है?; शिक्षक और बच्चों के व्यवहार में ईमानदारी है क्या?

सीखने-सिखाने के तरीके : मसलन बच्चों को सीखने की अपनी गति की आज़ादी है क्या? उन्हें अपनी बात और सृजनात्मकता को ज़ाहिर करने की आज़ादी है क्या?

पढ़ने-पढ़ाने के साधन और सामग्री : उदाहरण के लिए क्या वहाँ बच्चों को उपकरणों के उपयोग की आज़ादी है? क्या वहाँ बच्चों के लिए उचित पाठ्य सामग्री की उपलब्धता है? आदि।

स्कूल के भवन की स्थिति और माहौल : जैसे क्या वहाँ साफ़-सफाई पर ध्यान दिया गया है? आदि।

ये सब वो बातें हैं जो ऊपर गिजुभाई ने कही हैं। अगर मैंने पाया कि ये चीज़े वहाँ उस स्कूल में हैं तो मैं मानूँगा कि वह एक अच्छा स्कूल है जो मेरे बेटे को अच्छी शिक्षा दे सकता है। क्यों?

रामस्वरूपजी : देखो भाई तौसीफ़, मैं आपका दिल तोड़ना नहीं चाहता लेकिन मुझे अब एक सवाल पूछना ही पड़ेगा।

तौसीफ़ : कैसा सवाल? पूछिए

रामस्वरूपजी : सवाल अब मैं आपकी भाषा में ही पूछता हूँ। आपने खुद शुरुआत में 'टोटल क्वालिटी एश्योरेंस' की बात की थी। जिसका अर्थ है कि उद्योग जगत में किसी उत्पाद की गुणवत्ता के हर पक्ष पर समान ध्यान दिया जाता है और तब जाकर कहीं उसकी गुणवत्ता को एक परिपूर्णता में सुनिश्चित किया जाता है। कहने का अर्थ है कि गुणवत्ता को वहाँ एक पूर्णता में देखा जाता है। क्यों?

तौसीफ़ : बिलकुल ठीक कहा आपने।

रामस्वरूपजी : तो फिर तौसीफ़ भाई, हमें शिक्षा के अच्छेपन के मानदण्डों को भी पूर्णता में ही देखना होगा। कम से कम ऐसी कोशिश तो करनी ही होगी।

तौसीफ़ : तो क्या आपको लग रहा है कि गिजुभाई के ऊपर दिए गए उदाहरण में शिक्षा के अच्छेपन को पूर्णता में नहीं देखा गया है; शायद कुछ छूट गया है जो इस खाके में अभी नहीं आया?

रामस्वरूपजी : हाँ, शायद मै ऐसा ही कुछ कहने की कोशिश कर रहा हूँ। और शायद इसके अलावा भी कुछ कहना चाहता हूँ :

पहली बात तो मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि शिक्षा के अच्छेपन के मानदण्ड कोई बँधे-बँधाए नहीं हैं क्योंकि शिक्षा को देखने-समझने के लोगों के भिन्न-भिन्न नज़रिए और विचार हैं। इन दृष्टिकोणों, नज़रियों के आलोक में ही अच्छेपन के मानदण्ड क्या होंगे, यह तय होता है और फिर उनकी व्याख्या, पुनर्व्याख्या होती है। इसलिए ऊपर के उदाहरण में एक बहुत ही ख़ास मानदण्ड जो छूट गया है वो है - शिक्षा को देखने का नज़रिया - उसके मायने, आदर्श, मूल्य।

तौसीफ़ : यह मैं समझा नहीं।

रामस्वरूपजी : अच्छा आप एक बात बताओ क्या आप अपने बेटे को किसी ऐसे स्कूल में भरती करवाना चाहोगे जो यह दावा करता हो कि हम बच्चों को प्रतिस्पर्धी बनाएँगे?

तौसीफ़ : हम्म ये थोड़ा मुश्किल सवाल है लेकिन मुझे लगता है कि प्रतिस्पर्धी होना आख़िरकार कोई बहुत काम की चीज़ तो है नहीं। प्रतिस्पर्धी लोग अपने आप से और दूसरों से लगातार लड़ते रहते हैं, आगे बढ़ने के लिए जूझते रहते हैं। शायद विवेकहीन प्रतिस्पर्धा कोई बहुत काम की चीज़ तो है नहीं। आप बेवज़ह अपने आप से और दूसरों से अलग हो जाते हैं।

रामस्वरूपजी : तो आपका उत्तर 'न' है क्योंकि आपको लगता है कि 'प्रतिस्पर्धा' शिक्षा का एक अच्छा आदर्श नहीं है। किसी शिक्षा को अपने लिए ऐसे आदर्श नहीं चुनने चाहिए। आपको लग सकता है कि शिक्षा के आदर्श और मूल्य तो कुछ और होने चाहिए, नहीं?

तौसीफ़ : हाँ बिलकुल। ओह! अब मैं समझा। इसका अर्थ यह है कि शिक्षा के अच्छेपन का एक मानदण्ड शिक्षा के आदर्श और मूल्य भी है। वाह रामस्वरूप जी, क्या बात है। मैं ये ज़रूर जानना चाहूँगा कि आखिर कोई स्कूल शिक्षा को

देखता कैसे है? उसके क्या आदर्श और मूल्य वो अपने लिए तय करता है? लेकिन यह मुझे पता कैसे चलेगा कि उस स्कूल ने शिक्षा के आदर्श और मूल्य अपने लिए क्या तय किए हैं?

रामस्वरूपजी : वहाँ के शिक्षकों और प्रधानाचार्य से बात करके। उनके विभिन्न डाक्यूमेंट पढ़ कर। और भी कई ज़रिए हैं, उन पर अभी थोड़ी देर में बात करते हैं।

दूसरी बात यह है तौसीफ़ कि शिक्षा के आदर्श और मूल्य दरअसल एक मूलभूत मानदण्ड है शिक्षा के अच्छेपन का। क्यों? क्योंकि ये आदर्श और मूल्य ही यह तय करते हैं कि अन्य मानदण्ड क्या होंगे और कैसे होंगे? इसे एक उदाहरण से समझते हैं। अब आपके सामने मैं गिजुभाई का एक मानदण्ड रखता हूँ :

"मेरी शाला में बालक दो पल पढ़ेंगे और दो पल खेलेंगे तो यह चलेगा, परन्तु अगर बालक कारखाने के मज़दूरों की तरह दिनभर काम करते ही रहें और मैं उनके ऊपर सख्त नज़रें रखे रहूँ तो यह नहीं चलेगा।"

आप ज़रा सोच कर बताओ कि उन्होंने यह मानदण्ड अपने स्कूल के लिए क्यों गढ़ा होगा?

तौसीफ़ : मुझे लगता है कि गिजुभाई के मन में कहीं न कहीं यह बात रही होगी कि उनके बच्चे ऐसे किसी दबाव में न रहें कि मानो उन पर कोई नज़र रख रहा है। बच्चे शायद उनकी नज़र में कोई बंधुआ मज़दूर नहीं है जिन्हें हर वक्त दिशानिर्देश और कड़ी नज़र की आवश्यकता है। शायद उनका मानना यह हो कि बच्चे खुद अपने मूड और रुचि से तय करें कि कब क्या करना है? वे शायद उन्हें ख़ुद-मुख़्तार बनने की ओर ले जाना चाहते थे।

रामस्वरूपजी : बहुत अच्छा तौसीफ़ भाई। यहाँ गिजुभाई के लिए शिक्षा का उद्देश्य (आदर्श) क्योंकि बच्चों को ख़ुद-मुख़्तार बनाना है इसलिए उन्होंने बच्चों और उनके बीच के रिश्तों और उनकी शिक्षण प्रक्रियाओं को इस तरह कल्पित किया। अगर उनका आदर्श कुछ और होता तो ये रिश्ते और शिक्षण प्रक्रियाएँ भी कुछ और होतीं।

तौसीफ़ : बहुत बढ़िया... अब मैं समझा... एक बात तो यह कि शिक्षा के हम जो भी उद्देश्य तय करते हैं, उनको प्राप्त करने के लिए हमें उनके मुताबिक ही बच्चों के साथ रिश्ते, उन्हें सीखने-सिखाने की विषय-वस्तु और प्रक्रियाएँ तय करनी होंगी। दूसरा यह कि अब मैं किसी स्कूल में बच्चों के साथ शिक्षकों के कैसे रिश्ते हैं, उन्हें क्या और कैसे सिखाया जा रहा है आदि चीज़ों को देखकर भी अन्दाज़ा लगा सकता हूँ कि आख़िर वहाँ शिक्षा के किन आदर्श और मूल्यों को चुना गया है?

रामस्वरूपजी : एकदम सही बोला आपने। तो अगर देखें तौसीफ़ तो कम से कम शिक्षा के अच्छेपन को पूर्णता से देखने के कुछ ये आयाम या दायरे हो सकते हैं :

1. शिक्षा के उद्देश्य (आदर्श, मूल्य), 2. शैक्षिक परिणाम और 3. शैक्षिक प्रक्रियाएँ

चलो एक उदाहरण से इन्हें समझते हैं। फ़र्ज़ करो कि तुम्हें अपने बेटे लिए कोई अच्छी शिक्षा देने वाला स्कूल चुनना हो तो तुम इस तालिका में क्या मानदण्ड रखना चाहोगे?

क्र. सं.	शिक्षा के अच्छेपन के दायरे	अच्छेपन के दायरों के अन्दर मानदण्ड (उदाहरण)
01.	शिक्षा के आदर्श व मूल्य	
02.	शैक्षिक परिणाम	
03.	शैक्षिक प्रक्रियाएँ	

तौसीफ़ : आपको भी मेरी थोड़ी मदद करनी होगी। दूसरी बात यह कि इस तालिका को मैं ऐसे नहीं बनाना चाहूँगा। क्योंकि अभी तक की बातचीत से मैं यह समझा हूँ कि ये चीज़ें एक दूसरे को निर्धारित करते हैं तो मैं वैसा ही कुछ ढाँचा बनाना चाहूँगा, जैसे कि ये :

शिक्षा के अच्छेपन के दायरे →	शिक्षा के आदर्श व मूल्य →	शैक्षिक परिणाम →	शैक्षिक प्रक्रियाएँ

यहाँ ये तीर इस बात को दिखाते हैं कि ये दायरे एक दूसरे को तय कर रहे हैं। अब मैं सबसे पहले यह बताता हूँ कि मेरे बेटे के लिए मैं किस तरह की शिक्षा की कल्पना करता हूँ। मतलब यह कि मैं शिक्षा के क्या आदर्श और मूल्य उचित समझता हूँ? मेरा मानना है कि मेरा बेटा एक ऐसी शिक्षा पाए ताकि वो बड़ा होकर एक बेहतरीन आदमी बने। धर्म और जाति, या पैसे के नाम पर, या उसके रुतबे के आधार पर लोगों से रिश्ते न बनाए, बल्कि सबको एक समान समझे, लोगों की मदद करें, अच्छे को अच्छा, बुरे को बुरा कह सकने की उसमें हिम्मत हो, वो आत्मनिर्भर बने, किसी का मोहताज़ न हो, वो ख़ुशी ढूँढ़े अपने लिए, दूसरों के लिए; ज़िन्दगी को जिए, किसी के भी बहकावे में न आ जाए, अपनी समझ और होशियारी से तय करे कि क्या सही है, क्या गलत।

रामस्वरूपजी : बहुत बढ़िया, तौसीफ़ भाई। तो हम कह सकते हैं कि आप के मन में शिक्षा के आदर्श और मूल्य कुछ इस तरह के हैं: समानता, न्याय, संवेदनशीलता, विवेकशीलता, आर्थिक आत्मनिर्भरता, सामाजिक सरोकार आदि।

तौसीफ़ : बिलकुल सही कहा आपने। अब हम यह इस तालिका में लिख सकते हैं:

शिक्षा के अच्छेपन के दायरे →	शिक्षा के आदर्श व मूल्य →	शैक्षिक परिणाम →	शैक्षिक प्रक्रियाएँ
	समानता, न्याय, संवेदनशीलता, विवेकशीलता, आर्थिक आत्मनिर्भरता, सामाजिक सरोकार		

अब यदि हम शिक्षा के ये आदर्श और मूल्य तय करते हैं तो अब हमें सोचना होगा कि कौन से ज्ञान, मूल्य, रुझान, हुनर, क्षमताएँ और रुचियाँ उसमें विकसित करनी होंगी और किस हद तक करनी होंगी ताकि जब वो इस इस तरह की शिक्षा को पूरा कर ले तो हमारे पास कुछ मानदण्ड हों जिनकी रोशनी में यह देखा जा सके कि मेरे बेटे ने वो सब हासिल किया है कि नहीं?

i. सीखने की व्यापकता : यदि मैं चाहता हूँ कि मेरा बेटा आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर, विवेकशील, न्यायप्रिय, संवेदनशील बने तो उसके लिए ज़रूरी है कि वह बहुत व्यापक स्तर पर सीखे। उसे ज्ञान के हर क्षेत्र में कुछ बुनियादी समझ बनाने का मौका मिले ताकि आगे चलकर उसमें उत्तरोत्तर समझ विकसित करने की कुछ बुनियादी तैयारी हो सके। विज्ञान, समाज विज्ञान, संगीत, कला, तर्क, इतिहास, खेल-कूद आदि सभी क्षेत्रों में यदि वह कुछ बुनियादी समझ बना पाता है तो उसे जीवन के हर पहलू पर निर्णय लेने और जीवन को बेहतर तरीके से जीने में शायद मदद मिलेगी। उसे इन क्षेत्रों के सिद्धान्त, सूचनाएँ, संकल्पनाएँ सीखने होंगे।

ii. सीखने में स्पष्टता व गहराई : और यह सब सीखना कोई जल्दबाजी का या छिछला नहीं होगा। हर चीज़ उसे समझ कर और गहराई से सीखनी होगी। आखिर किसी बात का अर्थ क्या है? संकल्पनाओं की समझ हो, सिद्धान्तों के आपस में क्या सम्बन्ध हैं यह पता हो; उनका जीवन से क्या जुड़ाव है, यह समझ हो; उनसे जीवन में किस तरह के निर्णय या काम लिए जा सकते हैं, यह समझ हो; इन सिद्धान्तों में क्या खामियाँ हैं, उनकी क्या आलोचना है, यह जागरूकता हो। तब कहीं जाकर सीखने का जीवन में कोई लाभ है।

iii. स्वयं सीखने और जानने की क़ाबिलीयत : केवल ये सब संकल्पनाएँ, सूचनाएँ, नियम, कानून, सिद्धान्त सीखना शायद काफी नहीं होगा। बल्कि उसे यह भी सिखाना होगा कि वह आगे चल कर खुद यह सब कैसे कर सकता है। ताकि वह कुछ भी सीखने के

लिए हमेशा किसी का मुँह नहीं ताकता रहे। स्कूल, कॉलेज, यूनिवर्सिटी कोई जीवन भर थोड़े साथ होते हैं। कामकाजी जीवन में, रोज़मर्रा के जीवन में रोज़ नई चीज़ें और चुनौतियाँ आती हैं। उन सबको हल करना हो तो लगातार खुद सीखते रहने की ज़रूरत है।

iv. **सीखने के प्रति नज़रिया** : इसलिए सीखने के प्रति एक खास नज़रिया मेरे बेटे को अपने व्यक्तित्व में विकसित करना होगा। उसे अपने ज्ञान और उसकी सीमाओं के प्रति ईमानदारी से सोचना आना चाहिए, ईमानदारी से ज्ञान निर्माण की प्रक्रियाओं को पूरा करना आना चाहिए, खुद पर विश्वास होना चाहिए, सीखने की ललक होनी चाहिए, ज्ञान के प्रति एक सम्मान और इज्ज़त होनी चाहिए।

v. **संवेदनशीलता और मूल्य** : दूसरों के प्रति सम्मान, आत्मसम्मान, सहयोग का भाव, न्याय का भाव जैसे मूल्य उसमें हों।

शिक्षा के अच्छेपन के दायरे →	शिक्षा के आदर्श व मूल्य →	शैक्षिक परिणाम →	शैक्षिक प्रक्रियाएँ
	समानता, न्याय, संवेदनशीलता, विवेकशीलता, आर्थिक आत्मनिर्भरता, सामाजिक सरोकार	i. सीखने की व्यापकता : उसे ज्ञान के हर क्षेत्र में समझ बनाने का मौका मिले। इन क्षेत्रों के सिद्धान्त, सूचनाएँ, संकल्पनाएँ सीखने होंगे। ii. सीखने में स्पष्टता व गहराई: आखिर किसी बात का अर्थ क्या है? संकल्पनाओं की समझ हो, सिद्धान्तों के आपस में क्या सम्बन्ध है यह पता हो; उनका जीवन से क्या जुड़ाव है? iii. स्वयं सीखने और जानने की क़ाबिलीयत : रोज़मर्रा के जीवन में चुनौतियाँ को हल करना; सीखे गए सिद्धान्तों को जीवन में उपयोग करना, लगातार खुद सीखते रहना। iv. सीखने के प्रति नज़रिया : ईमानदारी से ज्ञान निर्माण की प्रक्रियाओं को पूरा करना आना चाहिए; खुद पर विश्वास होना चाहिए; सीखने की ललक होनी चाहिए; ज्ञान के प्रति एक सम्मान और इज्ज़त। v. संवेदनशीलता और मूल्य : दूसरों के प्रति सम्मान, आत्मसम्मान, सहयोग का भाव, न्याय का भाव जैसे मूल्य हों।	

रामस्वरूपजी : बहुत खूब तौसीफ़, आपने बहुत ही गहराई से इस पर अपने विचार दिए हैं. अब हम इसको थोड़ा संक्षिप्त रूप में इस तालिका में रख देते हैं:

तौसीफ़ : जी हाँ, तो अब बचता है अन्तिम बिन्दु, कि यदि ये आदर्श-मूल्य हैं और ये परिणाम हम पाना चाहते हैं तो फिर शैक्षिक प्रक्रियाएँ क्या होंगी? मैं जितना समझा हूँ वो यह है कि प्रक्रियाओं का रूप भी हमें वैसा ही रखना होगा जैसे कि हमारे उद्देश्य हैं। यदि संवेदनशील, विवेकशील, आत्मनिर्भर जैसा कोई व्यक्ति बनाना हमारा उद्देश्य है तो यह सब किसी ऐसी जगह तो नहीं हो सकता जहाँ बच्चों को डराया, धमकाया जाता हो; न ही ऐसे माहौल में हो सकता जहाँ कुछ भी खुद करने, सोचने, विचारने को मौका न हो। इसलिए मैं चाहूँगा कि निम्न प्रक्रियाओं को यदि अपनाया जाए तो शायद काम बने :

i. **बेहतरीन शिक्षण का सामर्थ्य** : यदि हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे एक व्यापक स्तर पर सीखें और समझें तो ऐसा तभी सम्भव है जबकि उनके शिक्षक भी एक व्यापक ज्ञान रखते हों और लगातार सीखने को महत्त्व देते हों; और खुद भी लगातार सीखते हों।

ii. **नैतिक उपयुक्तता** : शिक्षण प्रक्रियाएँ ऐसी हों जो नैतिक रूप से उचित हों, न्यायपूर्ण हों। बच्चों के स्तर के मुताबिक उनकी मदद करना; डर, दण्ड का इस्तेमाल नहीं करना; पक्षपात नहीं; किसी बच्चे को नीचा नहीं दिखाना, आदि।

iii. **बच्चों के साथ रिश्ते** : उनका ख्याल रखना, उनसे समान रिश्ते होना, बच्चों के लिए शिक्षण का रुचिकर होना ताकि वे सीखने से जुड़ सकें।

iv. **कम ख़र्चीली होना** : शिक्षण प्रक्रियाएँ ऐसी हो जो सस्ती हों। वे न केवल आर्थिक रूप से सस्ती हों बल्कि, समय और ऊर्जा की खपत भी उनमें कम लगे। ताकि बच्चों और शिक्षकों दोनों के समय और ऊर्जा की बचत हो।

शिक्षा के अच्छेपन के दायरे →	शिक्षा के आदर्श व मूल्य →	शैक्षिक परिणाम →	शैक्षिक प्रक्रियाएँ
		i. सीखने की व्यापकता : उसे ज्ञान के हर क्षेत्र में समझ बनाने का मौका मिलें। इन क्षेत्रों के सिद्धान्त, सूचनाएँ, संकल्पनाएँ सीखने होंगे। ii. सीखने में स्पष्टता व गहराई : आखिर किसी बात का अर्थ क्या है? संकल्पनाओं की समझ हो, सिद्धान्तों के आपस में क्या सम्बन्ध है यह पता हो; उनका जीवन से क्या जुड़ाव है? iii. स्वयं सीखने और जानने की क़ाबिलियत: रोजमर्रा के जीवन में चुनौतियाँ को हल करना; सीखे गए सिद्धान्तों को जीवन में उपयोग करना, लगातार खुद सीखते रहना। iv. सीखने के प्रति नज़रिया : ईमानदारी से ज्ञान निर्माण की प्रक्रियाओं को पूरा करना आना चाहिए; खुद पर विश्वास होना चाहिए; सीखने के ललक होनी चाहिए; ज्ञान के प्रति एक सम्मान और इज्ज़त। v. संवेदनशीलता और मूल्य : दूसरों के प्रति सम्मान, आत्मसम्मान, सहयोग का भाव, न्याय का भाव जैसे मूल्य हो।	i. बेहतरीन शिक्षण का सामर्थ्य : शिक्षक भी एक व्यापक ज्ञान रखते हों। और लगातार सीखने को महत्व देते हो; लगातार सीखते हो खुद। ii. नैतिक उपयुक्तता: बच्चों के स्तर के मुताबिक उनकी मदद करना; डर, दंड का इस्तेमाल नहीं करना; पक्षपात नहीं; किसी बच्चे को नीचा नहीं दिखाना, आदि. iii. बच्चों के साथ रिश्ते : उनका ख्याल रखना, उनसे सामान रिश्ते होना, बच्चों के लिए शिक्षण का रुचिकर होना। iv. कम ख़र्चीली होना : न केवल आर्थिक रूप से सस्ती हो बल्कि, समय और ऊर्जा की खपत भी उनमें कम लगे।

रामस्वरूपजी : बहुत सुन्दर तौसीफ़, आपने कमाल कर दिया। अब हम इन बिन्दुओं को भी तालिका में रख देते हैं:

अब देखो तौसीफ़ यह तालिका बन कर तैयार हो गई। अब यह तुम्हारे बेटे के लिए अच्छी शिक्षा के एक फ्रेमवर्क की तरह है। यह अब तुम्हें बताएगी कि कौन-सी शिक्षा अच्छी शिक्षा है और कौन-सा स्कूल अच्छा स्कूल है?

तौसीफ़ : वाह! रामस्वरूप जी। अब मैं समझा एक अच्छी शिक्षा का मतलब। और न केवल मतलब बल्कि उसके क्या मानदण्ड होंगे यह भी। अब शायद मैं किसी भी स्कूल का एक बेहतर आकलन कर सकता हूँ और समझ सकता हूँ कि अच्छेपन के पैमाने पर वह कहाँ ठहरता है। धन्यवाद, आपके वक्त के लिए। अब विदा लेता हूँ। फिर मिलेंगे।

रामस्वरूपजी : बिलकुल तौसीफ़ भाई। ज़रूर मिलेंगे। नमस्कार।

(तौसीफ़ रामस्वरूप जी से विदा लेकर बाहर सड़क पर आते हैं और अपने घर की ओर चल देते हैं। चलते-चलते उन्होंने देखा कि कुछ लोग एक बड़े से बोर्ड पर किसी स्कूल का इश्तहार चिपका रहे हैं। तौसीफ़ की नज़र उस पर पड़ती है। इश्तहार में लिखा है, "हमारा स्कूल विश्व-स्तरीय क्वालिटी शिक्षा प्रदान करता है।" फिर एक कोने में तौसीफ़ की नज़र पड़ी जहाँ लिखा था, "आइए और खुद देखिए हमारे स्कूल की क्वालिटी: स्विमिंग पूल, हॉर्स राइडिंग, एयर कंडीशण्ड कक्षा-कक्ष, अंग्रेजी माध्यम, अमेरिकन कंपनी द्वारा तैयार माइण्ड एक्टिविटीज़।" यह सब पढ़कर तौसीफ़ के दिमाग में आज हुई सारी बातें एक दम से फिर घूम गई। और एक मुस्कान के साथ वे मन ही मन बुदबुदाए- "गुणवत्ता के सौदागर"

सन्दर्भ

यह लेख मौटे तौर पर दो लोगों के विचारों पर आधारित है- रोहित धनकर और डब्लू. ए. हार्ट के लेख 'दि आईडिया ऑफ़ क्वालिटी इन एजुकेशन' (2011, अप्रकाशित) और डब्लू. ए. हार्ट के लेख 'दि क्वालिटी मोंगेर्स' (*जर्नल ऑफ़ फिलोसोफी ऑफ़ एजुकेशन*, वॉल्यूम 31, नंबर 2, 1997) में प्रस्तुत मुख्य विचार और अंतर्दृष्टि पर ही यह लेख आधारित है| इसका शीर्षक भी डब्लू. ए. हार्ट के लेख के शीर्षक से प्रेरित है| हालाँकि अप्रत्यक्ष रूप से देखें तो जर्नल ऑफ़ फिलोसोफी ऑफ़ एजुकेशन के 'क्वालिटी' पर केन्द्रित एक विशेषांक (वॉल्यूम 30, नंबर 1, 1996) के लेखों में प्रस्तुत विचारों ने भी इस लेख को पोषित किया है.

कुलदीप गर्ग पिछले 12 वर्षों से शिक्षा के क्षेत्र में सक्रिय हैं। आजकल अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, जयपुर के साथ काम कर रहे हैं।
सम्पर्क : kuldeep.garg@azimpremjiafoundation.org

आँखें मूँदे कबूतर : यौनिकता की अभिव्यक्ति

निधि गुलाटी

यौनिकता की अभिव्यक्ति काफी जटिल मसला है। निधि गुलाटी का लेख हाल ही में स्कूलों में घटित कुछ वाकयों का विवरण देते हुए बच्चों की यौनिकता के मसले पर चर्चा करता है। लेख यह सवाल उठाता है कि क्या हर यौन अभिव्यक्ति को शोषण या नैतिकता का हनन समझा जाए या फिर यह मानवीय विकास का एक पहलू भी है। लेख इतिहास की पड़ताल करते हुए बचपन की अवधारणा में हुए परिवर्तन, यौनिकता की अभिव्यक्ति और विकासात्मक पहलुओं में सम्बन्ध की भी पड़ताल करता है। साथ ही यह रेखांकित करता है कि शिक्षक शिक्षा में इस मसले पर कोई विमर्श नहीं है और यह भी कि शिक्षकों को यह समझ बनानी होगी कि वे पहले बच्चों की क्रियाओं व बातों को पूरी तरह समझें और फिर उस घटना के निहितार्थ को समझें और तय करें कि किसी ऐसी घटना के पीछे मुद्दा कितना गम्भीर है। कहाँ कुछ कदम लेने की ज़रुरत है और कहाँ यह सिर्फ विकासात्मक परिवर्तन की अभिव्यक्ति है। सं.

हाल ही में (जुलाई 2017) तिरुवनन्तपुरम के एक स्कूल में एक किशोर लड़के ने अपनी सहपाठी लड़की को आट्र्स फेस्टिवल में उम्दा परफॉर्मेंस के लिए स्कूल की सीढ़ियों के पास आलिंगनबद्ध किया। स्कूल की शिक्षिका की शिकायत पर लड़के को स्कूल से निलम्बित कर दिया गया। लड़के ने स्कूल से आवेदन किया कि उसे बारहवीं कक्षा के इम्तिहान में बैठने दिया जाए। केरल कमीशन फॉर प्रोटेक्शन ऑफ चाइल्ड राइट्स ने लड़के के पक्ष में फैसला लिया, लेकिन दिसम्बर 2017 में हाईकोर्ट ने उसकी अर्ज़ी नामंजूर कर दी। हाईकोर्ट का तर्क था कि स्कूल को हक़ है वो सभी काम रोकने का जिससे बच्चों की नैतिकता का हनन होता है। इस आलिंगन विवाद को लेकर मीडिया में काफी बहस सामने आयी। इस विवाद के बारे में जितना मैंने पढ़ा, उसमें कहीं भी यह तर्क नहीं था कि बच्चों (और किशोरों) की यौनिक अभिव्यक्ति एक हद तक विकासात्मक भी हो सकती है। क्या कुछ व्यवहार विकास के नज़रिए से भी देखे जाने चाहिए? शोषण और स्वभाविक विकास के मामलों को अलग करना और उनमें फर्क करना ज़रूरी है, लेकिन यह विवेक लोकप्रिय चेतना में दिखता नहीं है ।

शिक्षक-शिक्षा और उसके आसपास घटित ऐसे ही कुछ उदाहरण लेकर, यह पर्चा बच्चों की यौनिक अभिव्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित करता है। बचपन की 'अयौनिक' परिभाषा की परतें खोलते हुए कुछ प्रश्न हमारे सामने आते हैं– क्या हमेशा से ही बच्चों को अयौनिक समझा जाता रहा है? भारत में यौनिकता किस प्रकार समझी जाती रही है? इन सवालों पर कुछ देर ठहरते हुए यह पर्चा यौनिकता के 'दमन' पर भी नज़र डालता है। इतिहास में 'दमन' की शुरुआत और बच्चे को 'अयौनिक' रूप से परिभाषित किया जाना– दोनों एक ही दौर में हुए। लगभग तभी

इस पर्चे में यौनिकता और सेक्शुआलिटी - दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया है।

से सार्वभौमिक रूप से बच्चों के शरीर को निर्मल और मन को मासूम कहा जाने लगा।

शिक्षक-शिक्षा चाहे कितनी भी विकसित हो और भले ही समीक्षात्मक सिद्धान्तों से करीब से क्यूँ न जुड़ी हो, बच्चों के व्यवहार के इस पहलू को नज़रन्दाज़ करती रही है। इस नज़रन्दाज़ी को हम कैसे आँकें? अहम सवाल यह है कि शिक्षक-शिक्षा जहाँ जेण्डर से जुड़े प्रासंगिक मुद्दों पर गहरी नज़र डालती है, वहीं क्या वह बच्चों की यौनिकता 'सुलगते कोयले' को पकड़ पाने की क्षमता विकसित करने से अभी भी कतराती है ?

बच्चों में यौनिकता की अभिव्यक्ति

बच्चों की यौनिकता के सन्दर्भ में स्कूलों में और रोज़मर्रा के जीवन में जो घटित होता है उसी से कुछ वाकए यहाँ बयाँ कर रही हूँ। कुछ वर्ष पहले दिल्ली के मध्य में स्थित एक नर्सरी स्कूल में अवलोकन के दौरान हुई एक घटना है यह। इस नर्सरी स्कूल में बच्चों के शौचालय के बिलकुल बाहर थोड़ी-सी खाली जगह है। एक दिन वहाँ अचानक एक 4 वर्ष के लड़के ने लगभग अपनी ही उम्र की लड़की को नीचे धकेल दिया और खुद उस पर लेट गया। कुछ देर वह ऐसा ही रहा। नर्सरी स्कूल की एक शिक्षिका ने यह देखा और उन्हें एक दूसरे से अलग किया।

एक अलग वाकए में, एक प्राइवेट स्कूल में एक 10 वर्षीय छात्र, लड़कियों के बाथरूम में ताका झाँकी कर रहा था। शिकायत मिलने पर अध्यापिकाओं और प्रधानाध्यापिका ने उस बच्चे को आड़े हाथो लिया और उसे स्कूल से कुछ समय के लिए निलम्बित कर दिया गया।

एक विद्यार्थी-शिक्षिका ने साझा किया कि उसकी कक्षा में एक दिन अचानक कक्षा चार की एक छात्रा फटे और बिलकुल भीगे कपड़ों में कक्षा में घुसी। बहुत पूछने पर छात्रा ने बताया कि उसी की कक्षा के एक छात्र ने गुस्से में ऐसा किया। वह आगे कुछ भी और नहीं बोलना चाहती थी। जब विद्यार्थी-शिक्षिका ने उसे और कुरेदा तो पता लगा कि एक लड़के ने उससे छेड़छाड़ की। लड़की के भाई ने उस लड़के की पिटाई की और इस जद्दोजहद में उसके कपड़े फट गए। उस पर जानबूझ कर पानी भी गिरा दिया। बच्चों के अनुसार उसने उस लड़की को गाल पर चूमा भी था। कामांग प्रदर्शन और बच्चों के कपड़े खींच लेना जैसी घटनाएँ भी प्राथमिक स्कूल में सामने आती हैं।

बच्चों की यौनिक अभिव्यक्तियों के बारे में खासकर भारत के सन्दर्भ में काफी कम लिखा गया है। न केवल पहले के समय में बल्कि वर्तमान में भी इस मसले पर काफी कम अध्ययन मिलता है। व्यवस्थित लेखन की इस कमी के चलते, इस पर्चे में, मैं तीन स्रोतों से इस मुद्दे पर समझ बनाने की कोशिश करती हूँ: भारत के इतिहास से कुछ चयनित लेख जिनमें यौनिकता के प्रति उस समय की प्रथाओं पर कुछ दृष्टि मिलती है; पिछले तीन दशकों में हुए स्त्री-विमर्श के क्षेत्र में परिवार के इतिहास पर हुआ शोध; सिगमंड फ्रायड, माइकल फूको और फिलीप एरीज के सिद्धान्त और बाल-विकास की अवधारणाएँ, जो एक विस्तृत रूप से बचपन की यौनिकता की समझ पर नज़र डालती हैं। चूँकि बचपन की अवधारणा अपने मौज़ूदा रूप में पिछले दो सौ सालो में ही सुदृढ़ हुई है, इतिहास के ग्रंथ सीधे-सीधे बच्चों के बारे में नहीं लिखते। इस स्थिति में हम उस समय की व्यापक मान्यताओं का एक विस्तृत नज़रिया ही बना पाते हैं।

भारत के सन्दर्भ में यौनिकता पर रवैया कैसा

जो वाक़ये यहाँ दिए गए हैं उन्हें इस पर्चे में शामिल किए जाने की पूर्व अनुमति घटना से सम्बन्धित व्यक्तियों से ले ली गई है। कोशिश की गई है की किसी भी बच्चे या व्यक्ति की पहचान यहाँ ज़ाहिर न हो।

यहाँ यह स्पष्टीकरण भी जरूरी है कि अठ्ठारह वर्ष से कम आयु के व्यक्ति को हम आज बच्चा कहते हैं। यह परिभाषा कानून के साथ-साथ व्यापक सांस्कृतिक, सामाजिक और मनोचिकित्सीय समझ से भी प्रेरित है। इतिहासकार लिखते हैं कि लगभग सौ साल पहले भी बारह या तेरह वर्ष की लड़की को शादी लायक माना जाता था। बचपन की श्रेणियाँ या कैटेगरी की सदस्यता बदलती रही है, जिससे इस विषय पर लिखना साफ-साफ तरीके से संभव नहीं है।

रहा है, अगला सेक्शन इस पर नज़र डालता है।

भारत में यौनिकता का इतिहास

तीसरी से बारहवीं शताब्दी के प्राचीन भारत में यौनिकता का दमन नहीं था। इस समय में लिखे गए 'कामसूत्र' और 'अनंग रंगा' (कल्याणमल्ला द्वारा लिखित) इस ओर संकेत करते हैं (कक्कर, 1990 ; श्रीवास्तव, 2001) (हालाँकि इन्हें ऊपरी सामाजिक वर्ग में ही पढ़ा जाता था)। दूसरी से चौथी शताब्दी के दौरान उत्तरी भारत में संकलित कामसूत्र में कामनाओं को एक शास्त्र की तरह वैधता मिलती है (रॉय, 1998, पृ. 54)। धर्म, अर्थ और काम, तीनों जीवन के अहम पहलू माने गए हैं। इस समय में यौनिकता को नैतिकता और धर्म के साथ सामंजस्य स्थापित करना पड़ा लेकिन यह अवरोध नहीं था (कक्कड़, 2016)। लगभग बारहवीं शताब्दी तक उन्मुक्त यौनिकता के काफी प्रमाण मिलते हैं, जिनमें शामिल हैं: आठवीं और नौवीं शताब्दियों की पहाड़ी चित्रकला, नौवीं और बारहवीं शताब्दियों के बीच बनी खुजराहो, बीकानेर और कोणार्क के मन्दिरों की शिल्पकृतियाँ।

क्रिड़ाभीरामामू, चौदहवीं शताब्दी में विनोकोंडा वल्लभार्य द्वारा लिखा गया तेलुगु नाटक भी इसी निरन्तरता की ओर संकेत करता है। यह नाटक वारंगल को एक ऐसे शहर के रूप में दिखाता है जहाँ प्रेम और यौनिक आनन्द खुले में दर्शाए जाते हैं (वल्लभार्य, 2002,पृ. 5)। अमेल लगने वाले लोग नाटक में कहीं जुड़े हुए व प्रदर्शित हैं, जैसे बीवियों और तवायफ़ों के बीच तुलना, व्यभिचारी पति पत्नी; मंदिर की ओर जाता हुआ एक व्यक्ति कामुक शब्द बोल रहा है आदि। इस समय यौनिक और धार्मिक दुनिया के बीच एक बड़ी खाई नहीं थी।

मध्यकालीन भारत में यौनिकता की झलक मुग़ल परिवार के 'हरम' से मिलती है। हालाँकि मान्यता यह है कि हरम में खुलेआम यौनिकता और आनन्द का माहौल था, इसके साथ-साथ लेखन में हरम को एक पवित्र स्थान माना गया है (मुखिया, 2004, पृ. 113)। मुग़ल परिवार के विषय में हरबंस मुखिया लिखते हैं कि निकाह करते समय उम्र का खास खयाल नहीं रखा जाता था। पाँच से सात साल के बच्चों की सगाई कर दी जाती थी, और बारह वर्ष की उम्र में निकाह, यह रेकॉर्ड में है (पृ. 124)। इस समय में रूपचित्रों से इतिहास का अभिलेखन भी प्रचलित हुआ, और शाही रूपचित्र एक तरह का प्रोपेगेंडा ही थे (भार्गव, 2010 पृ. 8)। शाहजहाँ काफ़ी ध्यान रखते थे कि उनकी तस्वीरों में कपड़े, ज़ेवर और आकृतियाँ काफी प्रतिरूपात्मक हों। इन तस्वीरों में शाही बीवियों, बेटियों या बहनों की तस्वीरें अलग से नहीं हैं, क्योंकि इन्हें आदमियों की नज़र से दूर रखा जाता था। कुछ ऐसे रूपचित्र जिनमें शाही औरतें नहीं थीं (जैसे गुफ-साफा) शरीर के सभी अंगों को प्रदर्शित करती हुई दिखाई गई हैं, महँगे कपड़े और ज़ेवर होने के बावजूद (पृ. 123)। अठारहवीं शताब्दी तक मिनिएचर तस्वीरों में कुछ और बदलाव काफी स्पष्ट दिखने लगते हैं जैसे हरम के माहौल में कामुकता है या अटेंडेंट्स के कपड़े झीने हैं।

रूबी लाल (2010) लिखती हैं कि बाबरनामा में बाबर एक केंप-बाज़ार के लड़के 'बाबरी' के प्रति काफी आकर्षण और प्रेम महसूस करने के बारे में लिखते हैं। प्रेम में वे मानो पागल-से हो गए और सुध-बुध खोकर इधर-उधर घूमने लगे, ऐसा उन्होंने लिखा है (पृ. 235)। इस समय के आम परिवारों में 'स्टेट' ने कुछ मामलों में हस्तक्षेप किया, जिनके बारे में दिलबाग सिंह (2010) लिखते हैं। वे रेकॉर्ड में यौनिक शोषण के मामलों का लेखा-जोखा पाते हैं, जिसे 'चमचोरी' कहा जाता था। यह संकेत करता है कि मुग़ल साम्राज्य के समयकाल में परिवारों और सम्बन्धों में काफी बदलाव आए थे, जिनमें अन्तरंगता और शरीर के प्रति 'नज़र' शामिल हैं।

पिछले दो सौ सालों में यौनिक उन्मुक्तता धीरे-धीरे विलुप्त हुई। इस विलोपन के काफी स्पष्टीकरण मिलते हैं। कुछ व्याख्या, अंग्रेजों के शासन के दौरान, ईसाई धर्म के प्रभाव को इस बदलाव का ज़िम्मेदार मानती हैं, जहाँ यौनिक सम्बन्ध को पाप की तरह देखा जाता था, शुद्धता

पर ज़ोर था और शरीर के साथ एक अजीब सा रिश्ता था। कुछ और व्याख्याएँ मध्यकालीन मुस्लिम हुकूमत को इस का ज़िम्मेदार ठहराती हैं, क्योंकि इसी समय के रूपचित्रों में शरीर पूरे ढँके हुए दिखने लगे (कक्कड़, 1990, 2016)। हालाँकि मध्यकालीन इस्लाम में यौनिक अवरोधता नहीं थी, और (कम से कम) मर्दों को अपनी यौनिकता छुपानी नहीं पड़ती थी। यह कहा जा सकता है कि भारत पर ईसाई धर्म और मुग़ल साम्राज्य दोनों का ही अपना प्रभाव पड़ा। लेकिन हिन्दू संस्कृति में भी कामुकता को अस्वीकृत किया गया। जीवनशैली को राह दिखाने वाली दो तरह की विपरीत विचारधाराएँ हमेशा ही प्रचलित रहीं– कामुकता और योग; कभी एक ज़्यादा प्रभावी हुई कभी दूसरी। दोनों ही विचारधाराएँ साथ-साथ बढ़ीं, परन्तु अलग-अलग समय पर कोई एक हावी रही।

योग से जुड़ी एक अहम जीवनशैली ब्रह्मचर्य है, जिसे आध्यात्मिक प्रगति के लिए अहम माना गया है। हिन्दू जीवन को प्रेरित करने वाले यम और नियम दिए गए हैं, जिनमें परहेज़, स्वयं पर नियन्त्रण और प्रतिबन्ध शामिल हैं (कक्कड़, 2016)। ज़िन्दगी के शुरुआती सालों में बच्चों और युवकों को ब्रह्मचर्य अवस्था के अनुरूप अध्ययनशील रहना है, गुरु या समुदाय से शिक्षा और व्यवसाय का ज्ञान प्राप्त करना है और लड़कियों व औरतों से दूर रहना है। ब्रह्मचर्य का एक उदाहरण पहलवानों के जीवन से मिलता है। आल्टर (1992) लिखते हैं कि पहलवान और साधुओं के लिए यौनिकता से दूरी एक शारीरिक और नैतिक मूल्य माना जाता है। वे विस्तार से लिखते हैं कि एक पहलवान अखाड़े की मिट्टी को माँ मानता है, जिसकी गोद में वो हमेशा एक कुँवारा, असेक्सुअल (अकामुक) बच्चा ही है (पृ. 131)।

एक और अहम मान्यता है कि वीर्य ही खून, पसीना, हड्डियों का आसुत है और उसे बचा कर रखना जरूरी है। पहलवान वीर्य को जीवन का अमृत मानते हैं, और उसे ताकत, ज्ञान और क्षमताओं का स्रोत मानते हैं (आल्टर, 1992)। संजय श्रीवास्तव (2001) भी लिखते हैं कि वीर्य बर्बाद करना मानो मर्दानगी खो देना है। वीर्य के प्रति ऐसी मान्यताएँ भारत के इतिहास से लेकर आज तक प्रचलित रही हैं। इसी वजह से आनन्द के लिए यौन खतरनाक माना जाता था क्योंकि इसमे वीर्य की बर्बादी है। इसी तरह मैथुन करना भी वीर्य की बर्बादी है, और ब्रह्मचर्य के मूल्यों के खिलाफ है। जो भी किशोर अखाड़े में आते थे उन्हें सिखाया जाता था कि वे अपनी दिनचर्या व्यस्त रखें, औरतों और लड़कियों को न देखें और कुछ भी महसूस होने पर हनुमान का ध्यान करें। हनुमान को उनकी सबसे अहम चारित्रिक विशेषता– ब्रह्मचर्य लिए ईष्ट माना जाता रहा।

किशोर लड़कों को वीर्य बचाना है, ऐसी मान्यताएँ लड़कियों/औरतों के सन्दर्भ में भी पाई जाती हैं। उपनिवेशी मद्रास के सन्दर्भ में आनंदी (1998) लिखती हैं, वैसे ही लड़कियों / स्त्रियों में अयौनिक 'रिप्रोडक्टिव' शरीर को आदर्श, आदर-योग्य देखा गया। यह संरचना पथभ्रष्ट और 'बदनाम यौनिकता' से बिलकुल विपरीत थी। बहुत से राजनैतिक संघ 'रिप्रोडक्टिव' बॉडी और 'सेक्सुयल' बॉडी (कामुक शरीर) को प्रतिद्वंद्वी के रूप से अभिव्यक्त करते थे। उपनिवेशी भारत में स्त्री-विमर्श की दृष्टि से लड़कियों पर काफी लिखा गया, जिसमें से 'एज ऑफ कोंसेंट' पर हुई बहस अहम है। 1891 में विधान (सेक्शन 375) पारित हुआ जिसके तहत 12 वर्ष से कम उम्र की लड़कियों के साथ यौन सम्बन्ध बनाना अवैध माना गया। इससे पहले यह उम्र 10 वर्ष थी। इस कानून को पारित करने में बहराम मालाबरी का हाथ था, जिन्हें यह प्रमाण देना पड़ा कि जल्दी शादी करना भारत के स्वर्णिम इतिहास में कहीं भी नहीं लिखा था। इसी समय में 1927 में कैथरीन मेयो ने *'मदर इंडिया'* नाम की किताब में लिखा कि भारतीयों की यौनिक अधिकता ही उनकी राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परेशानियों का कारण है। हिंदुओं की यौनिक विकृतियाँ ही उनकी कमज़ोर नस्ल का कारण हैं (सिन्हा, 1999, पृ. 213)। मेयो की थिसिस का असर हुआ कि 1929

में शारदा अधिनियम पारित हुआ, जिसके तहत यौन सम्बन्ध हेतु लड़कियों की न्यूनतम उम्र 14 साल और लड़कों की 16 साल तय कर दी गई। नारीवादी संगठनों द्वारा आन्दोलन करने पर 1949 में लड़कियों की उम्र बढ़ा कर 15 साल कर दी गई। 1982 में इसे 16 किया गया और 2013 में इसे 18 साल कर दिया गया।

1920 और 1930 के दशकों में शरीर और यौनिकता पर काफी बहस हुई, और इन मुद्दों को न तो दबाया गया और न ही यह सार्वजनिक दुनिया से अलग रखे गए, ऐसा संजम अलुवालिया लिखती हैं। इस समय में फादके और पिल्ले दो यौन-विज्ञानी थे जो यौनिकता के कुछ नियम तय करना चाहते थे, खासकर कामकाजी वर्ग के लिए। शोलापुर में पिल्ले एक 'बीवियों का क्लीनिक' चलाते थे, जिसमे केवल 18 साल से कम उम्र की स्त्रियों, कमज़ोर और बीमार स्त्रियों को ही वह गर्भ निरोध की जानकारी देते थे। गर्भ निरोध को स्कूली पाठ्यक्रम में शामिल करने पर भी पिल्ले ने काफी ज़ोर दिया (अलुवालिया, 2010)।

इस तरह इतिहास में कहीं बचपन की छवि भी शामिल है, जिसका अध्ययन नहीं हुआ। इप्सिता पांडे इस पर चर्चा करती हैं। 1920 और 1930 के समय के इतिहासकारों ने स्त्री-विमर्श से प्रेरित हो 'चाइल्ड-वाइफ़' को बहस का मुद्दा बनाया, और इसी के द्वारा बचपन को रेखांकित किया (पांडे, 2013)। बाद के उपनिवेशी भारत के समय में उम्र की श्रेणी के चुनाव से यह स्पष्ट होता है कि किस तरह एक राजनैतिक सब्जेक्ट- 'बच्चे की श्रेणी' नाजायज़ सम्बन्धों के सन्दर्भ में ही निर्मित हुई (पृ 335)। पांडे तर्क देती हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हुई बालिका-वधू की मौत को 'औरतों का मुद्दा' मान इतिहासकारों ने एक महत्वपूर्ण मौका खो दिया वह था 'चाइल्ड' सब्जेक्ट का।

अश्विनी तांबे (2009) और इप्सिता पांडे (2013) के तर्क प्रदर्शित करते हैं कि बच्चे की श्रेणी को इतिहासकारों ने नज़र अन्दाज़ किया। लेकिन मेरी समझ में यह एक चूक नहीं है क्योंकि वास्तव में इतिहास को उस समय प्रचलित श्रेणियों से ही समझना तर्कपूर्ण है। बचपन की हमारी आज की समझ जिसमें हम बच्चे को उत्पति और प्रजनन (प्रोडक्शन और रीप्रोडक्शन) से दूर रखते हैं, यह समझ धीरे-धीरे ही व्यापक समाज में स्वीकार्य हुई है।

बचपन की 'अयौनिक' परिभाषा बाल विकास के दृष्टिकोण से

यदि मानव विकास के दृष्टिकोण से परखा जाये तो इंसान आजीवन सेक्सुअल या कामुक रहता है। यह यौनिकता अलग-अलग चरणों में अलग-अलग रूप से व्यक्त होती है। यौनिकता के जैविक और व्यावहारिक घटक होते हैं ।

जन्म से बच्चों में लैंगिक प्रतिक्रिया मौजूद होती है, अनेक शोधकर्ताओं ने, डॉक्टरों ने और अभिभावकों ने ऐसा वर्णित किया है। शिशु बहुत ही सहज और स्वभाविक रूप से अपने जननांगों से 'खेलते' हैं। छह से नौ वर्ष की उम्र के बीच यह खेल धीरे-धीरे खुल्लमखुल्ला न रहकर चोरी-छुपे होने लग जाता है। शिशुओं और छोटे बच्चों के कुछ कामुक अनुभव होते हैं। साथ ही, इसी अवस्था में बच्चा अपनी सामाजिक लिंग-नारीत्व या पुरुषत्व की पहचान बना रहा होता है। बच्चे यह पहचान लगभग 3 साल की उम्र तक बना लेते हैं। साथ ही, अपने समाज के काफी कहे-अनकहे नियमों को भी वे आत्मसात करने लगते हैं। लगभग इसी उम्र से सामाजिक मानदण्डों के अनुसार बच्चों का जेण्डर समाजीकरण भी होता है। इससे बच्चे यह समझ पाते हैं कि पुरुष और स्त्रियों से कैसा व्यवहार अपेक्षित है (बुससे और बैनडुरा, 1999) ।

तीन से सात वर्ष की उम्र में बच्चों की यौनिकता में रुचि बढ़ती है। बच्चे यह भी समझ पाते हैं कि पुरुष और स्त्री के बीच में लैंगिक फर्क होते हैं। इसी दौरान वे शादी और लम्बे समय तक चलने वाले रिश्तों की समझ बनाते हैं। साथ ही, घर-घर और डॉक्टर-डॉक्टर जैसे खेलों से वे वयस्कों की भूमिका और उत्तरदायित्व

को कुछ-कुछ समझ पाते हैं। बाल-विकास के क्षेत्र में हुए शोध में बार-बार यह निष्कर्ष निकला है कि खेल-खेल में शारीरिक छान-बीन करना करीब-करीब सार्वभौमिक ही है। अपने शरीर के बारे में जिज्ञासा, ख़ुशी, सम्मोहन लगभग सभी महसूस करते हैं और यह सहज और स्वाभाविक भी है। पर सामाजिक डर से हमने इन सभी भावनाओं को कहीं कुचल सा दिया है। नतीजतन, वयस्क होने पर हम ऐसा ही मान लेते हैं कि हमारे खुद के बचपन में ऐसा कुछ था ही नहीं।

दरअसल हमने आधुनिक युग में बच्चे की जो छवि आत्मसात कर ली है– वह यह है कि वह बिल्कुल 'असेक्सुअल' (अयौनिक) और निर्मल हो और 18 वर्ष की आयु में पहुँचते ही वह यौनिक हो जाए– वो भी हेट्रोसेक्सुयल (दो विपरीत लिंगों में आपसी आकर्षण और सम्बन्ध के आधार)। वयस्कों और बच्चों के बीच की जो यह अजीब सी खाई है, यह साफ दिखती और महसूस की जाती है। इस फर्क में 5 और 17 साल के आयु के लोगों (बच्चों) को समान समझा जाता है, और 17 और 20 वर्ष के लोगों के बीच बहुत फर्क माना जाता है (हॉल्ट,1974 /2010)। जब बच्चा वयस्क हो जाए तो हम अकस्मात ही उससे ज़िम्मेदार व्यवहार की उम्मीद करने लगते हैं, खासकर सेक्शुअलिटी के मामले में। कुछ भी सीखना धीरे-धीरे बढ़त के साथ होता है, यह समझ शायद कहीं यौनिकता के मामले में तो नहीं दिखती।

बचपन और यौनिकता

वयस्कों और बच्चों के बीच अलगाव के बारे में फिलिप एरीज़ (1962) ने लिखा है। बचपन और परिवार के सामाजिक इतिहास पर 'सेंचुरीस ऑफ चाइल्डहुड' में फिलिप एरीज़ लिखते हैं कि ऐसा हमेशा से नहीं था कि बच्चों को कम मूल्य दिया जाता हो, उन्हें अक्षम माना जाता हो। बारहवीं शताब्दी की यूरोपीय कला में बचपन नहीं था और न ही उसे दिखाने की कोशिश की जाती थी (पृ. 33)। तेरहवीं शताब्दी की कला में भी बच्चों की जगह केवल पुरुष ही दिखते थे, एक छोटे अनुपात में बनाए गए (पृ 34)। पहले बच्चे इसी शताब्दी में 'एंजेल' के रूप में दिखने शुरू हुए। चौदहवीं शताब्दी से ईसु का बचपन दिखना शुरू हुआ (पृ 36)। पन्द्रहवीं और सोहलवीं शताब्दी से यह 'पावन बचपन' आम जनता के परिवारों को और उनके बच्चों को दिखाने लगा। सत्तरहवीं शताब्दी से बच्चे अकेले ही दिखाए जाने लगे (पृ 42)। यह बदलाव चित्रों का ही नहीं बल्कि विस्तृत समाज की झलक देता है।

यूरोप में अठारहवीं शताब्दी से पूर्व बच्चों को यौनिक मामलों से अलग नहीं रखा जाता था– यह एक महत्वपूर्ण फ़र्क है, जिसकी मदद से एरीज़ आधुनिक बचपन की अवधारणा की व्याख्या करते हैं। फ्रांस के नन्हें राजकुमार लुई XIII के समाजीकरण का उदाहरण देते हुए वे इस मामले पर प्रकाश डालते हैं। लूई के डॉक्टर, हेरोरर्ड एक डायरी लिखा करते थे जिसमें वे लुई के रोज़मर्रा के क्रियाकलापों और गतिविधियों के बारे में लिखते थे। उस समय के और राजकुमारों की तरह लुई भी नाच गाना, वाइलिन बजाना और टैनिस खेलना सीख रहा था। वह गुड़ियों से खेलता था, सैनिकों के साथ मजे करता था और जुआ भी खेला करता था। लुई की देख-रेख करने के लिए बहुत से नौकर-चाकर थे, एक आया भी था जिनके साथ लुई खुला और उन्मुक्त व्यवहार करता था। इस दौरान वह इन सभी अन्तःक्रियाओं से अपने शरीर के बारे में अनेक रहस्य खोज रहा था।

"लुई XIII अभी तक एक साल का नहीं हुआ था। जब उनकी आया ने उसके लिंग को अपनी उंगली से हिलाया तो वह ज़ोर से हँसने लगा। यह एक मज़ेदार शरारत थी जिसकी लुई ने जल्द ही नकल कर ली। एक सहायक को बुलाकर वह चिल्ला कर बोला 'सुनो, जरा' और अपना जामा उठा कर अपना लिंग दिखाने लगा।

वह एक साल का था, जब बहुत उत्तेजित होकर उसने सब से कहा कि वे उसका लिंग चूमें। इससे सब 'हँसने लगे' हेरोरर्ड अपनी

डायरी में लिखते हैं।"(पृ. 100)

लुई की जिन्दगी के शुरुआती तीन सालों में महल के सभी लोग बेहिचक होकर (लुई से) व्यवहार करते थे। लुई को पता था कि 'शिशु' कैसे बनते थे, और उसने अपने उन्मुक्त व्यवहार से दरबार में बहुत लोगों को हँसाया था (एरीज़, 1962)।

एरीज, लुई और उस समय के आम बच्चों के बारे में जो विवरण देते हैं उस से साफ लगता है कि फ्रांस के मध्यकालीन समाज में बच्चों को यौनिक मामलों से अलग नहीं रखा जाता था। एरीज़ खास तौर से उन लड़कों के बारे में लिखते हैं जिनके साथ 7 साल की उम्र तक सभी लोग मस्ती करते थे। बच्चे एक मासूमियत की दुनिया में नहीं रहते थे। इसके विपरीत, एक लड़के से यह उम्मीद की जाती थी कि बहुत ही छोटी उम्र से ही वो वयस्क समाज में अपनी जगह बना लेगा। अभिभावक, आया, नौकर और अन्य कर्मचारी, बच्चों से उन्मुक्त व्यवहार करते थे। यौनिकता को ज़िन्दगी का प्राकृतिक और अहम हिस्सा माना जाता था। बच्चों से यौन सम्बन्धित बातें छुपाई नहीं जाती थीं। सत्रहवीं शताब्दी के बाद यह वास्तविकता बदलने लगी। अठारहवीं शताब्दी में बच्चों के साथ क्या व्यवहार यथोचित है, इस बारे में कड़े नियम स्थापित होने लगे। यह माना जाने लगा कि बच्चों को निम्न वर्ग के लोगों से और नौकरों से दूर रखना चाहिए। रवैये में इस बदलाव के साथ ही कुछ और बदलाव भी नज़र आने लगे। स्कूली व्यवस्था सुनियोजित होने लगी, बच्चों और वयस्कों को एक दूसरे से अलग रखना (विसंयोजन) और विद्यार्थियों में मठ या आश्रम के समान जीवन शैली ज़ोर पाने लगी।

इस सन्दर्भ में फ्रायड ने अपनी पुस्तक 'थ्री एस्सेस ऑन सेक्शुआलिटी' (1953) में और डॉ. एम फुर्स्ट को खुले पत्र में भी लिखा कि बच्चों से यौनिक जीवन की सच्चाई निश्चय ही छुपानी चाहिए (फ्रायड, 1953, पृ 133)। नन्हे हॉन्स का इलाज़ फ्रायड ने किया था और वह इस बारे में विस्तार से लिखते हैं। नन्हें हॉन्स का केस फ्रायड के सबसे मशहूर केसों में से एक है। हॉन्स के पिता ने फ्रायड को चिट्ठियाँ लिखी; जिस पत्राचार के माध्यम से हॉन्स के पिता ने उसका इलाज़ किया। पाँच वर्षीय हॉन्स को घोड़ों से बहुत डर लगता था। एक बार जब हॉन्स ने एक घोड़े को सड़क पर भार की वजह से गिरते हुए देखा तब से उसे फोबिया या डर-सा हो गया और उसने अपने घर से बाहर निकलना भी बन्द कर दिया। इसी दौरान उसकी एक छोटी बहन भी पैदा हुई। फ्रायड लिखते हैं–

"मैं एक दिलचस्प लड़के को जानता हूँ, जो अब 4 साल का है। उसके नर्मदिल अभिभावक उसके विकास के किसी भी पहलू को दबाना नहीं चाहते। हॉन्स को किसी नर्स ने लुभाया तो नहीं है, पर उसे अपने एक अंग में खास रुचि है– जिसे वह 'विद्द्लर' कहता है। जब वो तीन साल का था तब उसने अपनी माँ से पूछा कि क्या उनके पास भी 'विद्द्लर' है, तो उसकी माँ ने जवाब दिया– हाँ है। यही सवाल उसने अपने पिता से भी किया। लगभग उसी उम्र में जब उसने पहली बार एक गाय को दुहते देखा तो वह ज़ोर से बोल उठा– 'देखो गाय के पास भी 'विद्द्लर' है !'... सही मायने में अपने अवलोकनों के आधार पर हॉन्स वर्गीकरण कर रहा है।" (फ्रायड, 1953, पृ. 134-5)

यह माना जाने लगा था कि हॉन्स के डर का स्रोत घोड़ों के जननांगों से जुड़ा है। उपर्युक्त अनुच्छेद और विवरण में हॉन्स के ध्यान का केंद्र सेक्सुअल पार्ट्स थे। फ्रायड इस अवस्था को 'फ़ेलिक' स्टेज (3-6 साल की आयु) मानते हैं। इस स्टेज में बच्चे 'ईडीपस कॉम्प्लेक्स' के संकेत दिखलाते हैं– जिस के तहत बच्चे अपनी माँ के प्यार को पाने के लिए अपने पिता से द्वेष महसूस करते हैं। उन्हें लगता है कि उनके पिता उन्हें अपनी माँ से दूर कर देंगे, और शायद इसके लिए उन्हें नपुंसक बना देंगे। यह डर ही इस अवस्था को परिभाषित करता है।

फ्रायड दावा करते हैं कि हॉन्स की जिज्ञासा बहुत सहज रूप से सामने आती है क्योंकि वह

अभी 'उत्पीड़ित' नहीं हुआ है। वह मज़लूम नहीं हुआ है और 'अपराध बोध' से परे है। अपराध बोध और शर्म से दूर रहने से ही हाँन्स की अपने शरीर के प्रति जिज्ञासा फलित हुई, ऐसा फ्रायड मानते हैं। लेकिन साथ ही यह कहा जा सकता है कि हाँन्स की कहानी इन सभी विचारों और भावनाओं के उद्गम की भी कहानी है (ड्रिसकल, गारलैंड एण्ड हिकी-मूडी, 2009)।

आगे चलकर फूको (1984) भी लिखते हैं कि वास्तव में हाँन्स की कहानी ने बच्चों की यौनिकता की समझ पर गहरा प्रभाव छोड़ा। यह माना जाता है कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियाँ यौनिक दमन का दौर था। यौन सम्बन्धी बातचीत नहीं होती थी और उससे जुड़ी बातों और चीज़ों से भी परहेज किया जाता था। फूको 'हिस्ट्री ऑफ सेक्शुआलिटी' में इस धारणा का खण्डन करते हैं और तर्क देते हैं कि इस दौर में विभिन्न क्षेत्रों में अधिक से अधिक चर्चा, विवाद, ट्रीटीज़, विशेषज्ञों की राय आदि एकत्रित हुई। बच्चों की यौनिकता के बारे में भी काफी बातचीत हुई। वे लिखते हैं कि यही वो समय था जब "धीरे- धीरे सेक्स के बारे में डिस्कोर्स शुरू हुए" ... और साथ ही, "सामाजिक संस्थाओं में सेक्स के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा बात करने की उत्तेजना थी; और सत्ता की संस्थाएँ (या एजेंसियाँ) सेक्स के बारे में दृढ़ रूप से सुनना चाहती थीं, और उनकी कोशिश थी कि सेक्स की स्पष्ट अभिव्यक्ति और विस्तृत ब्यौरा भाषा में हो (फूको, 1998, पृ. 18)।

शुरू में चिकित्सा-ज्ञान ने मानसिक परेशानियों पर नज़र डाली, फिर मनोरोग विज्ञान ने। इस नज़र में सेक्स की अधिकता की बात भी थी, फिर उस से जुड़ी कुंठाओं की, फिर धीरे-धीरे सभी यौनिक विकृतियाँ इसी नज़रिए से समझी जाने लगीं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में छोटी से छोटी अश्लीलताएँ और मामूली विकृतियाँ भी मनोरोग विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में शामिल होने लगीं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक, दो लोगों के बीच की यौनिकता, अभिभावक और बच्चों के बीच के सम्बन्ध, किशोर के सम्बन्ध– सभी पर सामाजिक नियन्त्रण नज़र आने लगे। ये नियन्त्रण तरह - तरह के खतरों से सुरक्षा, अलगाव और चेतावनी देते थे। लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ, तरह-तरह की रिपोर्ट बनी, थेरेपी और इलाज़ प्रचलित होने लगे, लक्षण देखकर बताना कि क्या रोग है, यह सभी इस नियंत्रण का हिस्सा थे (और हैं)। इन क्षेत्रों में यौनिकता से सम्बन्धित डिस्कोर्स प्रबल हुए जिससे लोगों में इस विषय को लेकर एक डर हमेशा रहने लगा। यह डर ही यौनिकता के बारे में और बातचीत करने की प्रेरणा बना (फूको, 1998: पृ. 31)।

द हिस्ट्री ऑफ सेक्शुआलिटी (1984) के शुरुआत में ही माइकल फूको तर्क देते हैं कि जिसे हम 'सेक्शुआलिटी' या यौनिकता समझते हैं वह वास्तव में विक्टोरियन बचपन की छवि पर आधारित है :

"सब जानते थे कि बच्चों में यौन (सेक्स) नहीं होता, इसलिए बच्चों के लिए उसके (सेक्स के) बारे में बातचीत करना वर्जित था। इसीलिए जब भी वे इसके विपरीत कुछ प्रमाण दर्शाते थे तो हम अपनी आँखें मूँद लेते थे और अपने कान बन्द कर लेते थे। और इसी कारण उस मुद्दे पर एक व्यापक और सोची-समझी चुप्पी थोपी जाती थी" (फूको, 1984, पृ. 4)।

यौनिकता की इस कहानी में बच्चों का स्थान कहाँ है, इस पर भी फूको ने अपने विचार रखे। वे "बच्चों के यौन शिक्षाशास्त्र" के बारे में लिखते हैं, जिसमे बच्चों की यौनिक सम्भावनाओं का अनुशासन और यौन सम्बन्धी खतरों से उनकी सुरक्षा शामिल हैं। "बच्चों के यौन शिक्षाशास्त्र" में फूको द्वारा चार युक्तियाँ प्रतिपादित जो यौन सम्बन्धित ज्ञान और सत्ता के विशिष्ट तरीकों को सम्मिलित करने वाली युक्तियाँ हैं। ज्ञान की इस समझ से नए यौनिक सब्जेक्ट सामने आए, जैसे हस्तमैथुन करने वाले किशोर।

फूको के अनुसार यह नज़रिया 'बायोपॉलिटिक्स' के लम्बे इतिहास को सूचित करता है। नैन्सी क्षेपर-हेग्स (1987) लिखती हैं कि प्रजनन (रिप्रोडक्शन) और यौनिकता, काम में और

फुर्सत में, बीमारी में या फिर किसी असामान्यता में शरीर के नियंत्रण और निगरानी को बॉडी-पॉलिटिक कहा जाता है। यह शरीर वैयक्तिक और सामूहिक दोनों ही हो सकते हैं। इस बॉडी-पॉलिटिक की स्थिरता जनता को नियंत्रित करने की क्षमता और वैयक्तिक शरीरों को अनुशासित करने की क्षमताओं पर निर्भर करती है।

जब भी सामाजिक व्यवस्था को खतरा महसूस होता है और शुद्धता से जुड़े मामलों के बारे में चिन्ता सामने आती है, चाहे वह यौनिक शुद्धता हो या रिवाज़ों की, तब सामाजिक और वैयक्तिक नियंत्रण और भी गहन हो जाता है। यह गम्भीरता, सामाजिक और शारीरिक दायरों के प्रति सतर्कता के रूप में सामने आती है (क्षेपर - हेग्स, 1987, पृ. 24)। फूको के कार्य को बॉडी पॉलिटिक में सम्मिलित किया जा सकता है। बच्चों के किसी भी व्यवहार से यदि सामाजिक दायरे का उल्लंघन सामने आता है, तो सभी सजग रूप से उस व्यवहार की निन्दा करते हैं, और कोशिश रहती है कि दायरा और भी कसा जाए।

प्रतिक्रियाएँ

तिरुवनन्तपुरम के आलिंगन मामले में, किशोर लड़के को अपनी बारहवीं कक्षा की परीक्षा नहीं लिखने दी गई और मामला कोर्ट तक पहुँच गया। स्कूल का कहना था कि ऐसी हरकतों से अनुशासन बिगड़ता है।

नर्सरी स्कूल का चार साल का बच्चा, जिसका उल्लेख इस पर्चे की शुरुआत में है, उस घटना के तुरन्त बाद ही उस के अभिभावकों को इत्तला कर दी गई। जाँच पड़ताल से पता चला कि शायद बच्चे ने घर पर जो देखा उसी को स्कूल में दोहराया। ये उदाहरण दर्शाते हैं कि किस तरह बच्चों की हर यौनिक अभिव्यक्ति को बिलकुल असामान्य और गलत माना जाता है और ऐसी छोटी से छोटी घटना की प्रतिक्रिया में वयस्क बिलकुल व्यग्र हो उठते हैं।

अक्सर प्राथमिक कक्षाओं में ऐसे दृष्टान्त कुछ अधिक उद्वेलित कर देते हैं। इस भावात्मक प्रतिक्रिया का स्रोत है कि हम बच्चों को भोला, मासूम और यौनिकता से परे समझते हैं। सामान्य समझ के अनुसार बच्चों को नादान और दुनिया की बुराईयों से, पाप और कामुकता से दूर होना चाहिए।

कहीं न कहीं बच्चों और शिक्षकों के बीच सेक्स पर चुप्पी ही 'इनसाइटमेंट टु डिस्कोर्स' है। एक ओर बच्चों की जिज्ञासा है, अपने आस पास खोजबीन करने की चाह है, भीतरी हसरतों को मूर्त रूप में बाहरी दुनिया में प्रकट करने की ज़रूरत है और दूसरी ओर वयस्कों की बच्चों के बारे में अवधारणा है कि वे यौनिकता से बिलकुल परे हैं। इन दोनों के बीच एक बड़ी खाई है। इस खाई को जब पाटना पड़ता है तब आरोप-प्रत्यारोप, अवहेलना, बदनामी, दोषारोपण दिखते है। जैसे ही वयस्क किसी उल्लंघन के बारे मे सुनते हैं, या देखते हैं, तो तुरन्त ही दबी आवाज़ में उसके बारे में बातें करने लगते हैं- आपस में, मैसेज पर, अभिभावकों से, अपने साथियों से, सोशल मीडिया पर। हमारी नागरिकता सजग हो उठती है और शर्म का न होना अपराध के रुप में सामने आता है। मान्यता यह है कि यदि ऐसा कुछ सामने आए जिससे लगे कि बच्चे यौन और उसकी अभिव्यक्ति से पूर्णत: अनभिज्ञ नहीं है, और नैतिक रूप से श्रेष्ठ नहीं हैं तो ऐसी घटनाओं में वयस्कों को या तो डर लगना चाहिए या फिर दया आनी चाहिए, जैसे कि त्रासदी देखते समय होता है। एगन एण्ड हॉक्स (2009) लिखते हैं, "बच्चों में यौनिकता की संरचना कुछ भयानक और सामाजिक तौर पर अस्वीकार्य हो कर बाहरी उद्दीपन का नतीज़ा लगने लगती है, जिसके चलते किसी भी यौनिक अभिव्यक्ति को घृणास्पद करार दिया जाता है और वयस्कों द्वारा हस्तक्षेप की ज़रूरत के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है" (पृ. 389)।

ऐसी स्थितियों में अक्सर दबी आवाज़ों में सुनाई पड़ता है कि बच्चा अपने आसपास जो देखेगा वही तो सीखेगा- चाहे वह अभिभावकों से हो, परिवार से या फिर मीडिया से। इसी सन्दर्भ में नील पोस्टमेन (1985/1994) अपनी

किताब 'द डिसअपिएरेंस ऑफ चाइल्डहुड' में लिखते हैं, कि आजकल के माहौल और मीडिया दोनों में ही बच्चों को ऐसे सन्देश मिलते हैं जो उन्हें मासूमियत से दूर करते हैं और यही बचपन का अन्त है।

सामाजिक वर्ग और यौनिकता

कहना न होगा की मध्यमवर्गीय दृष्टिकोण और साथ ही यह मान्यता कि बच्चे यौनिकता की बुराई से दूर रहें– यह दोनों विचारधाराएँ एक दूसरे को सुदृढ़ करती हैं। नतीज़तन, मध्यम-वर्गीय लोग समाज के निचले वर्ग में बच्चों के समाजीकरण को या कहें तो उसके अभाव को घिनौनी नज़रों से देखते हैं। क्योंकि एक कमरे के घर में बच्चों से कुछ भी बेपर्दा नहीं रह पाता है। किसका व्यवहार शर्मनाक है, किसका त्यागा जा सकता है, किसको माफ कर दिया जाता है– यह इस पर निर्भर करता है कि 'कर्ता' कौन है और सन्दर्भ क्या है। प्रतिक्रिया इससे भी प्रभावित होती है कि किस सामाजिक वर्ग के बच्चे इस घटना में शामिल थे। मान्यता यह है कि क्योंकि निचले सामाजिक वर्ग के परिवार बुरे तरीके से बने मकानों में रहते हैं, या उनके अभिभावक लापरवाह हैं या वो सिर्फ ऊब गए हैं इसलिए बच्चों ने यौनिक व्यवहार किया।

निचले सामाजिक वर्ग के प्रति ऐसे रवैये से इतिहास में भी एक निरन्तरता सी रही है। कामसूत्र भी औरतों और निचले सामाजिक वर्ग के मर्दों के बनिस्पत, ऊपरी सामाजिक वर्ग के मर्दों की हेट्रोसेक्सुअल चाहतों को ही वैध करार देता है (रॉय, पृ. 56)। उन्नीसवीं शताब्दी के समाज सुधारकों में भी कुछ ऐसे ही विचार सामने आते हैं। फादके का जिक्र ऊपर लेख में हुआ है। भारत के समक्ष सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में वे लिखते हैं "और अगर आप एक अंधेरे, मटमैले, धूल भरे मिल में काम करने वालों की झुग्गी–झोपड़ी में गए हों तो आप पाएँगे कि लगभग हर परिवार में या तो औरत माँ बनने वाली है या अभी हाल ही में बनी है। और फिर हमारी नज़र पड़ती है सड़क के उन लफंगों पर जो कूड़े के ढेर पर खाना ढूँढ़ते हैं और गटर में सो जाते हैं। हम पाएँगे कि ये खुद बहुत से बच्चे पैदा करेंगे। हमें उस कुतिया की याद आती है जो साल में चार बार पिल्ले देती है" (नारायण सीताराम फादके, सेक्स प्रोब्लेम इन इंडिया, 1927; अलुवालिया 2010 से लिया गया)।

पिल्ले का जिक्र उपरलिखित टेक्स्ट में आया है। पिल्ले ने आग्रह किया कि नैतिक मूल्यों की शुरुआत घर से होनी चाहिए, जहाँ "नियमितता, आज्ञापालन, ज़मीर, खुद की सफाई और शरीर के प्रति आदर, संयम, शर्म और शुरुआती खेल"– यह सब सिखाया जाए। अभिभावकों की ज़िम्मेदारी है कि वे बच्चों को इसकी ट्रेनिंग दें (अलुवालिया, 2010, पृ. 109)। मध्यमवर्गीय अभिभावकों को सलाह दी जाती थी कि वे अपने बच्चों को नौकरों से दूर रखें क्योंकि नौकर उन्हें मैथुन और अन्य तरह की वर्जित यौनिक क्रियाएँ भी सिखा देंगे।

निचले वर्ग के लोग ही सभी सामाजिक परेशानियों का कारण हैं और उनके बच्चों का उत्थान सबसे ज़्यादा ज़रूरी है, क्योंकि बड़े होकर सेक्सुअल जुर्म अधिकतर वही करते हैं, ऐसी मान्यताएँ आज भी प्रचलित हैं। खासकर शिक्षकों को लगता है कि घर का माहौल, और रोज़ाना अपने आस–पास यौनिकता और हिंसा देख कर बच्चे इससे अभ्यस्त से हो गए हैं।

आँखें मूँदे शिक्षक-शिक्षा

इन मुद्दों पर हमारी सोच यह दर्शाती है कि किस तरह हमारी मान्यताएँ धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों से प्रेरित हुई हैं। सबसे पहले ज़रूरी है कि शिक्षक अपनी मान्यताओं को समझ लें और अपनी स्वयं की सहमति बना लें। बचपन की संस्था भी एक राजनीतिक रचना है चूँकि वह ही एक (अच्छा) बच्चा होने के नियम बनाती है। आधुनिक दुनिया में बचपन की संस्था में अभेद्य मासूमियत से और नैतिकता से ही प्रवेश मिलता है।

एक अतिनैष्ठिक (या प्यूरिटन) रुख बचपन की संस्था से आज भी करीबी जुड़ाव रखता है, पर हमारे भारतीय सन्दर्भ में 'दिव्य' रूप ज़्यादा

प्रचलित है। लगभग भारत के सभी हिस्सों में आज भी बच्चे को (खासकर लड़कों को) कृष्ण का रूप माना जाता है (साही 2018)। "इस दिव्यता का स्वरूप एक-आयामी या सरल न होकर, कुछ ऐसा जटिल है जिसमें मस्ती, तोड़-फोड़, खुशी, उत्सुकता, लाड़लापन, तेजस्विता और सृजनशीलता है" (साही, 2018, पृ 130)।

लेकिन इसके साथ ही यह भी माना जाता है कि वयस्कों की दुनिया से बच्चों को बिलकुल अलग-थलग रहना है, उनके काम-धन्धे, ज़िम्मेदारियों, व्यसनों, दुष्कर्मो से और मजे से भी। उत्साही (2010) अपने जीवन से दो-तीन उदाहरण देते हुए कहते हैं कि हमारे सन्दर्भ में "बाल्यावस्था में यौन विषयक चर्चा करना हमेशा विवाद का विषय रहा है"। शायद दिव्यता का वह रूप जहाँ कृष्ण गोपियों के साथ मस्ती करते थे, वह सिर्फ पूजनीय ही रह गया और परिवार और शिक्षा की आधुनिक संस्थाओं ने हमारे बच्चों के जीवन से इस मस्ती को दूर कर दिया।

वास्तव में, जब भी ऐसे कुछ वाकए सामने आते हैं, तो मैं और मेरे शिक्षक और विद्यार्थी साथी अपने आप को असमंजस में और अक्षम महसूस करते हैं। यह असमंजस क्यों होता है? ऐसा शायद इसलिए क्योंकि बच्चों की यौनिकता पर खुल कर बात करना काफी कठिन मामला है। अभिभावक और शिक्षक दोनों ही यह मानते हैं कि बच्चे असेक्सुअल होते हैं और जब भी उनका सामना बच्चों की किसी ऐसी हरकत या बातों से होता है तो वह उद्वेलित हो जाते हैं। वह अपने आप को सवालों के जवाब देने में या फिर बच्चों के ऐसे व्यवहार को सम्बोधित करने में असक्षम महसूस करते हैं। दूसरा, वयस्क यह समझते हैं कि यौनिकता से सम्बन्धित किसी भी मामले की चर्चा खुले में नहीं, बल्कि बन्द दरवाज़ों में ही होनी चाहिए।

एक मायने में, शिक्षक-शिक्षा बिल्ली के डर से आँखें मींचे एक कबूतर के समान है। जेण्डर का डिस्कोर्स है तो सही, पर क्या उसमें यौनिकता शामिल है? देश में लागू विभिन्न पाठ्यक्रमों पर एक सरसरी निगाह दौड़ाई तो स्पष्ट रूप से लगा कि हम इस मुद्दे पर समझ नहीं बनाते। भारत के सन्दर्भ में नेशनल करीक्यूलम फ्रेमवर्क फॉर टीचर एजुकेशन(2009) में आलेखित शिक्षक-शिक्षा के राष्ट्रीय पाठ्यक्रम में इस विषय की कोई भी चर्चा शामिल नहीं की गई है। सभी राज्यों के पाठ्यक्रम इसी ढाँचे पर आधारित हैं और निश्चय ही इनमें भी इस मुद्दे पर विमर्श नहीं है। इस चुप्पी से ही यौनिकता का 'डिसकरसिव' निर्माण होता है।

ऊपरलिखित चर्चा स्पष्ट करती है कि शिक्षक-शिक्षा को फील्ड में ऐसे उदाहरणों पर ध्यान देना चाहिए जो नीचे दिए मसलों को पलटने में मदद करें। पाठ्यक्रम, पाठ-विवरण और शिक्षाशास्त्र की इन मुद्दों पर चुप्पी है। दूसरा, बच्चे अयौनिक हैं या ऐसा कोई हल्का सा व्यवहार भी खतरे की घण्टी का सूचक है: ऐसी समझ हमारी आम ज़िन्दगी और शिक्षा में मौज़ूद है। तीसरा, ऐसी सत्ता का निर्माण जो केवल निषेध पर आधारित है, कक्षाओं में बच्चों का एक साथ बैठना और आपसी बातचीत भी निषेध कर देता है।

शिक्षक-शिक्षा में इन सभी के न तो आसान जवाब हैं और न ही ऐसी कोई जादू की पोटली है जिसमें से कुछ फुर-फुर निकले और आनन-फानन में मुद्दे से 'डील' कर ले। एक अहम बात यह है कि शिक्षकों को यह समझ बनानी होगी कि कहाँ मुद्दा गम्भीर है और कहाँ सिर्फ विकासात्मक। बच्चों की क्रियाओं को अन्वेषणात्मक, चंचलता-चपलता, या फिर सन्देहास्पद किस श्रेणी में रखना चाहिए, तय करने से पहले ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं, कि जो हुआ वह बहुत गलत है। हर घटना पर 'सोची-समझी' राय बनानी ज़रूरी है। क्या खेल-खेल में अन्वेषण हो रहा है या फिर कुछ गहन गम्भीर मुद्दा है। यह विवेक और बारीकी ज़रूरी है। 'मज़ा' क्या है और कैसे किसी और का अपमान और उल्लंघन कर मज़ा नहीं मिल सकता– यह बातें खोल पाना अत्यन्त आवश्यक है।

दूसरा, यह समझना कि बच्चों की यौनिकता

हमेशा से ही इस तरह नहीं देखी, समझी जाती रही है; बचपन की संरचना समय और स्थान पर आधारित है, यह जान लेने से हमारे नज़रिए में बदलाव आता है। उम्मीद है कि ऐसी मान्यताओं को खोलने के बाद शिक्षक और विद्यार्थी-शिक्षक अपने सहज विवेक से रचनात्मक तरीके से ऐसे मुद्दों पर अपनी प्रतिक्रिया देंगे, न कि केवल एक रिप्रेस्ड दृष्टिकोण से।

तीसरे, शिक्षक-शिक्षा के अनुभवों में मैंने यह पाया है कि अक्सर हम संज्ञान के दृष्टिकोण से मुद्दों को समझते परखते हैं। जब ऐसी कोई 'घटना' सामने आती है, वयस्क अक्सर निषेध की प्रतिक्रिया (एक दूसरे से दूर रहो, छुओ मत, लड़के-लड़कियाँ अलग ही रहेंगे) देते हैं। बच्चों की यौनिक अभिव्यक्ति चाहे जिस भी स्वरूप में रही हो, अभिभावक और शिक्षक शर्म, अस्वीकरण और निषेध के तहत ही समाधान खोज पाते हैं। यहाँ शर्म एक 'बिजली की तार से बनी बाड़' की तरह है, जो दिखाती है कि किसी को बुरा 'महसूस कराना' वास्तव में उद्देश्यपूर्ण है (ट्विटचेल,1998)। शायद वयस्कों के पास इस तरह की घटनाओं से निपटने के लिए भावात्मक उपकरण हैं ही नहीं। एक रास्ता यह भी है कि बच्चों के साथ हमारी प्रतिक्रिया खुद को संज्ञान और सामाजिक नीतिशीलता के भार से विमुक्त कर पाए और संवेदनात्मक, भावनात्मक या सौंदर्यपरक प्रतिक्रिया दे पाए।

जिस उद्वेलन की चर्चा हमने की, उसका हर पहलू इतना निराशाजनक नहीं है। शिक्षक-शिक्षा की यह ज़द्दोज़हद अपने आप में महत्वपूर्ण है और कहीं आधुनिकता में मानवीय हालातों (ह्यूमन कंडीशन) से जुड़ी है। पाठ्यक्रम और सीखने-सिखाने के ऐसे ही संघर्ष शायद शिक्षक-शिक्षा को उद्देश्यपूर्ण बनाते हैं। ऐसे मुद्दे शिक्षक-शिक्षा के लिए एक मुश्किल चुनौती भी हैं और वहीं एक उम्मीद भी कि इन घटनाओं के इर्द गिर्द जो चर्चा होती है वह हमें बच्चों की असल ज़िन्दगी को शामिल करने का और बचपन की समझ को गहरा करने का मौका देती है।

सन्दर्भ

Ahluwalia, S. (2010), *Reproductive restraints : Birth control in India,* 1877-1947. Chicago: University of Illinois Press.

Alter, J. S. (1992), *The wrestler's body: identity and ideology in North India*, Berkeley: University of California Press.

Anandhi, S. (1998), *Reproductive Bodies and Regulated Sexuality: Birth control debates in early twentieth century Tamilnadu*. In Mary John and Janaki Nair (ed.), *A question of silence: the sexual economies of modern India*. New Delhi: Kali for women. pp. 139-166.

Ariès, P. (1965), *Centuries of childhood: A social history of family life*. New York: Knopf

Bussey, K., & Bandura, A. (1999), *Social cognitive theory of gender development and differentiation. Psychological review*, 106(4), 676- 713

Driscoll, C., Garland, C. & Hickey-Moody, A. (2009), *(hetero)sexing the child: Hans, Alice and the Repressive Hypothesis*. In Frida Beckman (Ed.). (2011), *Deleuze and sex*. Edinburgh University Press.

Egan, R. D., & Hawkes, G. (2009), *The problem with protection: Or, why we need to move towards recognition and the sexual agency of children*. Continuum, 23(3), 389-400.

Foucault, M. (1978), *The history of sexuality*. Volume I. New York: Vintage.

Freud, S. (1953), Three essays on the theory of sexuality: the Standard Edition of the Complete Psychological Works of Sigmund Freud. (1905) J. Strachey (trans and ed.). Hogarth Press. vol. 7, pp 125-245.

हॉल्ट, जो (2010), *बचपन से पलायन* (पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा द्वारा हिंदी अनुवाद) एकलव्य, भोपाल

Kakar, S. (1990), *Intimate relations : exploring Indian sexuality*. Chicago: University of Chicago Press.

Lal, R. (2010), The 'domestic world' of Peripatetic Kings: Babur and Humayun, c. 1494-1556. In Meena Bhargava (ed.) 2010, Exploring Medieval India II : Culture, Gender, Regional Patterns. Hyderabad : Orient Blackswan. pp 221-260

Mukhia,H. (2004), *The Mughals of India.* Oxford: Wiley-Blackwell

National Curriculum of Framework for Teacher Education (2009). New Delhi: National Council for Teacher Education

Pande, I. (2013), Listen to the child: Law, sex and the child-wife in Indian Histiography. History Compass. 11(9). 687-701

Postman, N. (1985), *The disappearance of childhood*. Childhood Education, 61(4), 286-293.

Roy, K. (1998), *Unravelling the Kamasutra*. In Mary John and Janaki Nair (ed.). *A question of silence: the sexual economies of modern India*. New Delhi: Kali for women. pp. 52-76

Sahi. J. (2018), Bala Krishna: A Paradigm of childhood relevant to the present time. In T.S.Saraswathi, Shailaja Menon and Ankur Madan (Ed.) (2018), *Childhoods in India: Traditions, Trends and Transformations*. New Delhi: Routledge. pp 130-156

Scheper-Hughes, N., & Lock, M. M. (1987). The mindful body: A prolegomenon to future work in medical anthropology. Medical anthropology quarterly, 1(1), 6-41.

Singh, D. Regulating the domestic: notes on the precolonial state and the family. In Meena Bhargava (ed.) (2010). Exploring Medieval India II: Culture, Gender, Regional Patterns. Hyderabad: Orient Blackswan. pp 285-306

Sinha, M. (1999). The Lineage of the 'Indian'Modern: Rhetoric, Agency and the Sarda Act in Late Colonial India. In A. Burton, (Ed.). (2005). *Gender, sexuality and colonial modernities*. London: Routledge.pp 207-21.

Srivastava, S. Introduction: semen, history, desire and theory. In Sanjay Srivastava (ed.) (2004), *Sexual sites, seminal attitudes: Sexualities, masculinities and culture in South Asia*. New Delhi: Sage Publications. pp 11-48.

Tambe, A. (2009), The state as surrogate parent: Legislating nonmarital sex in colonial India, 1911–1929. The Journal of the History of Childhood and Youth, 2(3), 393-427.

Twitchell, J. B. (1998), *For shame: The loss of common decency in American culture*. Macmillan.

उत्साही, राजेश. 2010, *बचपन में 'जहां' और भी है.....*पुस्तकायन. ब्लॉग पोस्ट दिनाक 30 अक्तूबर 2010 (http://padhatehue.blogspot.in/2010/10/blog-post_30.html)

Vallabharāya, V., & Nārāyaṇarāvu, V. (2002), *A lover's guide to Warangal. Narayana Rao and David Shulman* (trans.) New Delhi: Permanent Black.

Zutsi, V. (2016) An interview with Sudhir Kakar. 4th October 2016. www.scroll.in (accessed from https://scroll.in/magazine/817637/india-has-been-a-sexual-wasteland-for-two-centuries-an-interview-with-psychoanalyst-sudhir-kakar)

निधि गुलाटी पिछले दो दशक से शिक्षा एवं समाज के क्षेत्र में सक्रिय हैं । वर्तमान में इंस्टीट्यूट ऑफ होम इक्नोमिक्स, दिल्ली विश्वविद्यालय में एलीमेंट्री एजुकेशन डिपार्टमेंट में बतौर प्राध्यापक कार्यरत हैं। सम्पर्कः nidhi.a.gulati@gmail.com

कविता की समझ

देवयानी भारद्वाज

प्रस्तुत लेख भाषा शिक्षण में कविता की ज़गह, उसे समझने के नज़रिए, कविता को उपयोग में लाए जाने के तौर तरीकों के सन्दर्भ में स्कूली शिक्षक को मदद मिल सके इस दिशा में एक प्रयास है। लेख, कविता क्या है, आरम्भिक कक्षाओं में भाषा शिक्षण के क्या उद्देश्य हैं व इनमें कविता शिक्षण की क्या जगह है और भाषा शिक्षण में विभिन्न स्तरों पर कविता का इस्तेमाल किस तरह हो सकता है इन सभी के सन्दर्भ में विस्तार से चर्चा करता है। लेख बताता है कि प्राथमिक और माध्यमिक कक्षाओं में कविता शिक्षण होता है, लेकिन बच्चे यह एहसास नहीं कर पाते कि कविता है क्या? क्योंकि शिक्षकों का यही मानना होता है कि भाषा तो बच्चे तभी सीखेंगे जब उन्हें मात्राओं और अक्षरों का ज्ञान होगा और माध्यमिक कक्षाओं में ज़ोर होता है कविता की व्याख्या पर। देवयानी ने अपनी बात को ठोस रूप से रखने के लिए कविताओं की ही मदद ली है जिससे लेख में कही गई बातों के निहितार्थ समझने में मदद मिलती है। सं.

साहित्य की विधाओं की पड़ताल और उनमें कविता की जगह, उसके स्वरूप और विषयवस्तु आदि को लेकर भारतीय और पाश्चात्य साहित्य जगत में पर्याप्त विमर्श मौजूद हैं। अपने सन्दर्भ में यह सभी विमर्श अत्यन्त प्रासंगिक भी हैं। इस विषय पर इतना कुछ लिखा जा चुका है कि कुछ भी कहना अब तक कहे गए को दोहराना मात्र होगा। हालाँकि स्कूली शिक्षा के आरम्भिक वर्षों में भाषा शिक्षण के एक उपकरण के रूप में और कालान्तर में एक साहित्यक विधा के रूप में कविता के शैक्षिक उद्देश्यों और लक्ष्यों पर अभी भी और बहुत बातचीत की ज़रूरत है। कविता की इस जगह, उसे समझने के नज़रिए, उसे उपयोग में लाये जाने के तौर तरीकों के सन्दर्भ में स्कूली शिक्षक को मदद मिल सके, ऐसा साहित्य बहुत ज़्यादा उपलब्ध नहीं है।

हम अपने अनुभव से यह जानते हैं कि बचपन में सुनाई जाने वाली लोरी, छोटी-छोटी कविताओं और बालगीतों के रूप में कविता का हमारे जीवन में प्रवेश औपचारिक स्कूली शिक्षा के शुरू होने से बहुत पहले हो चुका होता है। स्कूल में औपचारिक भाषा शिक्षण शुरू करने के भी पहले से कविता अपना काम करना शुरू कर देती है। आरम्भिक कक्षाओं में कविता या बालगीत का उपयोग कुछ हद तक कविता के आनन्द के लिए होता है लेकिन बहुत जल्दी ही स्कूली व्यवस्था कविता के आस्वाद को विकसित करने की बजाए उसका अर्थ बताने और सीमित सन्दर्भ में व्याख्या करने पर अत्यधिक जोर देने लगती है। आरम्भिक कक्षाओं में कविता के उपयोग की एक बानगी कवि प्रभात अपने एक लेख में देते हैं—

'शिक्षक नीरस ढंग से कविता को पढ़ डालते हैं और उसका अर्थ समझाने लगते हैं। वे किताब खोलकर और बच्चों से किताब खुलवाकर पढ़ते हैं, ''बैठ डाल पर चिड़िया रानी, चूं-चूं, चीं-चीं गाती हैं।'' अब इसका अर्थ करते हैं गोया इस पंक्ति का इसके अलावा भी कोई

अर्थ हो।[1] औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में कविता को सामान्यतः जिस तरह बरता जाता है उस सिलसिले में अमरीकी कवि बिली कॉलिंस की यह कविता बहुत मुफीद जान पड़ती है—

मैंने उनसे कहा एक कविता को उठा कर रोशनी की ओर इस तरह देखो
जैसे किसी रंगीन स्लाइड को देखते हो
या इसके गुंजार को कान लगा कर सुनो
मैंने कहा एक चूहे को कविता के बीच छोड़ दो
और उसे बाहर का रास्ता तलाशते हुए देखो
या कविता के कमरे में जाओ और
लाईट का बटन दबाने के लिए उसकी दीवारों को टटोलो
मैं चाहता था कि वे कविता की सतह पर
स्कीइंग करते हुए गुजरें और
तट पर खड़े लेखक का हाथ हिला कर अभिवादन करें
लेकिन वे तो बस यह चाहते हैं कि
कविता को कुर्सी पर बिठाएँ और रस्से से बाँधकर
उसे तब तक प्रताड़ित करें
जब तक वह अपना गुनाह कुबूल न ले
वे एक पाइप से उसे पीटते चले जाते हैं
ताकि वह बता दे कि आखिर वह कहना क्या चाहती है [2]

स्कूली जीवन की आरम्भिक कक्षाओं में कविता, उस पर प्रश्नोत्तर और कविता की सन्दर्भ सहित व्याख्या पर ज़ोर इस कदर बढ़ता चला जाता है कि कविता को पढ़ने का अनुभव, उससे खुलने वाली छवियाँ, उसे पढ़ने के दौरान त्वचा पर हो सकने वाला स्फुरण उस कक्षा के पूरे अनुभव से गायब रहता है। इन कक्षाओं में कविता को पढ़ना और इतिहास या रसायनशास्त्र के किसी पाठ को पढ़ना भिन्न ऊर्जा या वातावरण का संचार नहीं करता। जब तक कविता की कक्षा का अनुभव अपने परिवेश को देखने की अलग नज़र विकसित नहीं करता जीवन में कविता की उपयोगिता पर प्रश्न उठते रहेंगे और साहित्य को उच्चतर अध्ययन के लिए चुनना छात्रों के लिए अपनी पसन्द की बजाए अन्तिम शरण्य बनता रहेगा।

दरअसल कविता पढ़ना, सुनना और समझना एक खास तरह की संवेदनशीलता की माँग करता है। कविता अपनी विषयवस्तु और विन्यास में एकांगी नहीं होती और उसके आस्वाद के लिए उसके साथ समय बिताने, उसे महसूस करने, उसे जीने की ज़रूरत होती है। जब तक पाठक और कविता के बीच यह तादात्म्य नहीं बनता कविता का शाब्दिक अर्थ तो पा लिया जा सकता है लेकिन कविता के मर्म से पाठक अछूता रह जाता है। इस सिलसिले में कुंवर नारायण की 'बाकि कविता' को ही लें, वे लिखते हैं—

पत्तों पर पानी गिरने का अर्थ पानी पर पत्ते गिरने के अर्थ से भिन्न है।
जीवन को पूरी तरह पाने
और पूरी तरह दे जाने के बीच
एक पूरा मृत्यु चिह्न है
बाकि कविता
शब्दों से नहीं लिखी जाती
पूरे अस्तित्व को खींच कर एक विराम की तरह
कहीं भी छोड़ दी जाती है [3]

इस कविता में प्रयुक्त प्रत्येक रूपक अपने आप में अनेक अर्थों को उद्घाटित करता है। जैसे 'पानी पर पत्ते गिरने' की बात हो या 'पत्तों पर पानी' दोनों ही रूपक परस्पर दो अलग बात तो कहते ही हैं, दोनों में से कोई एक भी सिर्फ एक तरह उद्घाटित नहीं होता। बल्कि प्रत्येक रूपक कवि के द्वारा कल्पित एक अर्थ से परे प्रत्येक पाठक के लिए एक नए रूपक की तरह भी उद्घाटित होता है। प्रत्येक पाठक का पानी और पत्तों के साथ सम्बन्ध इस रूपक को उस पाठक के लिए खोलता है। इसलिए यह बहुत महत्वपूर्ण है कि हम इस बात को समझें कि 'कविता शब्दों से नहीं लिखी जाती, पूरे अस्तित्व

को खींचकर एक विराम की तरह कहीं भी छोड़ दी जाती है...' यहाँ शब्दों से नहीं लिखे जाने की बात कह कर आखिर कवि कविता के किस तत्व की ओर ध्यान दिलाना चाहता है? क्या भाषा में कुछ भी कहा जाना शब्दों के बिना संभव है? यदि शब्दों से कविता नहीं लिखी जाती तो शब्द और अर्थ के साथ कविता का यह सम्बन्ध किस तरह का है? जबकि वही कवि एक अन्य कविता में कहता है 'कोई चाहे भी तो रोक नहीं सकता— 'भाषा में उसका बयान'। हम पूछ सकते हैं कि यदि कविता 'शब्दों में नहीं लिखी जाती' तो 'भाषा में उसका बयान' से कवि का आशय क्या है? इस कविता को भी पूरा पढ़ लें—

कविता वक्तव्य नहीं गवाह है
कभी हमारे सामने
कभी हमसे पहले
कभी हमारे बाद
कोई चाहे भी तो रोक नहीं सकता
भाषा में उसका बयान
जिसका पूरा मतलब है सचाई
जिसकी पूरी कोशिश है बेहतर इन्सान
उसे कोई हड़बड़ी नहीं
कि वह इश्तहारों की तरह चिपके
जुलूसों की तरह निकले
नारों की तरह लगे
और चुनावों की तरह जीते
वह आदमी की भाषा में
कहीं किसी तरह जिन्दा रहे, बस [4]

यह आदमी की भाषा में किसी तरह जिन्दा रहने की कामना है। आखिर कविता ऐसा क्या करती है कि कवि कविता के लिए इस तरह दुआ माँगने की ज़रूरत महसूस करता है। इस भौतिक जीवन को जीने के लिए अपनी सीधी ज़रूरत कविता महसूस नहीं कराती और इस बात का अहसास अधिकांश कवि रखते हैं, फिर भी कोई तो वज़ह है कि वे कविता रचते हैं। कवि राजेश जोशी अपनी डायरी 'एक कवि की नोटबुक' में 'कविता और कुर्सी' शीर्षक के अंतर्गत कहते हैं, ''कविता कोई फिनिश्ड प्रोडक्ट नहीं है। वह एक प्रक्रिया है। इसलिए कवि और पाठक के बीच का सम्बन्ध भी एक सतत सम्बन्ध है। कुर्सी बनाने के बाद उसे खरीद लेने वाले और उसे बनाने वाले के बीच जिस तरह सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, कवि और पाठक के बीच ऐसा नहीं होता।[5]''

कविता को समझने की इस कोशिश में हमने अधिकांशतः यह पाया कि कविता की इस ज़रूरत को साहित्य या कला मात्र की ज़रूरत से अलग करके देख पाना असंभव की हद तक कठिन है। अपनी पुस्तक 'कला की ज़रूरत' की शुरुआत अंर्स्ट फिशरज्यां कॉक्तो की इस आकर्षक विरोधाभासी सूक्ति से करते हैं— ''कविता के बिना काम नहीं चल सकता, लेकिन मैं यह नहीं बता सकता कि उसका काम क्या है।[6]'' जिस किसी ने भी कला की इस जरूरत को पहचानने की कोशिश की वह अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों और कलाकारों के पास गया। फिशर, चित्रकार मोंद्रिया को उद्धृत करते हैं, जो यह कहते हैं कि यथार्थ उत्तरोत्तर कलाकृति की जगह लेता जाएगा, क्योंकि कलाकृति सारतः उस सन्तुलन की स्थानापन्न है, जो आजकल यथार्थ में नहीं पाया जाता।[7] फिशर इस पर प्रश्न खड़े करते हैं—''क्या कला वास्तव में एक स्थानापन्न से अधिक कुछ नहीं? क्या वह मनुष्य और बाह्य जगत के बीच एक गहनतर सम्बन्ध को भी अभिव्यक्ति नहीं देती? क्या सचमुच कला जो काम करती है, उसका सार किसी फार्मूले में प्रस्तुत किया जा सकता है? क्या उसे बहुत-सी और विभिन्न प्रकार की ज़रूरतें पूरी नहीं करनी पड़तीं? और यदि कला के उद्गमों पर विचार करते हुए हम उसके मूल काम को जान भी लें, तो क्या वह काम भी समाज के बदलने के साथ-साथ बदल नहीं गया है? क्या उसके नए काम अस्तित्व में नहीं आ गए हैं?[7]'' उनका अपना विश्वास यह है कि ''कला की ज़रूरत हमेशा रही है, आज भी है और आगे

भी रहेगी।[8]'' दुविधा यह है कि इस ज़रूरत को कितनी भी शिद्दत से महसूस किया जाए, यह पकड़ में नहीं आती। इसे तरह-तरह की ज़रूरत के रूप में समझना होता है और फिर भी एक ही कलाकृति सब पाठकों या दर्शकों को एक-सा आस्वाद या संतुष्टि नहीं देती। यहाँ तक कि प्रत्येक रचनाकार एक जैसी ज़रूरत से प्रेरित हो कर किसी रचना में संलग्न नहीं होता। फिशर इसे पकड़ने की कोशिश में आगे कहते हैं ''सामाजिक विकास की विशिष्ट अवस्था के अनुसार किसी खास समय में कला के दो तत्वों में से कोई एक तत्व प्रमुखता प्राप्त कर लेता है— कभी जादुई सांकेतिकता, तो कभी तार्किकता और प्रबोधकता। कभी स्वप्न जैसी सहज अनुभूति तो कभी बोध को तीव्र बनाने की इच्छा। लेकिन कला सुलाए चाहे जगाए, चीजों पर पर्दा डाले चाहे रोशनी डाले, वह यथार्थ का ऐसा वर्णन कदापि नहीं होती जैसे रोग का निदान मात्र हो। उसका काम तो हमेशा सम्पूर्ण मनुष्य को प्रभावित करना होता है, 'मैं' का अन्य लोगों के जीवन से तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ बनाना होता है।[9]''

भाषा शिक्षण के उद्देश्य और कविता शिक्षण

भाषा की कक्षा में विभिन्न स्तरों पर कविता के इस्तेमाल पर चर्चा से पहले संक्षेप में इस बात को समझना बहुत ज़रूरी है कि भाषा शिक्षण के उद्देश्य को हम कैसे समझते हैं। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 से सम्बन्धित 'भारतीय भाषाओं का शिक्षण' आधार पत्र में भाषा शिक्षण के उद्देश्य तय करने के आधारों पर कहा गया है, ''चूँकि बच्चे अच्छी ख़ासी विकसित भाषिक व्यवस्था के साथ ही स्कूल आते हैं, इसलिए इसे ध्यान में रखते हुए ही स्कूली पाठ्यचर्या में भाषा शिक्षण के उद्देश्य तय किए जाने चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य बच्चे को इस प्रकार से साक्षर बनाना है कि बच्चा समझने के साथ पढ़ने व लिखने की क्षमता हासिल कर सके।[10]''

भाषा की कक्षा के यथार्थ के बारे में आधार पत्र साफ शब्दों में कहता है कि ''भाषा की कक्षाएँ अभी भी बोरियत भरी व उबाऊ बनी हुई हैं और व्यवहारवादी ढाँचे का ही अनुसरण कर रही हैं। वे भाषाएँ जिनसे बच्चा परिचित होता है यानी जिनके साथ स्कूल में प्रवेश करता है उनमें विशेष प्रगति नहीं कर पाता...।[11] '' ज़ाहिर है कि आधार पत्र यह अपेक्षा करता है कि भाषा की कक्षा में बच्चों को लक्ष्य भाषा सिखाने के साथ ही साथ उन भाषाओं में भी उनके कौशलों का विकास हो जो वे घर से सीख कर आते हैं। भाषाई कौशलों का विकास महज सुनने, बोलने, पढ़ने, लिखने के सीमित दायरे में नहीं देखा जा सकता। बल्कि आधार पत्र का यह मानना है कि इस नज़रिए ने भाषा शिक्षण का नुकसान ही किया है। आधार पत्र भाषा दक्षता के मामले में ज़्यादा समग्रतावादी दृष्टिकोण अपनाने की वकालत करता है।

स्वाभाविक तौर पर यह पूछा जा सकता है कि जब बच्चे विकसित भाषाई क्षमता के साथ स्कूल आते हैं, तो स्कूल में उन्हें भाषा सिखाने का औचित्य और आवश्यकता क्या रह जाती है? शिक्षकों के साथ भाषा पर कार्यशालाओं में अधिकांश शिक्षक यह मानते हैं कि बच्चे बोलना और सुनना घर से सीख कर आते हैं, स्कूल में वे महज पढ़ना और लिखना सीखते हैं। वे यह भी मानते हैं कि पढ़ना और लिखना सीखने के लिए जरूरी है कि बच्चों को वर्ण ज्ञान करवाया जाए। वर्ण से शब्द और शब्द से वाक्य तथा व्याकरण के नियम जानने की प्रक्रिया में बच्चे भाषा सीख जाते हैं। जबकि भाषा की प्रकृति और सीखने के सिद्धान्त दोनों इस बात को प्रमाणित करते हैं कि भाषा सीखने की प्रक्रिया मूलतः अपने आसपास की दुनिया को अर्थ देने की प्रक्रिया है। सीखने के सिद्धान्त इस बात को भी प्रमाणित करते हैं कि आरम्भिक कक्षाओं में बच्चों में अमूर्तन की क्षमता का विकास नहीं हुआ होता है और वे मूर्त उदाहरणों की सहायता से अमूर्त अवधारणाओं को समझते हैं। इस सन्दर्भ में भाषा सीखने की प्रक्रिया को देखें तो यह समझना बहुत महत्वपूर्ण है कि वर्ण किसी भी भाषा की

न्यूनतम इकाई तो हैं लेकिन वह सार्थक या मूर्त इकाई नहीं है। भाषा की न्यूनतम मूर्त इकाई शब्द हैं और शब्दों के भी अर्थ, सन्दर्भ के साथ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। इस लिहाज़ से भाषा सीखने के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि बच्चों को भाषा के विविध प्रकार के उपयोग करने के अवसर दिए जाएँ। यह सभी अवसर अर्थपूर्ण उपयोग के अवसर हों। कविता-कहानी आरम्भिक कक्षाओं में बच्चों को भाषा के इस्तेमाल के सार्थक अवसर उपलब्ध कराती हैं। कहानी जहाँ बच्चों को किसी घटनाक्रम को व्यवस्थित ढंग से सुनने, समझने और कहने के अवसर प्रदान करती है वहीं कविता उन्हें भाषा के कल्पनाशील और रचनात्मक उपयोग के अधिकतम अवसर उपलब्ध कराती है। आरम्भिक कक्षाओं में जब बच्चों को भाषा सीखने का समग्र, सन्दर्भपूर्ण परिवेश मिलता है तो वे आगे की कक्षाओं में भाषा और साहित्य ही नहीं विभिन्न विषयों के भी बेहतर पाठक बन पाते हैं। यह बेहतर पाठक किसी भी पठन सामग्री से गुजरते हुए उसमें निहित विचार को अपने अनुभव के सन्दर्भ में जाँच और परख पाता है, उस पर सवाल उठा पाता है, उससे सन्दर्भ ग्रहण करते हुए अन्य सन्दर्भों से जानकारी एकत्रित करने और उसके साथ अन्तःक्रिया करने की दिशा में प्रेरित होता है। भाषा की आगे की कक्षाओं में भी यह छात्र विभिन्न विधाओं, विभिन्न रचनाकारों और उनके विभिन्न सन्दर्भों के साथ अधिक सघन क्रिया के लिए तैयार होता है।

भाषा की कक्षा में कविता

स्कूली शिक्षा में सामान्यतः कविता का दो तरह का इस्तेमाल देखा जा सकता है–

पहला, आरम्भिक कक्षाओं में माहौल निर्माण, रोचकता आदि के लिए गीत और कविता का उपयोग। यह वह समय है, जब शिक्षक स्वयं भी हाव-भाव के साथ बच्चों को लय में कविता सुनाते हैं और बच्चों से उसका दोहरान करवाते हैं। गीत-कविता, कहानी और बातचीत का इस्तेमाल इसी तरह के उद्‌देश्यों के साथ करने के दौरान शिक्षक के मन में इस बात को लेकर कोई संशय नहीं होता कि पढ़ना और लिखना सिखाने के लिए तो वर्ण पहचान और शब्द तथा वाक्य निर्माण की परम्परागत विधियाँ ही कारगर होती हैं। वे यह मानते हैं कि जब तक बच्चा वर्णों को पहचानना शुरू नहीं करता तब तक उससे गीत-कविता पढ़ने और समझने की अपेक्षा बेमानी है। यही वह समय भी है जब भाषा की कक्षा में कविता, सीखने के दबाव से मुक्त रहती है, लेकिन इस दौरान वह सीखने के दबाव से इस कदर मुक्त होती है कि स्वयं बच्चों को भी बहुत जल्दी यह अहसास होने लगता है कि वास्तविक पढ़ाई–लिखाई तो वही है जो अध्यापक बोर्ड की सहायता से उन्हें कराते हैं। इसलिए बाद के सालों में कक्षा के कुछ होनहार बच्चे प्रातःकालीन सभा, स्कूल के वार्षिकोत्सव, बाल सभा आदि में सुनाए जाने वाले हुनर के रूप में कविता का इस्तेमाल करते हैं लेकिन अधिकांश बच्चों के लिए कविता भी भाषा की कक्षा के एक अन्य उबाऊ अनुभव से अधिक कुछ नहीं बन पाती।

दूसरा उच्च प्राथमिक एवं माध्यमिक कक्षाओं में कविता की सन्दर्भ सहित व्याख्या के रूप में। सामान्यतः इस स्तर पर भी बच्चों को कविता के साथ स्वयं अर्थपूर्ण अंतःक्रिया करने के अवसर उपलब्ध कराने की बजाए शिक्षक एक निश्चित अर्थ बता देते हैं, जिन्हें छात्र को विभिन्न परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने के लिए याद कर दोहरा भर देना होता है। इस प्रक्रिया में किसी भी स्तर पर छात्र को स्वयं कविता के साथ संज्ञानात्मक स्तर पर सम्बन्ध बनाने के अवसर लगभग नदारद रहते हैं।

आइए इस बात को समझने की कोशिश करें कि कविता क्या करती है और उसका भाषा की कक्षा में कैसे बेहतर उपयोग किया जा सकता है। कक्षा में कविता के इस्तेमाल को हम तीन

भागों में बाँट कर समझ सकते हैं–

1. आरम्भिक कक्षाओं में भाषा सीखने के उपकरण के रूप में

किसी भी स्तर पर कविता का अपने पाठक या श्रोता पर प्रभाव एकांगी नहीं होता है। यह बात ठीक है कि आरम्भिक कक्षाओं में कविता बच्चों के भाषाई कौशलों के विकास में सहायक उपकरण में रूप में काम करती हैं लेकिन भाषा की कक्षा में कविता का सजग इस्तेमाल बच्चों में बहुत कम उम्र से कविता की विशिष्ट विधागत समझ का भी विकास कर रहा होता है। इतना ही नहीं कविता का विविधतापूर्ण, सजग और रचनात्मक इस्तेमाल यदि कक्षा में किया जाता है तो बच्चे इस स्तर से ही किसी विषयवस्तु के विविध निहितार्थों के साथ अंतःक्रिया करना शुरू कर सकते हैं, भाषा के विविध इस्तेमाल से उनका परिचय होने लगता है और भाषा के साथ खेलने की उनकी सहज प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। वे विभिन्न सन्दर्भों में चीजों को समझना शुरू कर सकते हैं। यह तभी सम्भव है जब शिक्षक स्वयं कविता के पाठ में रुचि लें और उसे अर्थ समझने की उबाऊ प्रकिया तक सीमित करके न छोड़ दें।

बच्चे स्वाभाविक रूप से भाषा के साथ खेलना पसन्द करते हैं। उन्हें नए–नए शब्द गढ़ना या तुकबंदियाँ बनाना पसन्द होता है। भाषा की कक्षा में वर्णमाला सीखने पर अत्यधिक ज़ोर , सही उच्चारण और शुद्धता का आग्रह, कविता से कठिन शब्दों के अर्थ चुनना, कविता का अर्थ बताना और रिक्त स्थानों की पूर्ति तथा सूचना परक प्रश्नोत्तर जैसी प्रकियाएँ बच्चों की भाषा के साथ खेलने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को बाधित कर देती हैं। वहीं यदि शिक्षक स्वयं बच्चों के साथ मिलकर तरह–तरह की कविताओं का पाठ करें, कविता को सुनने के अनुभव, कविता की विषय वस्तु से सम्बन्धित चर्चा, उसमें भाषा के उपयोग आदि पर बातचीत करें और बच्चों को नई कविताएँ रचने का मौका दें तो बच्चों की रचनात्मक क्षमता और भाषा को तरह–तरह से बरतने की क्षमता का विस्तार किया जा सकता है।

भाषा की कक्षा को नैतिक शिक्षा के बोझ से भी मुक्त रखे जाने की ज़रूरत है। अच्छी आदतें, देशभक्ति या नैतिक उपदेश देना कविता का काम नहीं। नीति की सूक्तियाँ या दोहे, देशभक्ति की कविता आदि कविता विधा का एक रूप हो सकती हैं। कक्षा में उनके पाठ को वर्जित किए जाने की बात भी यहाँ हम नहीं कर रहे हैं। लेकिन कविता क्रिया–प्रतिक्रिया के अन्दाज़ में शिक्षित करने का काम नहीं करती कि इधर बच्चे को देशभक्ति की कविता पढ़ाई और उधर बच्चा देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत होने लगे। कविता व्यापक अर्थ में बच्चे में उन सारे मूल्यों का विकास करती है, जो साहित्य की किसी भी विधा से अपेक्षा की जाती है। लेकिन वह ऐसा तभी करती है जब स्वयं उसे कक्षा में संवेदनशीलता के साथ बरता जाए। कविता को पढ़ते हुए बच्चों के साथ उसके भाषागत गुणों और उसके संवेदनात्मक फलक की चर्चा की जाए। कभी–कभी महज़ कविता का आनन्द लेने के लिए कविता का पाठ किया जाना भी इसी उम्र से बहुत महत्वपूर्ण है। बस इस बात का खयाल रखे जाने की ज़रूरत है कि यह भी कक्षा की एक नियोजित और अनिवार्य गतिविधि के रूप में हो, रिक्त स्थान या खाली कालांश की भरपाई के रूप में न हो।

एक तरफ कविता को वातावरण निर्माण की गतिविधि तक सीमित करने की बजाए भाषा सीखने की प्रक्रिया के अनिवार्य घटक के रूप में इस्तेमाल किए जाने की ज़रूरत है वहीं दूसरी ओर भाषा की कक्षा और पाठ्यपुस्तक में शामिल कविता को भाषा शिक्षण के रूढ़ दायरों से बाहर लाने की ज़रूरत है वर्तमान में प्राथमिक कक्षाओं से ही कविता का शिक्षण किसी भी अन्य विधा या विषय के पाठ की ही तरह प्रश्नोत्तर याद करने तक सीमित रहता है। भाषा की कक्षा में कविता को इस जड़ता से बाहर निकालने के

लिए हमें इस बात को समझने की ज़रूरत है कि आखिर व्यक्ति के जीवन में और कक्षा की प्रक्रिया में कविता करती क्या है?

कविता भाषा सीखने को रोचक बनाती है

चंदा मामा दूर के/ लल्ला लल्ला लोरी / हरा समंदर, गोपी चंदर/ मछली जल की रानी है आदि ऐसी अनेक कविताएँ हैं जिन्हें हम अपने बचपन से सुनते आए हैं। आज भी बच्चे उतनी ही रुचि के साथ इन कविताओं को गुनगुनाते मिल जाएँगे। लगभग सभी बच्चों का लोरी, खेल गीत, ब्याहगीत, त्यौहारों पर गाए जाने वाले गीत और फिल्मी गीत आदि के रूप में घर से ही कविता के एक व्यापक संसार से परिचय शुरू हो जाता है। उन्हें स्वाभाविक रूप से लय और तुकबंदी आकर्षित करती है। उनके खेलों में अक्सर छोटे-छोटे गीत कविताएँ मौजूद रहते हैं। यह बेवज़ह नहीं कि अक्कड़-बक्कड़ बम्बे बो/ पोशम्पा भई पोशम्पा जैसी छोटी तुकबंदियाँ लगभग समूचे उत्तर भारत में बच्चे काम में लेते मिल जाएँगे। ऐसे ही बारिश को लेकर विभिन्न इलाकों के बच्चों के बीच तरह-तरह के गीत-कविताएँ प्रचलित मिल जाएँगी। जैसे राजस्थान के मरुस्थलीय इलाकों में बच्चे गाते हैं ''इंदर राजा पाणी दे, पाणी दे गुड़-धाणी दे''। यह गीत एक तरफ यहाँ के जीवन में बारिश की अहमियत को बताता है वहीं दूसरी ओर बच्चों के जीवन में मौजूद कविता की जगह और ज़रूरत को प्रमाणित करता है। इसी तरह ''टेसू राजा'' की कविता है। उसे भी बच्चे बहुत चाव से गाते हैं। यह कविता लोक में प्रचलित परम्परा से जुड़ी है। वहीं बच्चों को तरह-तरह से अनुमान करने के लिए भी प्रेरित करती है। लेकिन कविता से अनुमान की वह प्रेरणा तभी मिल सकती है जब शिक्षक कुछ देर ठहर कर बच्चों को कविता में कही गई बातों का अनुमान लगाने का अवसर प्रदान करे या बच्चों के परिवेश में कविताओं का एक व्यापक संसार हो जिसका वे आनन्द उठाते हों। कक्षा में यदि कुछ ही कविताओं के साथ बच्चों को अनुमान करने, सोचने, अपने अनुभव से जोड़ने के अवसर मिल जाएँ तो बच्चे कविता को महज़ याद कर सभा में सुनाने की बज़ाए उसकी भाषा और उसमें छुपी विषय वस्तु पर विचार करने, उसका आनन्द उठाने लग जाएँ।

कविता का चयन भी कक्षा में इस्तेमाल पर गहरा असर डालता है। भाषा के किसी भी शिक्षक के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि स्वयं उनके पास बच्चों के साथ उपयोग में लाई जाने वाली तरह-तरह की कम से कम 40-50 कविताओं का संकलन हो। इनमें बालगीत, चेतना गीत, लोरियाँ, लोकगीत, कविताएँ आदि सभी शामिल हो सकते हैं। शिक्षक को इस सन्दर्भ में पाठ्यपुस्तक पर कम से कम निर्भर रहना चाहिए। यदि पाठ्यपुस्तक संवेदनशील ढंग से बनाई गई हों तो उनमें बहुत सुन्दर कविताओं का संकलन किया जा सकता है। इसके बावजूद पाठ्यपुस्तक की अपनी सीमाएँ हैं। उनमें एक सीमा से अधिक कविताएँ शामिल नहीं की जा सकती हैं। राजस्थान की पाठ्यपुस्तक से ही एक उदाहरण लें–

हुआ सवेरा चिड़िया बोली / बच्चों ने तब आँखे खोलीं / अच्छे बच्चे मंजन करते / मंजन करके कुल्ला करते / कुल्ला करके मुँह को धोते / मुँह को धोकर रोज नहाते / रोज नहाकर खाना खाते / खाना खा कर पढ़ने जाते[12]

इस तरह की कविता बच्चों में कविता के प्रति आकर्षण विकसित नहीं करती। बल्कि यह उन्हें कविता और पाठ्यपुस्तक से भी विमुख कर सकती है। इसमें भाषा या विषयवस्तु किसी भी स्तर पर बच्चों के लिए रुचिकर कोई तत्व नहीं है। यह ऐसी बातें हैं जो बच्चों को कक्षा की प्रक्रिया में, प्रातःकालीन सभा में बातचीत के माध्यम से समझाई और बताई जा सकती हैं। शिक्षक के दबाव में बच्चे इन कविताओं को याद भी कर लेते हैं लेकिन भाषा शिक्षण के उद्देश्यों और बच्चों की रुचि के साथ इनकी कोई संगति

नहीं। इसके बरक्स और बहुत–सी छोटी-छोटी कविताएँ देखी जा सकती हैं जिन्हें याद करना, सुनाना बच्चों में भाषा की रुचि को बनाए रख सकती हैं। जैसे नीचे दी गई निरंकार देव सेवक की दो कविताओं को ही देखें–

1. चिड़िया कहती टी टुट टुट
   मुझको भी दे दो बिस्कुट
   भूखी हूँ मैं खाऊँगी
   खा–पीकर उड़ जाऊँगी

2. हाथी राजा बहुत भले
   सूँड हिलाते कहाँ चले
   कान हिलाते कहाँ चले
   मेरे घर भी आओ न
   हलवा पूड़ी खाओ न[13]

इस तरह की कविताएँ बच्चों की स्वाभाविक इच्छाओं, उनके जीवन से जुड़ी उन छोटी–छोटी बातों को रोचक ढंग से प्रस्तुत करती हैं, जिन्हें गाना, सुनाना बच्चों को अच्छा लगता है। दूसरी ओर यह कविताएँ कल्पना के संसार को भी खोलती हैं। इनमें भाषा के उपयोग की एक किस्म की ताज़गी देखने को मिलती है जो सामान्यतः कविता से बाहर शायद कहीं न मिले। इन कविताओं को गाना, दोस्तों को सुनाना और अपनी पसन्द के शब्द या पात्र चुन कविताएँ बनाना किसी भी बच्चे को स्वाभाविक रूप से आकर्षित करेगा।

कविता में लय होती है

अक्सर वे कविताएँ जिनके आखिर में तुक मिलती है बच्चे उन्हें मिल कर लय में गाते हैं। बच्चे स्वाभाविक रूप से कविता के भाव को भी ग्रहण करते हैं।

हरा समंदर, गोपी चंदर, बोल मेरी मछली कितना पानी?

इतना पानी

इतना पानी

इतना पानी, इतना पानी[14]

इस कविता को गाते हुए बच्चे न सिर्फ लय का बखूबी निर्वाह करते हैं बल्कि प्रश्न और उत्तर को भी प्रश्न और उत्तर के स्वाभाविक तेवर के साथ ही बोलते हैं। कविता में शब्दों का संयोजन या वाक्य निर्माण व्याकरणीय नियमों से बंधा नहीं होता बल्कि उसमें अधिक महत्वपूर्ण विषय और संप्रेषण की आन्तरिक लय होती है। जैसे सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की इस कविता को ही देखें–

इब्नबतूता
पहन के जूता
निकल पड़े तूफान में
थोड़ी हवा नाक में घुस गई
घुस गई थोड़ी कान में
कभी नाक को, कभी कान को
मलते इब्नबतूता
इसी बीच में निकल पड़ा
उनके पाँव का जूता
जूता उनका उड़ते-उड़ते
जा पहुँचा जापान में
इब्नबतूता खड़े रह गए
मोची की दूकान में[15]

इस कविता की अपनी आंतरिक लय है। बेशक छन्द और मात्रा की परम्परागत परिपाटी का निर्वाह यहाँ नहीं किया गया है, लेकिन इस कविता की वाक्य संरचना एक लय और तुक का निर्वाह करती है। बच्चों को इस तरह की कविताओं को गाने में विशेष आनन्द आता है।

कविता कल्पना को विस्तार देती है

'इब्नबतूता का जूता' इसी कविता का यदि भावार्थ किया जाए तो शायद विषय–वस्तु के स्तर पर कोई सीधा सन्देश, सूचना या जानकारी इसमें न खोज पाएँ, लेकिन बच्चों की कल्पना को इस तरह की कविता पंख दे देती है। जैसे की नाक में और कान में हवा के घुस जाने का

खयाल बच्चों के मन को गुदगुदाता है। नाक और कान को मलने के फेर में इब्नबतूता के जूते का उड़ जाना उन्हें और भी मज़ेदार लग सकता है। शिक्षक के पास यहाँ बच्चों के साथ बातचीत के कई तरह के अवसर हो सकते हैं, जैसे तूफान के साथ बच्चों का अनुभव, हवा को महसूस करने का उनका अनुभव आदि। इब्नबतूता की कद-काठी का अनुमान करना एक अन्य किस्म का अवसर खोलता है, वहीं जूते को उड़ते हुए रास्ते में क्या-क्या मिला होगा बच्चों के बीच चर्चा का एक और ही आयाम खोल सकती है।

ऐसी कविताओं का कक्षा में बार-बार इस्तेमाल बच्चों में भाषा के नए-नए इस्तेमाल के साथ ही साथ नई तरह की बातों की कल्पना करने के लिए भी प्रेरित करता है। इसी तरह से हाथी या चिड़िया की कविताएँ जो पूर्व में दर्ज़ की गई हैं, बच्चों को इस तरह की बातों को सोचने में बहुत मज़ा आता है कि वे हाथी को अपने घर बुला कर हलवा-पुड़ी खिलाएँ या चिड़िया उनका बिस्कुट खा कर चली जाए। छोटे बच्चों के साथ इस तरह की कविताएँ उन्हें अपने आस-पास को नई नज़र से देखने की दृष्टि प्रदान करती हैं और उनकी कल्पना के नए आयाम को खोलती हैं।

बच्चों को भाषा के विविध इस्तेमाल के अवसर देती है

सामान्यतः भाषा का इस्तेमाल बच्चे बातचीत के लिए करते हैं जिसमें किसी सूचना का आदान-प्रदान या किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति का भाव निहित होता है। बच्चों की कल्पनाओं पर बड़े भी सामान्यतः ध्यान नहीं देते और अक्सर उन्हें फिज़ूल बातें करने पर चुप करा दिया जाता है, या हँस कर टाल दिया जाता है। जबकि कहानी-कविता आदि विधाएँ बच्चों के सामने भाषा के इस्तेमाल का एक नया संसार खोलती हैं, जो उन्हें कल्पना करने, दुनिया को भिन्न नज़रिए से देखने और व्यक्त करने का अवसर देती हैं। कहानियों में जहाँ पात्रों और घटनाओं के स्तर पर बच्चों को कल्पना करने का अवसर मिलता है वहीं कविता भाषा के विविधतापूर्ण रचनात्मक अवसरों के संसार खोल देती हैं। यहाँ उन पर किसी बात को किसी खास क्रम में कहने या सुनने का भी दबाव नहीं होता इसके बावजूद कविता की आन्तरिक लय और माँग से बच्चे बहुत थोड़े से अभ्यास के साथ परिचित हो सकते हैं। कविता में किसी निश्चित वाक्य संरचना के अनुपालन की मज़बूरी नहीं है। और तो और यह उन्हें अपनी तरह से शब्द गढ़ने की भी आज़ादी देती है। इस तरह भाषा के उपयोग की यह एक पूरी नई सम्भावना को बच्चों के साथ खोल सकती है। जैसे इस कविता को ही देखें—

सर सर सर सर उड़ी पतंग
फर फर फर फर उड़ी पतंग
इसको काटा उसको काटा
खूब लगाया सैर सपाटा
अब लड़ने को जुटी पतंग
अर र र र देखो कटी पतंग[16]

कविता ध्वनियों के इस तरह इस्तेमाल की आज़ादी देती है और बच्चों को इस तरह की ध्वनियों को दर्ज़ करना बहुत रोचक लगता है। वे अपनी बातों में ऐसी तमाम ध्वनियों को बोल कर व्यक्त करते हैं, लेकिन कविता में इन ध्वनियों का इस तरह का इस्तेमाल कक्षा में भाषा के उपयोग के और अधिक आयाम को उनके सामने खोलता है। भाषा के साथ खेलने का अवसर देने के साथ कविता बच्चों को भाषा के रूढ़ इस्तेमाल से भी मुक्त करती है।

विभिन्न परिप्रेक्ष्य से दुनिया को देखने के नज़रिए का विस्तार करती है

उपरोक्त उदाहरणों के माध्यम से भी हम देख सकते हैं कि कविता बच्चे के लिए अपने आसपास की दुनिया को देखने के नए नज़रिए का विकास करती है। वह उन्हें रूपक गढ़ना सिखाती है। जैसे निरंकार देव सेवक की इस कविता को देखें—

वाह! गिलहरी क्या कहने

धारीदार कोट पहने
पूँछ बड़ी सी झबरैली
काली-पीली-मटमैली
डाली-डाली घूमती है
नहीं फिसल कर गिरती है[17]

यहाँ गिलहरी के लिए धारीदार कोट का रूपक बच्चों को अपने आस-पास के जानवरों और दुनिया को देखने का एक नया नज़रिया दे सकता है। इसके माध्यम से अपने पहनावे, जानवरों के पहनावे उनके साम्य आदि पर बात की जा सकती है। इसी तरह 'डाली-डाली घूमती है नहीं फिसल कर गिरती है' यह अंश भी बच्चों को चमत्कृत करता है कि यदि गिलहरी पेड़ से फिसल कर गिरने लगे तो उसकी चाल कैसे बदल जाएगी, वह कहाँ रहेगी आदि तमाम प्रश्नों को जन्म दे सकती है। इसी के साथ वे अपने आस-पास के अन्य जानवरों की चाल, उनके रहन-सहन के प्रति स्वाभाविक रूप से उत्सुक हो सकते हैं। कवि प्रभात की ''बंजारा नमक लाया'' कविता नमक जैसी मूलभूत ज़रूरत के बारे में बच्चों की संवेदना और नज़रिए का विस्तार कर सकती है। इतना ही नहीं परिवार और अड़ौस-पड़ौस तथा रिश्तों के प्रति भी संवेदना के विस्तार की तमाम सम्भावना इस तरह की कविताओं में मौजूद रहती है—

बंजारा नमक लाया

सांभर झील से भराया
भैरू मारवाड़ी ने
बंजारा नमक लाया
ऊँटगाड़ी में

बर्फ जैसी चमक
चाँदी जैसी गनक
चाँद जैसी बनक
अजी देशी नमक
देखो ऊँटगाड़ी में
बंजारा नमक लाया
ऊँटगाड़ी में

कोई रोटी करती भागी
कोई दाल चढ़ाती आई
कोई लीप रही थी आँगन
बोली हाथ धोकर आई
लाय नाज थाड़ी में
बंजारा नमक लाया
ऊँटगाड़ी में

थोड़ा घर की खातिर लूँगी
थोड़ा बेटी को भेजूँगी
महीने भर से नमक नहीं था
जिनका लिया उधारी दूँगी
लेन देन की मची धूम घर गुवाड़ी में
बंजारा नमक लाया
ऊँटगाड़ी में
कब हाट जाना होता
कब खुला हाथ होता
जान बूझकर नमक
जब भूल आना होता
फीके दिनो में नमक डाला
मारवाड़ी ने
बंजारा नमक लाया
ऊँटगाड़ी में[18]

यह हो सकता है कि आज गाँव में भी बंजारे नमक लेकर न आते हों, लेकिन यह कविता बच्चों को रूपकों के एक निराले संसार से परिचित कराती है। नमक जैसी मामूली लेकिन निहायत ज़रूरी वस्तु के लिए 'बर्फ जैसी चमक, चाँदी जैसी गनक, चाँद जैसी बनक' जैसे रूपक चीजों को देखने की दृष्टि का विस्तार करते हैं, उनमें सौन्दर्य की तलाश करना सिखाते हैं। वहीं 'कोई रोटी करती भागी, कोई दाल चढ़ाती आई, कोई लीप रही थी आँगन बोली हाथ धोकर आई' यह पंक्तियाँ ग्रामीण स्त्री के जीवन का जीवन्त चित्र उपस्थित करते हैं। उसके जीवन की व्यस्तताओं और उसके श्रम को रेखांकित करती हैं। ''थोड़ा घर की खातिर लूँगी, थोड़ा बेटी को भेजूँगी, महीने भर से नमक नहीं था जिनका लिया उधारी दूँगी'' यह पंक्तियाँ जीवन में नमक की ज़रूरत को रेखांकित करती हैं।

"कब हाट जाना होता, कब खुला हाथ होता, जान बूझ कर नमक जब भूल आना होता" यह पंक्तियाँ जीवन में अभावों के प्रति संवेदना का विस्तार करने की सम्भावना को खोलती हैं। इस तरह एक कविता अपने में व्यापक संभावना को लिए होती है। कविता में निहित इस व्यापक सम्भावना को जानने के लिए यह ज़रूरी है कि कक्षा में छात्रों को कविता का आस्वाद लेने के अवसर हों। उसका पाठ रुचि के साथ किया जाए और उन्हें उसके मर्म तक पहुँचने में सहायता की जाए। उन्हें कविता की भाषा में निहित लाक्षणिक और व्यंजनापरक अर्थों तक पहुँचने के अवसर उपलब्ध हों। यानी कविता को आनन्द के लिए भी पढ़ा जाए और कविता की विषयवस्तु पर चर्चा के अवसर भी हों। उसके शिल्प पर भी चर्चा के अवसर हों। कई बार एक ही कवि की विविध कविताओं का पाठ किया जाए तो कई बार एक-जैसी विषयवस्तु पर आधारित विविध कविताओं का पाठ हो और उन पर चर्चा की जाए। कभी उन्हें स्वयं कविता रचने के अवसर दिए जाएँ तो कई बार एक विषयवस्तु के इर्द गिर्द कविता, कहानी तथा अन्य विधाओं से जुड़ी रचनाओं पर बात हो। इस तरह की गतिविधियों का उत्तरोत्तर विस्तार आगे आने वाली कक्षाओं में बच्चों की कविता की समझ का विकास करने में सहायक होगा।

पढ़ने और लिखने की प्रक्रिया को सहज बनाती है

इस तरह कविताओं का इस्तेमाल न सिर्फ बच्चों के लिए पढ़ने-लिखने की प्रक्रिया को सहज बनाता है बल्कि दुनिया के साथ उनके निजी रागात्मक सम्बन्ध का भी विकास करता है। ज़रूरी यह है कि शिक्षक इन कविताओं के साथ किस तरह का संवाद रचते हैं। आरम्भिक कक्षाओं में यह महत्वपूर्ण है कि परिवेश में भरपूर कविताएँ हों, आनन्द के साथ उनका पाठ किया जाए, कक्षा में कविता के आकर्षक पोस्टर हों और बच्चों को खुद अपनी कविताएँ रचने के मौके हों, पढ़ी और लिखी जाने वाली कविताओं के बहाने बच्चों के साथ खूब सारी बातें हों। बच्चे इस बात को समझने लग जाएँ कि जो वे कहते-सुनते हैं वही लिखा और पढ़ा जाता है, तो उन्हें एक कुशल पाठक बनने से कोई रोक नहीं सकता।

2. उच्च प्राथमिक स्तर पर विधा के साथ परिचय के रूप में

आरम्भिक कक्षाओं के स्तर पर यदि बच्चों के साथ कविता के माध्यम से सोचने, समझने, तर्क एवं विश्लेषण करने, कल्पना करने और अनुमान लगाने तथा नया रचने के अवसरों का पर्याप्त इस्तेमाल किया गया हो तो उच्च प्राथमिक स्तर तक आते-आते कविता को एक विधा के रूप में बच्चे अन्य प्रकार की पठन सामग्री से अलग देखने-समझने की सहज क्षमता विकसित कर लेते हैं। ऐसे में इस उम्र में बच्चों को अपनी भाषा में कविता की परम्परा, कविता की विभिन्न शैलियों, अलग-अलग देशकाल और परिस्थिति में रची गई कविताओं के साथ आरम्भिक परिचय कराया जा सकता है। यहाँ पर भी महत्वपूर्ण यह है कि बच्चे कविता को समझने के दबाव में उसे पढ़ने का आनन्द उठाना न भूलें। इसलिए इस स्तर पर बच्चों के साथ कविता का रुचिपूर्ण पाठ किया जाना ज़रूरी है। प्राथमिक कक्षाओं में कवि के नाम पर बहुत चर्चा न भी की जाए, परन्तु कविता के साथ कवि का भी नाम दर्ज रहता है तो बच्चों में यह समझ धीरे-धीरे विकसित हो सकती है कि किसी भी कविता का कोई रचनाकार भी होता है। खासतौर पर कक्षा 4 या 5 के स्तर पर आते-आते बच्चों को कवि के नाम से परिचित कराना शुरू किया जा सकता है। यही शुरुआत उच्च प्राथमिक स्तर पर आते-आते बच्चों में कवियों के व्यवस्थित परिचय और उनकी शैलीगत विशिष्टताओं से आरम्भिक परिचय के लिए आधार का काम कर सकती है।

कक्षा 6 तक बच्चे पढ़ने-लिखने में आत्मनिर्भर हो जाते हैं। अमूर्त अवधारणाओं से अन्तःक्रिया की आरम्भिक क्षमता विकसित हो रही होती है। कविता इस उम्र में भी बच्चों को आकर्षित

करती है लेकिन इस उम्र में उनकी रुचि और पसन्द बदल रही होती है। यह अनायास नहीं कि पिछले कई वर्षों से शिवमंगल सिंह सुमन की कविता 'हम पंछी उन्मुक्त गगन के', बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविता 'विप्लव गायन', शमशेर बहादुर सिंह की 'चाँद से थोड़ी सी गप्पें', सुभद्रा कुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' आदि कविताएँ कक्षा 6 से 8 के बीच पाठ्यपुस्तकों में अपनी जगह बनाए हुए हैं। इस दौर में कबीर, मीरा, रहीम आदि के पदों से भी पाठ्यपुस्तकों में बच्चों का परिचय होने लगता है, लेकिन यह स्वाभाविक ही है कि इन कक्षाओं के लिए चुने गए पदों में एक विशेष किस्म की सरलता पाई जाती है, जबकि इन कवियों की कविता की रेंज उससे कहीं व्यापक है। एनसीईआरटी द्वारा कक्षा 6 से 8 तक के लिए बनाई गई हिन्दी की पाठ्यपुस्तक 'वसंत' एक बेहतर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

कैशोर्य की दहलीज़ पर खड़े बच्चे एक तरफ वयस्क संसार में कदम रखने को तैयार होते हैं, दूसरी तरफ दुनिया की जटिलताएँ उन्हें समझ में नहीं आती। यही वह समय भी है जब स्वायत्तता की चाह उनमें प्रबल हो रही होती है। इस उम्र में वे इस कविता के साथ तादात्म्य बना पाते हैं ''हम पंछी उन्मुक्त गगन के पिंजर बद्ध न गा पाएँगे''। इस समय, इस तरह की कविता उन्हें कविता के विविध निहितार्थों की समझ विकसित करने में भी सहायता करती है कि किस तरह एक कविता व्यक्तिगत स्तर पर और व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य दोनों ही स्तर पर एक साथ स्वायत्तता और आज़ादी की बात कर सकती है।

दूसरी ओर, कल्पना का संसार थोड़ा विस्तृत हो रहा होता है। अब 'चंदा मामा दूर के' जैसी कविताएँ उसे बचकानी लगने लगती हैं लेकिन यहीं

गोल हैं खूब मगर
आप तिरछे नजर आते हैं जरा।
आप पहने हुए हैं कुल आकाश
तारों जड़ा;
सिर्फ मुँह खोले हुए हैं अपना
गोरा-चिट्टा
गोल-मटोल
अपनी पोशाक को फैलाए
हुए चारों सिम्त।[19]

शमशेर बहादुर सिंह की यह कविता बच्चों को रूपकों की अनूठी दुनिया में ले जाती है। कल्पनाशीलता का यह फलक बच्चों के अनुभव और कल्पना से बहुत दूर नहीं, लेकिन इस अन्दाज़ में इससे परिचय ऐसी कविता ही करवा सकती है। इसके लिए बहुत ज़रूरी है कि शिक्षक स्वयं इस कविता को पढ़ते हुए इस कल्पना का भरपूर आनन्द लें। चाँद की सितारों जड़ी पोशाक और उसमें उसके गोल-मटोल गोरे मुख की कल्पना थोड़ी देर रुक जाने की माँग करती है, ताकि बच्चे इसे अपने-अपने स्तर पर महसूस कर सकें। कविता के साथ बहुत ज़रूरी बात यह है कि उसे समझने से ज़्यादा उसे संवेदना के स्तर पर महसूस किया जाए। हो सकता है कि कवि नया कुछ न कह रहा हो, या हो सकता है वह जो कह रहा है उसे यथार्थ में जाना ही न जा सके। कल्पना और यथार्थ के बीच की इस यात्रा को महसूस करना भाषा, कल्पना और संवेदना के विस्तार के असीमित आयाम खोल सकता है, बशर्ते इस काम को रुचि के साथ किया जाए।

3. माध्यमिक स्तर पर समकालीन साहित्यिक, सामाजिक सन्दर्भों के साथ विधा की समझ के लिए

इस स्तर तक आते-आते बच्चों की रुचियाँ अधिक स्पष्ट होने लगती हैं और अब कविता या साहित्य पढ़ना सिर्फ पाठ्यक्रम की बाध्यता ही नहीं रह जाता है बल्कि वे स्वयं अपनी पसन्द से भी इन विषयों में रुचि लेने लगते हैं। इस लिहाज़ से उच्च माध्यमिक स्तर की शिक्षा को भी दो भागों में देखा जा सकता है। कक्षा नौ और दस के दौरान वे उस असमंजस के दौर से गुज़र रहे होते हैं जब उन्हें अपनी आगे की शिक्षा की

दिशा तय करनी होती है जबकि कक्षा ग्यारह और बारह में आते-आते वे यह निर्णय कर चुके होते हैं। पहले स्तर पर उनके साथ किया जाने वाला काम आगे के स्तर पर उन्हें कविता के एक बेहतर सुधी पाठक के रूप में अपनी रुचि का विकास करने में सहायता करता है वहीं आगे के स्तर पर साहित्य को गम्भीर अध्ययन के विषय के रूप में अपनाने की यात्रा शुरू होती है।

यहाँ कविता महज रुचि का विस्तार ही नहीं करती बल्कि इस स्तर से छात्र साहित्य की परम्परा, कविता के सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक पक्षों को जानने समझने के लिए तैयार होते हैं, वे उसके सौन्दर्य बोध और समाज बोध की चर्चाओं को समझने लगते हैं।

विभिन्न देशकाल के परिप्रेक्ष्य में कविता की परम्परा, उसके शिल्प और शैली में आने वाले बदलावों, कवि की अपनी जीवन दृष्टि के सन्दर्भ में कविता का अध्ययन करना शुरू कर सकते हैं। इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि इस स्तर पर कविता का इस्तेमाल महज पाठ्यक्रम पूरा करने से आगे जाकर पाठ्यक्रम में शामिल कवियों और उनके समकालीन कवियों के बारे में जानने की उत्सुकता में किया जा सके।

सन्दर्भ

1. शैक्षिक संदर्भ, *अंक* 46, पृष्ठ 65-71

2. http://www.poetryfoundation.org/poems/46712/introduction-to-poetry

3. http://kavitakosh.org/kk

5. राजेश जोशी, *एक कवि की नोटबुक*, राजकमल प्रकाशन

6,7,8, 9 अंर्स्ट फिशर, *कला की जरूरत,* राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ 7-8

10, 11 भारतीय भाषाओं का शिक्षण, आधार पत्र

12. हिंदी 1, राजस्थान पाठ्यपुस्तक मंडल पृष्ठ 2

13. नन्हे-मुन्ने गीत, चिल्ड्रन बुक ट्रस्ट

14. बोध शिक्षा समिति

15. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, *इब्नबतूता का जूता*

16. पतंग

17. गिलहरी

18. प्रभात की कविताएं, बंजारा नमक लाया

19. शमशेर बहादुर सिंह, वसंत, एनसीईआरटी , नई दिल्ली

देवयानी भारद्वाज पिछले दो दशक से भी अधिक समय से हिंदी लेखन एवं पत्रकारिता के क्षेत्र में सक्रिय रही हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में हिंदी भाषा की संदर्भ व्यक्ति के रूप में कार्यरत।
सम्पर्क : devyani.bhardwaj@azimpremjifoundation.org

उत्तर-आधुनिकता, वास्तविकता और इतिहास की पाठ्यपुस्तकें

क्या मराठों ने पूरे भारत पर राज किया था?

अमन मदान

किस ज्ञान को सही मानें, किस हद तक सही मानें या फिर पूरा गलत मानें– यह समझना एक आसान प्रक्रिया नहीं है। अमन मदान का यह लेख ज्ञान रचना के उद्यम में उत्तर आधुनिकतावाद के योगदान की पड़ताल करते हुए, इसकी कठोर और नरम अवधारणाओं की चर्चा करता है। लेख बताता है कि इन दोनों में क्या फर्क है। साथ ही यह रेखांकित करता है कि ज्ञान के सन्दर्भ में आगे बढ़ने में हमें उत्तर-आधुनिकतावाद की नरम अवधारणा से मदद मिल सकती है। सं.

मुझे शुरुआत में ही साफ़ कह देना चाहिए कि यह लेख मुख्य रूप से महाराष्ट्र की इतिहास की पाठ्यपुस्तकों के बारे में नहीं है। असल में यह उनका विरोध करने वालों की सोच में एक कमज़ोरी के बारे में है, और उस कमज़ोरी को मिटाने की कोशिश है। नवम्बर 2017 में मैंने टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, मुंबई में मेरे मित्र किशोर दरक द्वारा दिये गये एक भाषण को सुना। इस भाषण में उन्होंने बताया कि महाराष्ट्र में 2017 की लिखी इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में मराठी पहचान को एक संकीर्ण तरीके से प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिये, कक्षा 7 की इतिहास और नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तक के कवर पर भगवे झण्डे को दिखाया गया है, जो अटक, तंजावूर, जिंजी, दिल्ली, कटक और रायगढ़ पर लहरा रहा है।

इस पूरे नक्शे में भगवे झण्डे के अलावा कोई राजनीतिक पहचान या सीमा नहीं दिखती। किशोर के भाषण में इसके साथ और भी कई उदाहरण दिए गए थे। भाषण के बाद की चर्चा में इस तरह की पहचान को बढ़ाने से कैसी समस्याएँ उभरती हैं, इस पर काफ़ी चर्चा हुई। मगर इन आलोचकों की बातों में एक ख़ास किस्म का अंतर्विरोध दिख रहा था। इस तरह का अंतर्विरोध हिन्दुत्व और कई अन्य तरह के सांस्कृतिक दमन के आलोचकों में अक्सर दिखाई देता है। एक तरफ़ तो आलोचकों को पक्का यकीन था कि जिस नज़रिए की वे चर्चा कर रहे थे वह ग़लत था और उसकी तुलना में रचनावादी, दलित एवं नारीवादी नज़रिए कहीं बेहतर थे। लेकिन दूसरी तरफ़ वे प्रमाण और असली इतिहास की बात करने से कतरा रहे थे। जब यह बात की गई कि इतिहास पढ़ाने का अर्थ था कि बच्चे स्रोतों को तोलना सीखें, व्याख्याओं पर सवाल करना जानें और सहयोगी प्रमाण ढूँढ़ा करें, तो लगा कि उनको इस तरह की बातों पर भरोसा कम था। मगर फिर एक समस्या यह उठती है कि हम आलोचकों की अपनी समझ का भी मान्यीकरण कैसे करें? जब वे कह रहे थे कि बच्चों को यह सिखाना कि 'महाराष्ट्र के वासी भारत के रक्षक और राजा थे' सही नहीं है, तो उस का आधार क्या था?

बहुत सारे लोग यह मानते हैं और मेरी राय में सही मानते हैं कि ज्ञान दुनिया से परे नहीं है, बल्कि सत्ता और बल से प्रभावित होता है। मगर कई बार उनकी बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान की मान्यता के राजनीतिक कारणों के अलावा कोई भी कारण ढूँढ़ना मुश्किल है। मेरा कहना है कि यह उनकी सोच की कमज़ोरी है और उसे सही करना बहुत ज़रूरी है।

यह लेख उत्तर–आधुनिकतावाद (post-modernism) के उस बेहतर योगदान पर केन्द्रित है जिसने हमें ज्ञान और सत्ता के बीच के रिश्ते को टटोलने पर मज़बूर किया है। मगर इसके बावज़ूद कि ज्ञान के बिल्कुल ठोस आधार कभी नहीं मिल सकते, फिर भी यथार्थवाद, प्रमाण और उचित व्याख्या अभी भी काफ़ी हद तक काम की बातें हैं। हाँ, इतिहास की इस या उस समझ के बीच में चयन करने की समस्या तब बढ़ जाती है, जब हम यह मानते हैं कि ज्ञान स्वयं में सामाजिक रचना है।

ऐसी परिस्थिति में हमें पाठ्यचर्या के औचित्य ढूँढ़ने की प्रक्रिया को और मज़बूत बनाने की ज़रूरत है। उसे सिर्फ़ राजनीतिक कहकर छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। यह लेख उत्तर–आधुनिकतावाद की कुछ अवधारणाओं की जाँच करेगा और उनके योगदान का आकलन करेगा। मेरा मत है कि उत्तर-आधुनिकतावाद की कठोर और नरम धाराओं में फ़र्क करना लाभदायक है। अगर हम एक नरम किस्म के ज्ञान के समाजशास्त्रीय नज़रिए का प्रयोग करते हैं तो समकालीन शिक्षा और संस्कृति की राजनीति को पार करते हुए कुछ दिशाएँ ढूँढ़ पायेंगे।

> यह माना जाता था कि ज्ञान के ठोस, अकाट्य आधार होते हैं। जबकि उत्तर-संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकवाद की आलोचना ने हमें अपनी कई मान्यताओं, मूल्यों और प्रथाओं पर पुनर्विचार करने पर मजबूर किया है।

सामाजिक सिद्धान्त में ज्ञान की निश्चितता

सामाजिक विज्ञान में यह बहुत पहले से स्वीकृत है कि सामाजिक जीवन व उसमें सत्ता के संघर्ष हमारी संस्कृति पर प्रभाव डालते हैं और हमारे ज्ञान पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं। मार्क्स के अनुसार उनके समय की जर्मन फ़िलॉसफी पर दुनिया को देखने का बुर्जुआ नज़रिया हावी था। (Marx 2018 / 1932)। मैक्स वेबर ने कहा था कि शिक्षित होने का अर्थ अलग–अलग समय में अलग था और उनके दौर में शिक्षा का आदर्श कागज़ी कानूनों का पालन करने वाला मुनीम बनाना बनकर रह गया था। मदान (Madan 2014), शेर्लोट पर्किन्स गिलमैन (Charlotte Perkins Gilman -1998 / 1898) का कहना था कि औरतों की समाज में भूमिका का निर्धारण आदमियों के वर्चस्व के कारण ज़्यादा और औरतों की अपनी क्षमताओं के कारण कम था। भारत में ज्योतिबा फुले (2002) ने 19वीं शताब्दी में ही कह दिया था कि अंग्रेजों के राज में शिक्षा शहरी जीवन को आदर्श बना रही थी और खेती को कमतर माना जा रहा था। हम सब भी जानते हैं कि कैसे गाँधी ने अंग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली के मूल तत्वों को चुनौती दी थी।

ज्ञान और संस्कृति सामाजिक रिश्तों की उपज हैं, जिसमें दमन निहित होता है, इस पुराने ख़्याल को उत्तर– संरचनावाद (Post-structuralism) और उत्तर–आधुनिकतावाद द्वारा नई गति और विस्तार से बयान किया गया है। इन दोनों की शुरुआत पश्चिमी यूरोपीय सामाजिक सिद्धान्त में हुई थी और फिर वहाँ से ये अंग्रेज़ी भाषीय अकादमिक जगत पर छा गये। इन्होंने मूलभूतवाद (Foundationalism) की, एक बहुत प्रभावशाली आलोचना की जिसका सामाजिक विज्ञान के विकास में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। मूलभूतवाद के अनुसार सामान्यतः ज्ञान के ठोस, अकाट्य आधार होते हैं। जबकि उत्तर-संरचनावाद और उत्तर–आधुनिकवाद की आलोचना ने हमें अपनी कई मान्यताओं, मूल्यों और प्रथाओं पर पुनर्विचार करने पर मजबूर किया है। रोलाँ बार्थ (Roland Barthes), ज़ाक देरीदा (Jacques Derrida), ज्याँ फ़्रांस्वा ल्योतार (Jean–Francois Lyotard), फ्रेड्रिक जेमसन (Frederic Jameson), मिशेल फूको (Michel Foucault), जूडिथ बटलर (Judith Butler) जैसे कई विद्वानों के काम को आज 'उत्तर–आधुनिकता का मोड़' के नाम से जाना जाता है, हालाँकि सभी विद्वान इस नाम से

खुश नहीं हैं। उत्तर-संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद की मुख्य बातें और विश्लेषण क्योंकि एक दूसरे से मेल खाते हैं, इसलिए मैं सुलभता की दृष्टि से दोनों को उत्तर-आधुनिकतावाद ही कहूँगा। परन्तु यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि इन दोनों बौद्धिक चलनों की शुरुआत थोड़े अलग तरीके से हुई थी। उत्तर-संरचनावाद, भाषा विज्ञान (linguistics) और संरचनावाद (Structuralism) से उत्पन्न हुआ था और उत्तर-आधुनिकतावाद पर विवेचनात्मक सिद्धान्त (Critical theory) का ज़्यादा असर है।

शायद यहाँ पर यह स्पष्ट करने से मदद मिलेगी कि उत्तर आधुनिकतावाद के कम से कम तीन अलग-अलग मतलब रहे हैं। पहला मतलब, ज्ञानमीमांसा में एक नज़रिए का है, जो किसी भी तरह की निश्चितता पर सवाल उठाता है और ज्ञान के मूलभूत आधार पर प्रश्न करता है। दूसरा मतलब कई देशों के सामाजिक ढाँचे से वाबस्ता है, जिन के बारे में कहा जाता है कि औद्योगिकरण और पूँजीवाद के बढ़ते विकास के कारण वे आधुनिकता से उत्तर-आधुनिकता की तरफ़ निकल चुके हैं। तीसरा मतलब, कला की एक विशेष शैली से सम्बन्धित है, जो एकग्र और अखण्ड कथाओं और अर्थों से अपने आप को दूर करता है। तीनों तरह के मतलब अपने आप में रोचक और प्रासंगिक हैं, परन्तु मैं इस लेख में उत्तर आधुनिकतावाद के पहले यानी ज्ञानमीमांसक अर्थ के बारे में ही मुख्यतः बात कर रहा हूँ।

> बहुत सारे लोग यह मानते हैं और मेरी राय में सही मानते हैं कि ज्ञान दुनिया से ऊपर नहीं बसता, बल्कि सत्ता और बल से प्रभावित होता है। मगर कई बार उनकी बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान की मान्यता के राजनैतिक कारणों के अलावा कोई भी कारण ढूंढ़ना मुश्किल लगता है। मेरा कहना है कि यह उनकी सोच में कमज़ोरी है और उसे सही करना बहुत ज़रूरी है।

उत्तर-आधुनिकतावाद का संस्कृति में हस्तक्षेप इस बात को ले कर है कि किसी भी तरह की सांस्कृतिक समझ या ज्ञान कभी भी वास्तविकता से सीधे तरीके से जुड़ा नहीं होता। हमारी समझ कभी भी वास्तविकता की सीधी छवि नहीं बना पाती। वह एक तरह की धुंध के बीच से उसे अधूरे, विकृत रूप में देख पाती है। उदाहरण के लिये ज़ाक देरीदा (Jacques Derrida) (1981) ने क्लाद लेवी स्ट्रास (Claude Levi-Strauss) जैसे संरचनावादियों और रिलेशनल भाषा-विज्ञान के विचारों को आगे बढ़ाते हुए कहा था कि हमारी मान्यताएँ और अवधारणाएँ एक बाहरी वास्तविकता की सीधी प्रतिबिम्ब नहीं हैं। देरीदा (Derrida) का कहना था कि इसकी जगह वे कुछ अन्य अर्थों की व्यवस्थाओं पर टिकी होती हैं। लाल रंग को हम तभी समझ सकते हैं जब हम उसे पीले और नारंगी से फ़र्क करते हुए समझते हैं। इन अर्थों के जाल का आधार दूसरे अर्थों का जाल है, इत्यादि। देरीदा के अनुसार, किसी भी बात के अर्थ को ठोस रूप से पकड़ने की समस्या यह है कि ऐसे करने की कोशिश के दौरान वह अर्थ हमसे दूर होता जाता है।

शक्ति (या सत्ता) उत्तर-आधुनिकतावाद के संस्कृति और ज्ञान के विश्लेषण में बहुत महत्व रखती है। यदि मान्यताएँ किसी ठोस आधार पर सीधे रूप से नहीं टिकी रहती तो फिर अलग-अलग विचारों की व्यवस्थाओं से कई तरह की मान्यताएँ निकल सकती हैं। उत्तर-आधुनिकतावादियों का मानना है कि हम कौन-सी मान्यताओं या व्याख्याओं को चुनते हैं, यह इससे प्रभावित होता है कि समाज में कौन-से समूह के पास सत्ता है और किनका वर्चस्व दूसरों पर हावी है। जब सत्ता, चयन के आधार के रूप में देखी जाती है तो स्वाभाविक है कि उत्तर-आधुनिकतावादी प्रचलित सांस्कृतिक मान्यताओं को काफ़ी संदेह से देखते है।

कई उत्तर-आधुनिकतावादी कहते हैं कि सभी ज्ञान और संस्कृतियों को भाषा-वैज्ञानिक रूप से पढ़ा जा सकता है। कई तरह के ज्ञान में एक

ही कथानक या Narrative रहता है जो अलग-अलग तरीके से बयान किया जाता है। वे मानते हैं कि क्योंकि हर तरीके का ज्ञान एक तरह से कथानकों की अभिव्यक्ति है तो उसे मौलिक रूप से सच्चा या झूठा नहीं कहा जा सकता। देरीदा और उनके कई साथी कहते हैं कि किसी भी कथानक को दूसरे कथानक से ज़्यादा सच्चा नहीं माना जा सकता। यह ध्यान देने लायक है कि यह लोग सच्चाई को सिर्फ़ कथानक में ही ढूँढ़ते हैं। देरिदा मानते हैं कि एक Meta-Narrative या महा-कथानक को सिर्फ़ थोपा जा सकता, उसको सही मायने में जायज़ नहीं ठहराया जा सकता। उत्तर- आधुनिकतावादी उससे पीछे हटने की बात करते हैं। ऐसे में जो स्थिति निकलती है उसमें सिर्फ़ कई सारे कथानक ही दिखते हैं और आप चाहें तो सिर्फ़ अपना प्रिय कथानक ही चुन लें। अलग-अलग कहानियों के बीच में से चयन करने का उनके पास ऐसा कोई तरीका नहीं है जो उन्हें सत्ता के प्रयोग पर आधारित नहीं लगता।

ज्याँ फ्रांस्वा ल्योतार (1984) ने घोषणा की थी कि उत्तर-आधुनिकतावाद में मूल रूप से महा-कथानकों को लेकर एक गहरी शंका है। उनका कहना था कि जब से विज्ञान और दर्शन अलग-अलग टुकड़ों में बँट गए थे (Fragmentation of Knowledge), तब से किसी भी तरह के ज्ञान का औचित्य सिद्ध करना नामुमकिन हो गया । अब यह स्थिति थी कि मान्यता किसी मौलिक तर्क या सिद्धान्त से न आकर सिर्फ़ प्रदर्शन और अभिनय से आती थी। पूँजीवाद इसलिए सही लगता था क्योंकि वह उत्पादन का पहाड़ खड़ा कर रहा था। उसके बारे में नैतिक सवाल उठाना अब बेमानी सा लगता था।

> कई उत्तर आधुनिकतावादी कहते हैं कि सभी ज्ञान और संस्कृतियों को भाषा-वैज्ञानिक रूप से पढ़ा जा सकता है। कई तरह के ज्ञान में एक ही कथानक या NARRA-TIVE रहता है जो अलग-अलग तरीके से बयान किया जाता है। वे मानते हैं कि क्योंकि हर तरीके का ज्ञान एक तरह से कथानकों की अभिव्यक्ति है तो उसे मौलिक रूप से सच्चा या झूठा नहीं कहा जा सकता।

बुनियादों पर सवाल उठाने और कई तरह की मान्यताओं व ज्ञान पर सवाल उठाने के फलस्वरूप कई सांस्कृतिक कृतियों को सिर्फ़ वर्चस्वी बातों से बना हुआ दिखाया गया। इस प्रक्रिया को Deconstruction या विखंडन कहा गया। उससे पता चला के कई बार ऐसे लगता था कि व्यक्ति पितृसत्ता, जातिवाद और अन्य किस्म के शोषण का विरोध कर रहा था मगर असल में वह फिर उन्हीं को मज़बूत किये जा रहा था। इस तरह के विश्लेषण का आज के सामाजिक अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान है। उत्तर उपनिवेशवादी सिद्धान्त (Post-colonial theory) के रूप में इसने हमें यह समझने की मदद की है कि जो कुछ विकास के नाम से होता है, कई बार वह सिर्फ़ सरकार और उसके पीछे खड़े कुछ स्वार्थों की पूर्ति का और दलित, ग़रीब, आदिवासी और महिलाओं को शोषित और उत्पीड़ित करने का तरीका होता है। हालाँकि हर समय जपा यही जाता है कि बड़े बाँध और महँगे विज्ञान द्वारा उन की मदद की जा रही है।

उत्तर-आधुनिकतावाद का एक संतुलित आकलन

उत्तर-आधुनिकतावाद का कई तरह से विरोध हुआ है और उस पर एक लम्बे अरसे से विवाद चला आ रहा है। मगर कालचक्र भी घूम चुका है और आज जब संस्कृतियों के संघर्ष की बात आम तौर पर की जाती है, तब उत्तर-आधुनिकतावादी नज़रिया जो किसी के किसी भी विचार को समर्थन देने से कतराता था, अजीब-सा लगता है। दूसरी तरफ़, उत्तर- आधुनिकतावाद की ज्ञान मीमांसक बातों पर पिछले तीन दशकों में कई विद्वानों ने पुनर्विचार किया है (Giddens 1991, Sarup1993, Ritzer1997)।

एक आम शिकायत यह रही है कि उत्तर–आधुनिकतावादी अपने आप को ही झूठा साबित कर देते हैं। अगर हर मान्यता सिर्फ़ उन्हीं की संस्कृति के लिये सत्य हो सकती है, तो फिर यह विवरण कोई दूसरे समाज का व्यक्ति कैसे समझ सकता है? ऐसी कोई भी बात कैसे कही जा सकती है, जो सामाजिक सरहदों के पार कोई और न समझ सकता हो? हम भारतीय कैसे समझ सकते हैं कि फ्रांसीसी या अमरीकी लेखक आखिर कह क्या रहे थे? अगर ऐसा है तो फिर हम फँस गए क्योंकि हम तो उत्तर-आधुनिकतावाद भी नहीं समझ सकते।

इन समस्याओं के साथ ही उत्तर–आधुनिकतावादियों के लिखने के तरीके से नाखुश होकर कई लोग पूरे उत्तर–आधुनिकतावाद को नकार देते हैं। उनकी लेखन शैली में अराजकता और उदासीनता झलकती है। मगर शायद उत्तर-आधुनिकतावाद को सिर्फ़ बेकार की बातें कह देना जल्दबाज़ी होगा। असल में वे लोग कुछ काफ़ी महत्वपूर्ण बात कहने की कोशिश कर रहे हैं। उत्तर–आधुनिकतावाद को ज़्यादा बेहतर तरीके से जाँचने के लिये उसे उसके अपने ही परिवेश में समझना फ़ायदेमंद होगा ।

> उत्तर-आधुनिकतावाद का कई तरह से विरोध हुआ है और उस पर एक लम्बे अरसे से विवाद चला आ रहा है। मगर कालचक्र भी घूम चुका है और आज जब संस्कृतियों के संघर्ष की बात आमतौर पर की जाती है,तब उत्तर आधुनिकतावादी नज़रिया जो किसी के किसी भी विचार को समर्थन देने से कतराता था, अब अजीब-सा लगता है।

उत्तर–आधुनिकतावादी और उत्तर संरचनावादी कुछ एलीट पश्चिमी यूरोपीय और उत्तर अमरीकी संस्थाओं के विद्वान थे। वे 1970 और 1980 के दशकों में लिख रहे थे जब उनके अपने देशों की कुछ संस्कृतियाँ अपने आप को सबसे सही और अच्छी जतलाने में लगी हुई थीं। उदारवादी कल्याणकारी (Welfare) पूँजीवाद को लगता था कि उसके पास हर चीज़ का ज़वाब था। उत्तर–आधुनिकतावादी एक ऐसी संस्कृति के खिलाफ़ बोल रहे थे जो अपने ख़ुद के अन्दर पितृसत्ता और नस्लवाद को नज़रअंदाज करते हुए बाकी दुनिया में शोषण और हिंसा भड़का रहे थे। इस सब के बावजूद वे अपने आप को एक सर्वव्यापी सच के रुप में भी देख रहे थे। यह वह परिवेश था कि जिस में उत्तर–आधुनिकतावादियों ने अपने ही देशों के नैतिक, सामाजिक और तकनीकी बातों की ज्ञान–मीमांसक नींवों की आलोचना की। उत्तर–आधुनिकतावादी तो मूल रूप से अपने यहाँ के वर्चस्व रखने वाली कुछ बातों का पर्दाफाश करना चाहते थे। वे वैकल्पिक सिद्धान्त बनाने के इच्छुक नहीं थे। हालाँकि अब इतने दशक बीतने के बाद हमारे सामने कुछ अलग तरह की चुनौतियाँ हैं और हम चीज़ों को किसी और तरीके से भी देख सकते हैं।

उनके सीमित इरादों के उदाहरण के लिये मिशेल फूको का काम देखिए जिन्होंने कहा था कि हमें सिर्फ़ ज्ञान की बात नहीं करनी चाहिए, बल्कि हमें ज्ञान-सत्ता की अवधारणा का प्रयोग करना चाहिए। हर तरह का ज्ञान, हर प्रकार के ज्ञान का अनुशासन (Discipline) असल में ताकत से बना हुआ होता है और हमारे चेतन को एक ख़ास तरीके से अनुशासित कर रहा होता है। वह एक विमर्श (Discourse) है जो कुछ विशेष अवधारणाओं और क्रियाओं को एक ख़ास तरीके से बाँध कर कुछ विशेष स्वार्थों की मदद कर रहा होता है। मिशेल फूको स्वयं एक समलैंगिक पुरुष था और उसके लेखन में यह बात अहम थी कि चिकित्सा और मनोविज्ञान विषमलैंगिकता यानी Heterosexuality को सामान्य करने की कोशिश करती थी। अपनी किताब 'Archaeology of Knowledge' (Foucault 1972 / 1968) में उन्होंने स्पष्ट तौर पर बताया है कि उनका उद्देश्य मानव ज्ञान के बनने में जिस तरह की राजनीति और चयन का

प्रयोग होता है, को सबके सामने लाना था। यह महत्वपूर्ण है कि वे यह नहीं कहते हैं कि देखने वाले के बाहर कोई वास्तविकता नहीं है। न ही वे यह कहते हैं कि हम वास्तविकता की किसी भी तरह की छवि नहीं बना सकते। और न वह कहते हैं कि दो अलग किस्म के मूल्यों में से चयन करना नामुमकिन है। सारा समय वे ख़ुद भी तो वही कर रहे थे। उन्हें और उनकी तरह सोचने वालों की रुचि इस बात में है कि निरूपण या Representation कैसे होता है। निरूपण क्या हो रहा है, इसमें उनकी रुचि नहीं है। फूको (Foucault) के लिए यह "कैसे" सामाजिक सिद्धान्त का नया सवाल है और यह मानव अस्तित्व को समझने में बहुत ज़रूरी था।

यह कहना कि हम जनतंत्र और समानता के पक्ष में खड़े हैं, यह भी एक तरह के बल का ही प्रयोग है और कभी-कभी वर्चस्व के रूप में भी बदल सकता है। इस तरह के बल के प्रयोग को उचित ठहराने की प्रक्रिया से हम बच नहीं सकते। उत्तर आधुनिकतावादियों और उत्तर-उपनिवेशवादियों पर यह आरोप लगाया गया है कि वे कुछ बातों का तो विरोध करते हैं मगर कुछ का नहीं।

जब हम उत्तर आधुनिकतावाद और उत्तर-संरचनावाद के निर्णायक लेखों को देखते हैं तो यह लगता है कि वे बाहरीय अस्तित्व के होने को नकारते हैं। ऐसा भी लगता है कि उनके अनुसार ऐसा कोई ज्ञान नहीं हो सकता जो अलग-अलग चेतनाओं को व्यक्तिगत या सामूहिक तौर पर साझे रूप में रखता हो। असल में वे यह कहने की कोशिश कर रहे हैं कि हम अपनी कई मान्यताओं पर पुनर्विचार करें जिन पर हम बड़े सहज रूप से यकीन किए बैठे हैं। फूको और कई दूसरों को कभी-कभी साक्षात्कार में पकड़ने की कोशिश की जाती थी कि क्या वे मानते हैं कि कोई मान्य किस्म का ज्ञान मुमकिन है भी या नहीं। मगर अपने ख़ास खिलवाड़ के अन्दाज़ से वे इस सवाल को दूसरी ओर ले जाते थे और उसका कोई सीधा जवाब नहीं देते (Foucault 1984)। इस तरह के जवाब से उनके निन्दकों का गुस्सा बढ़ता। मगर फूको और उन सबको जो ज्ञान की सामाजिक जड़ों की बात करते हैं, उन्हें सिर्फ़ Relativist या सापेक्षवादी कह कर टाल देना शायद उनके साथ नाइन्साफ़ी होगी।

मूलभूतवाद की कठोर और नरम आलोचनाएँ

हमारी पाठ्यक्रम की राजनीति को समझने में उत्तर-आधुनिकतावाद और ज्ञान की समाजशास्त्रीय समझ क्या मदद कर सकते हैं? इसके लिए मूलभूतवाद पर जिन लोगों ने सवाल उठाए हैं, उनके कठोर और नरम नज़रियों में फ़र्क करना लाभदायक है। कठोर नज़रिए हर तरह के मूलभूतवाद पर शक ही करते है और उनके सामने रखे हर मत या महा-कथानक को नकार देते हैं। यह शायद इसलिए भी है क्योंकि उत्तर-आधुनिकतावाद पर भारी मात्रा में अराजकता के राजनीतिक दृष्टिकोण का असर है। किसी भी तरह की वैकल्पिक व्यवस्था का मतलब होता है, उसमें फिर से बल का प्रयोग करना और यह एक ऐसी बात थी जिससे उन्हें घृणा थी।

उत्तर-आधुनिकतावाद के आलोचकों का कहना है कि उनके द्वारा बल के प्रयोग की इस इस तरह की निन्दा ज़्यादा जायज़ नहीं है। आख़िर वे खुद भी तो कुछ विचारों को ज़्यादा शक की निगाह से देखते थे और दूसरों को नहीं। यह कहना कि हम जनतंत्र और समानता के पक्ष में खड़े हैं, यह भी एक तरह के बल का ही प्रयोग है और कभी-कभी वर्चस्व के रूप में भी बदल सकता है। इस तरह के बल के प्रयोग को उचित ठहराने की प्रक्रिया से हम बच नहीं सकते। उत्तर-आधुनिकतावादियों और उत्तर-उपनिवेशवादियों पर यह आरोप लगाया गया है कि वे कुछ बातों का तो विरोध करते हैं मगर कुछ का नहीं। उदाहरण के लिये पार्था चटर्जी (1993) ने बहुत

तीखे तरीके से राष्ट्रवाद की राजनीति द्वारा शिक्षा और संस्कृति में शोषण की व्याख्या की है। मगर इसी तरह से आदिवासी या मुस्लिम अस्मिता को बनाने में जैसा बल या राजनीति का प्रयोग किया गया, उसकी व्याख्या बराबर रूप से नहीं करते।

पिछले कुछ सालों से उत्तर आधुनिकतावाद का सीमित और मध्यम रूप ज़ोर पकड़ रहा है, जो अक्सर यह नहीं चाहता कि वह उस नाम से जाना जाए। एंथनी गिडेंस (Anthony Giddens) (1984), सेयला बेनहबीब (Seyla Benhabib) (1992), उलरिख बेक (Ulrich Beck) (1992) जैसे कई विद्वान मानते हैं कि ज्ञान के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के बाद हमें अपनी सोच की श्रेणियों, जिसके आधार पर दुनिया की चीजों का वर्गीकरण व विश्लेषण किया जा सकता है और ज्ञान बुनने की प्रक्रियाओं के बारे में बहुत सचेत होने की ज़रूरत है। मगर फिर भी ऐसी श्रेणियाँ विकसित की जा सकती हैं जो कुछ हद तक वास्तविकता के अनुरूप हैं। हमारे ज्ञान में कई तरह के झुकाव और पक्षपात हो सकते हैं, यह तो आख़िर बहुत पुरानी बात है। उत्तर-आधुनिकतावाद का योगदान यह रहा है कि वह हमें इस के बारे में पहले से बहुत ज़्यादा संवेदनशील करती है।

मूलभूतवाद की यह सीमित और नरम किस्म की आलोचना हमें अलग-अलग मतों के बीच में चुनाव करने देती है। मगर फिर भी एक अन्तिम और निर्णायक किस्म की मान्यता पर नहीं पहुँचने देती। हालाँकि कई तरह के अवलोकनों और प्रयोगों की तुलना की जा सकती है और उनमें से ज़्यादा अच्छे वालों का चयन किया जा सकता है। वास्तविकता की परिकल्पना को स्वीकार किया जाता है और यह भी स्वीकार किया जाता है कि हम उसे कभी भी पूरी तरह से नहीं पा सकते। निष्पक्ष होना बहुत कठिन हो सकता है मगर फिर भी ज्ञान पाने के कुछ तरीके हमें दूसरे तरीकों की तुलना में वास्तविकता के ज्यादा करीब ले जा सकते हैं। हमारे सामने एक बड़ी चुनौती यह ज़रूर है कि हम कैसे पहचानें कि सत्ता और हमारे मूल्य किस तरह से हमारी समझ को प्रभावित कर रहे हैं। मगर सिर्फ़ सत्ता या उसके न होने से बात सही या ग़लत नहीं स्थापित होती है। अगर हम यह कहते हैं कि दलित या महिलाओं की समझ किसी बात को ले कर ज़्यादा सही है तो हमें उनके शोषित होने के अलावा भी कोई अन्य कारण देना पड़ेगा।

> निष्पक्ष होना बहुत कठिन हो सकता है मगर फिर भी ज्ञान पाने के कुछ तरीके हमें दूसरे तरीकों की तुलना में वास्तविकता के ज्यादा करीब ले जा सकते हैं। हमारे सामने एक बड़ी चुनौती यह ज़रूर है कि हम कैसे पहचानें कि सत्ता और हमारे मूल्य किस तरह से हमारी समझ को प्रभावित कर रहे हैं। मगर सिर्फ़ सत्ता या उसके न होने से बात सही या ग़लत नहीं स्थापित होती है।

जब हम सत्यता के कुछ अन्य विस्तृत कारण भी ढूँढ़ते हैं तो हमें स्वीकार करना पड़ता है कि अंतर-आत्मीयता (Inter-subjectivity) किसी रूप में मौज़ूद हो सकती है। हमें यह भी मानना पड़ता है कुछ ऐसे हालात हो सकते हैं जो सिर्फ़ हमारे मन की कल्पना नहीं हैं। इस तरह की सीमित किस्म की मूलभूतवाद की व्याख्या में कई गुण हैं, जिसमें से एक यह भी है कि वह अपने आप के औचित्य के बारे में उत्तर-आधुनिकतावाद से ज़्यादा बातें कह सकती हैं। यदि सभी कुछ सत्ता है तो फिर हम उत्तर-आधुनिकतावाद को भी सिर्फ़ सत्ता कह कर दरकिनार क्यों नहीं कर सकते। मगर यह आप उतनी आसानी से उनके साथ नहीं कर सकते जो कि अंतर-आत्मीयता (Inter-subjectivity) और वास्तविकता को थोड़ा बहुत भी मानते हों।

ज्ञान के सीमित समाजशास्त्रीय विश्लेषण के नज़रिए में कभी भी संस्कृति को सरल रूप में नहीं देखा जा सकता। संस्कृति की लगातार आलोचना और पुनर्विचार की ज़रूरत होती है। आधुनिकतावाद से निकले हुये नज़रियों में यह

कोई नई बात नहीं है। वैज्ञानिकों की अपने बारे में जो छवि है, उसमें यह शामिल है कि वे लगातार नए विचारों का स्वागत करते हैं। फूको ने कांट (Kant) के छोटे से लेख "प्रबोधन (Enlightenment) क्या है" के जवाब में यही सवाल पूछते हुए एक लम्बा लेख लिखा था (Foucault 1984)। उसमें इसी खुलेपन को प्रबोधन की विशेषता कहा गया था। फूको आधुनिकता के सख्त ख़िलाफ़ थे, परन्तु एक बात उन्हें बहुत पसन्द थी। वह थी लगातार ऐसी समझ से ऊपर उठने की कोशिश जो किसी एक जगह, युग और परिवेश से जुड़ी हो। फूको के लिये प्रबोधन की सबसे बड़ी खूबी यही है कि वह ज़िन्दगी को तलवार की धार पर जीने को कहती है। हर समय यह पूछने को तैयार रहती है कि क्या हमारी मान्यताएँ, हमारे विश्वास वाकई सही हैं, हर समय उन्हें उखाड़ कर नये रूप से उन्हें बुनने को तैयार रहती है। नरम किस्म के ज्ञान के समाजशास्त्र की विशेषता यह है कि वह ऐसा करने को तैयार है। तीव्र या कठोर उत्तर-आधुनिकतावाद की तरह वह अपने आप को एक शक के चक्रव्यूह में नहीं फँसा देती, जहाँ कुछ भी ज़्यादा और कम सच्चा नहीं। उसकी तुलना में, इस तरह की नरम सोच रखने वाले विद्वान इस बात पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं कि ऐसे ज्ञान, संस्कृतियाँ और समझ बनाए जाएँ जो थोड़ा-सा ज़्यादा अन्तर-व्यक्तिपरक (Inter-subjective) हों, जिनकी मान्यता कुछ और लोगों के साथ किए संवाद द्वारा तय की जाए। जब हम कहते हैं कि समाज विज्ञान, विज्ञान, साहित्य, इत्यादि सभी विमर्श (Discourses) और सत्ता से बने होते हैं न कि निष्पक्ष सत्य से। तब उसका अर्थ यह नहीं कि हम उनमें कुछ भी सुधार होने की उम्मीद ही छोड़ दें। उसकी जगह यह पूछना ज़रूरी है कि हम उनके सुधरे हुये संस्करण कैसे बनाएँ। हो सकता है कि ऐसा करने पर हमारे ज्ञान को हमें मौलिक रूप से परिवर्तित करना पड़े। या हो सकता है कि पुनर्निरीक्षण के बाद इतना फ़र्क न भी पड़े। जब तक हम अपने ज्ञान में सत्ता की छाप को ढूँढ़ने की कोशिश नहीं करते, तब तक हमें पता भी कैसे चल सकता है?

जब हम कहते हैं कि समाज विज्ञान, विज्ञान, साहित्य, इत्यादि सभी विमर्श और सत्ता से बने होते हैं न कि निष्पक्ष सत्य से। तब उसका अर्थ यह नहीं कि हम उनमें कुछ भी सुधार होने की उम्मीद ही छोड़ दें। उसकी जगह यह पूछना ज़रूरी है कि हम उनके सुधरे हुये संस्करण कैसे बनाएँ। हो सकता है कि ऐसा करने पर हमारे ज्ञान को हमें मौलिक रूप से परिवर्तित करना पड़े।

मूलभूतवाद का सीमित व्याख्यान और इतिहास की पाठ्यपुस्तकें

जब समाज विज्ञान और विशेष रूप से इतिहास की पाठ्यपुस्तकों के लेखन की बात आती है तो ज्ञान के सीमित व्याख्यान में वे कई बातें होती हैं जो कि कठोर किस्म के उत्तर-आधुनिकतावाद में भी हैं। यह भी कहते हैं कि हम मूलभूतवाद से अपने आप को दूर रखें, यह न सोचें कि ज्ञान की नीवें अविवादित हैं, किसी भी बात की अनिवार्यता पर यकीन न करें, और विमर्श (Discourses) में शक्ति के प्रयोग के प्रति संवेदनशील रहें। लेकिन यह सिर्फ़ आलोचना तक करने पर रुक नहीं जाता, वह उसका इस्तेमाल करके ज़्यादा अच्छी संस्कृति और ज्ञान बनाने की कोशिश करती है। जो नया ज्ञान उत्पन्न होता है, वह फिर आलोचना के लिये खुला है।

आज के दौर में कई ज़ोरदार दावे किये जा रहे हैं कि इतिहास जैसे विषयों में बातों को सही करने की ज़रूरत है। सीमित नज़रिया इस की सराहना करेगा मगर इस की भी राजनीति को समझने की कोशिश करेगा। यह स्वीकार किया जाएगा कि पुरानी इतिहास की पाठ्यपुस्तकें वास्तव में नेहरूवाद से प्रभावित थीं और कुछ सामाजिक समूहों के वर्चस्व पर टिकी हुई थीं। हालाँकि, नरम उत्तर-आधुनिकतावादी यह भी कहेंगे कि समकालीन महाराष्ट्र की पाठ्यपुस्तकों में केवल दिल्ली की इलीटिज़्म (अभिजात्यता) की जगह पुणे और मुंबई की अभिजात्यता ने ले ली है। अगर किसी ने इतिहास के लिए बेहतर

दृष्टिकोण बनाने की कोशिश की तो सवाल पूछे जाने चाहिए कि इनमें से कौन-सा पसंदीदा होना चाहिए। और यदि उनमें से कोई भी नहीं है, तो फिर अन्य प्रकार के इतिहास को छात्रों को पढ़ाया जाना चाहिए।

ज्ञान की समाजशास्त्रीय आलोचना हमें संस्कृति की राजनीति की बढ़ती हुई जागरूकता की तरफ़ ले जाता है, जो हमें यह स्वीकार करने के लिये प्रेरित करता है कि इतिहास की पाठ्यपुस्तकें (भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, गणित, इत्यादि भी) एक सांस्कृतिक परियोजना में व्यस्त हैं। ये एक पहचान बनाते हैं, हमें यह समझाते हैं कि हम कौन हैं और हमें क्या करना चाहिए। प्रत्यक्षवाद (Positivism) के विपरीत, मध्यमार्गी उत्तर-आधुनिकतावादी यह कहेंगे कि इससे बचने की कोशिश व्यर्थ है। उसकी जगह हमें यह पूछना चाहिए कि अलग-अलग वैकल्पिक समझ में से हमें कौन-सी चुननी चाहिए और क्यों?

एक ऐसा इतिहास जो संस्कृति से परे हो और राजनीति से परे हो ,ऐसा मुमकिन ही नहीं है। हमें ऐसा इतिहास भी नहीं मिल सकता जो कि सार्वभौमिक और हर समय के लिए निष्पक्ष सत्य हो। लगता है कि यह मानवीय स्थिति से परे है। इसकी जगह हमें सांस्कृतिक मान्यताओं और पहचान-निर्माण, सौंदर्यशास्त्र, दमन के सम्बन्ध और स्वतंत्रता के संबंध पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

एक ऐसा इतिहास जो संस्कृति से परे हो और राजनीति से परे हो, मुमकिन ही नहीं है। हमें ऐसा इतिहास भी नहीं मिल सकता जो कि सार्वभौमिक और हर समय के लिए निष्पक्ष सत्य हो। लगता है कि यह मानवीय स्थिति से परे है। इसकी जगह हमें सांस्कृतिक मान्यताओं और पहचान-निर्माण, सौंदर्यशास्त्र, दमन के सम्बन्ध और स्वतंत्रता के सम्बन्ध पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

यहाँ तक तो यह वही सब बातें हैं जो कि सभी उत्तर-आधुनिकतावादी और उत्तर-उपनिवेशवादी करते। नरम और मध्यमार्गी नज़रिए की विशेषता यह है कि वे पूछेंगे कि कौन-से वैकल्पिक दावे किए जा सकते हैं और उनमें से कौन-से दावे ज़्यादा सही हैं और उनके पक्ष में क्या प्रमाण, तर्क और मूल्य हैं। इसके अन्त में, हम केवल आलोचना के साथ नहीं छोड़े जाते हैं, लेकिन वर्तमान से बेहतर इतिहास पाठ्यपुस्तक की ओर भी जा सकते हैं। मैं जिस बात पर ज़ोर देना चाहता हूँ वह है इतिहास की पाठ्यपुस्तकों का जब हम आकलन करते हैं, उसमें उनके सांस्कृतिक और राजनीतिक पहलुओं के साथ-साथ वास्तविकता और नैतिक तर्कों का भी महत्त्व है।

जहाँ प्रत्यक्षवादी (Positivist) नज़रिए में इतिहास का सिर्फ़ एक ही रूप हो सकता है, अति उत्तर-आधुनिकतावाद में इतिहास के अनन्त रूप हो सकते हैं और सभी समान रूप से सही और ग़लत हैं। मध्यमार्गी रूप के उत्तर आधुनिकतावाद में कहेंगे कि वास्तव में अन्तर-व्यक्तिपरक समझ और समझौते के लिए काफी जगह है। उनकी नज़र में इतिहास की एक अनन्त संख्या नहीं होगी, उसके प्रतियोगी संस्करणों की एक छोटी संख्या होगी। दो दृष्टिकोणों के बीच में जितने भी मतभेद हों, फिर भी उनमें आपस में कई बिन्दुओं में वास्तव में सहमति भी रहेगी। कई बार यह मुमकिन होता है कि लोग अपने हितों और परिवेशों से उभर कर एक से ज़्यादा व्यापक नज़रिया भी लेने की कोशिश करते हैं। इसका प्रमाण हमें इससे मिलता है कि आज बढ़ती संख्या में पुरुष मिलेंगे जो पितृसत्ता को समझने की कोशिश कर रहे हैं और तथाकथित उच्च जाति के लोग भी मिलेंगे जो जातिवादीय शोषण को समझना चाह रहे हैं। अपने सामाजिक हैसियत की ज्ञानमीमांसक (Epistemological) बाधाओं पर काबू पाना कठिन ज़रूर है, मगर शायद ना मुमकिन नहीं। हाँ, इसके लिये हमें प्रत्यक्षवादी (Positivist) तरीके से जैसे 'निष्पक्ष होने' के बारे में बात की जाती है, उससे अलग

तरीके से काम करना पड़ेगा। इन सब कठिनाइयों के बावजूद, कुछ एक ज्ञान के पहलुओं पर एकमत होना शायद मुमकिन है।

स्कूल के इतिहास के पाठ्यक्रम के कई पहलू हो सकते हैं, जिन पर अलग-अलग मत बने हों। शायद इनमें से कइयों पर संवाद और फिर एकमत होना संभव है। जिस उदाहरण से हम लोगों ने शुरुआत की, भारत पर कथाकथित मराठा राज का, जिन बिन्दुओं पर संवाद हो सकता है, उनमें से कुछ हैं - व्यापक कथानक और विमर्श (Discourse), प्राथमिकताएं या मूल्य, वास्तविकता के साथ मेल और शैक्षणिक औचित्य। कथानक के मामले में इस पर बात हो सकती है कि क्षेत्रीय पहचान बनाने के लिये किस तरह का कथानक सबसे अच्छा है। क्या यह योद्धाओं की वीर गाथा सबसे सही है या कुछ और। उदाहरण के लिये क्या मराठी भाषा के लेखन और काव्य द्वारा पहचान की बातें नहीं की जा सकती? हो सकता है कि कुछ अध्ययन के बाद इस पर थोड़ी बहुत सहमति बन सके कि कौन-सी बात को ज़्यादा मूल्य देना सही है– आध्यात्मिकता या हिंसक वर्चस्व या काव्य या आर्थिक प्रक्रियाएँ, इत्यादि। हाँ, यह तो ज़ाहिर है जब राजनीतिक हितों का असर इतिहास की चर्चा पर होगा तो इन मूल्यों में से चयन इतना सरल नहीं होगा। अगर कोई पाठ्यपुस्तक का लेखक एक ऐसी राजनीतिक विचारधारा के करीब है, जिसमें हिंसा और वर्चस्व का वर्णन बहुत महत्वपूर्ण जगह रखता है तो उसे उस से दूर हटना आसान नहीं लगेगा।

इस पर भी चर्चा की जा सकती है कि महाराष्ट्र की अस्मिता का इस तरह के मुखपृष्ठ द्वारा प्रस्तुतिकरण वास्तविकता से कितना मेल खाता है? इसमें जो सवाल सार्थक हैं, उनमें से कुछ हैं – क्या मराठा फ़ौज ने इन इलाकों पर सही मायने में राज किया था या वे सिर्फ़ वहाँ धन अर्जन के लिए आक्रमण करने आए थे और थोड़ी ही देर में वापस लौट गए थे? क्या वहाँ के स्थानीय लोगों ने अपने आप को उसी देश का हिस्सा माना था या क्या उन्होंने मराठा फ़ौज को बाहरी आक्रामकों के रूप में देखा था? अभी जिस इलाके को बिना सीमा के दिखाया गया है, तब क्या उस समय के लोग अपने आप को इस तरह समझते थे या क्या उनमें कुछ अलग तरह की राजनीतिक पहचानें थीं? क्या मराठा जाति के लोगों से आज के पूरे महाराष्ट्र के लोगों का जुड़ाव था या वे अपने आप को अलग समूह या जाति के रूप में मानते थे? इस तरह के कई सवाल वास्तविकता और उसकी व्याख्या के हैं। यह पूछ कर कि उस समय के लोग किस तरह सोचते और व्यवहार करते थे और अलग-अलग समय पर इस में क्या फ़र्क आया, इन सब बातों को जानकर हम कुछ नतीज़ों पर पँहुच सकते हैं कि किस तरह का मुखपृष्ठ सही होता।

यह स्पष्ट है कि वास्तविकता के सवाल उन श्रेणियों से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं, जिनसे हम वास्तविकता को समझने की कोशिश करते हैं और उन मूल्यों की राजनीति से भी जिससे हम कुछ व्याख्याओं को पसंद और कुछ को नापसन्द करते हैं। मगर वास्तविकता की बात फिर भी करना ज़रूरी है, चाहे उसका प्रतिनिधित्व करना जितना भी मुश्किल हो। मेरा यह निवेदन है कि इस तरह के मुखपृष्ठ और ऐसी और बहुत सारी सामाजिक विज्ञान से जुड़ी बातों को लेकर जो सांस्कृतिक राजनीति से जुड़े सवाल हैं, इनमें वास्तविकता और मूल्यों के औचित्य के सवालों को हम नकार नहीं सकते। भले ही हमें सम्पूर्ण रूप से प्रमाणित ज़वाब कभी भी न मिल सकें।

सन्दर्भ

Beck, Ulrich. (1986), 1992. *Risk Society: Towards a New Modernity*. London: Sage.

Benhabib, Seyla. 1992, *Situating the Self: Gender, Community and Postmodernism in Contemporary Ethics.* Cambridge: Polity.

Chatterjee, Partha. 1993, *The Nation and Its Fragments.* Princeton: Princeton University Press.

Derrida, J. (1981), *Structure, sign and play in the discourse of the human sciences*. In Writing and difference (pp. 278–294). London: Routledge& Kegan Paul.

Foucault, Michel. (1968) 1972, *Archaeology of Knowledge*. London: Tavistock.

Foucault, Michel. 1984a. “Truth and Power.” In The Foucault Reader, edited by Paul Rabinow, 51–75. Vintage.

Foucault, Michel. 1984b. “What Is Enlightenment.” In The Foucault Reader, edited by Paul Rabinow, 51–75. Vintage.

Giddens, Anthony. 1991, *The Consequences of Modernity.* 1st ed. Stanford University Press.

Gilman, Charlotte Perkins. (1898) 1998, Women and Economics: A Study of the Economic Relation between Men and Women as a Factor in Social Evolution. Berkeley, Los Angeles, London: University of California Press.

Lyotard, J.-F. (1984), *The postmodern condition: a report on knowledge*. (G. Bennington & B. Massumi, Trans.). Minneapolis: University of Minnesota Press.

Madan, Amman. 2014, “Max Weber’s Critique of the Bureaucratisation of Education.” Contemporary Education Dialogue 11 (1): 95–113.

Marx, Karl. (1932) 2018, A Critique of the German Ideology. https://www.marxists.org/archive/marx/works/1845/german-ideology/index.htm.

Phule, Jotirao Govindrao. 2002, *Selected Writings of Jotirao Phule*. New Delhi: Leftworld.

Ritzer, George. 1997, *Postmodern Social Theory*. New York: McGraw-Hill.

Sarup, Madan. 1993, *An Introductory Guide to Post-Structuralism and Post-Modernism*. Second. New York: Harvester Wheat sheaf.

अमन मदान ने मानवशास्त्र और समाज शास्त्र का अध्ययन किया है। पिछले तीन दशकों से शिक्षा और समाज के मुद्दों पर अध्यापन एवं शोध के क्षेत्र में संलग्न हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य कर रहे हैं।
सम्पर्कः amman.madan@apu.edu.in

शिवशरण और उसकी मोटर कार

सुन्दर नौटियाल

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 में सीखना और ज्ञान के सन्दर्भ में विचार रखते हुए कहा गया है कि बच्चे अपने आसपास की दुनिया से बेहद सक्रिय रूप से जुड़े रहते हैं। वे खोजबीन करते हैं, प्रतिक्रिया करते हैं, चीज़ों के साथ कार्य करते हैं, चीज़ें बनाते हैं और अर्थ गढ़ते हैं। इस आलेख में एक विद्यार्थी द्वारा सोलर ऊर्जा से चलने वाली मोटर कार बनाने का विवरण, उपर्युक्त कथन को बच्चों की दुनिया में देखने का अवसर देता है। यह विवरण एक अध्यापक का विज्ञान शिक्षण अनुभव है जिसमें एक बच्चे के अपनी खिलौना कार को तोड़ने, तोड़ कर जोड़ने, कल-पुर्जे खोलने, उनकी कार्यविधि समझने की स्वाभाविक जिज्ञासा को अभिव्यक्ति करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास में शिक्षक द्वारा निरन्तर विद्यार्थी की खोजी प्रवृत्ति और रचनात्मकता को प्रोत्साहित करने की पहल दिखाई देती है, जो विज्ञान शिक्षण की पढ़ाई का एक बुनियादी काम है। सं.

आदिकाल से ही शिक्षा मानव समाज को विकसित और सभ्य करने का साधन रही है। मानव विकास की इस यात्रा में शिक्षण-अधिगम की अवधारणा भी बदलती रही है। ज्ञान की प्राप्ति और ज्ञान के निर्माण के मौखिक साधन से शिक्षा औपनिवेशिक साम्राज्यवाद का हथियार बना दी गई। परिवर्तन की इस यात्रा में शिक्षा ज्ञान-प्राप्ति से अधिक जानकारियों और तथ्यों का भण्डार बनती गई और बस्तों में किताबों की संख्या भी बढ़ती गई। शिक्षार्थियों पर इस बढ़ते बोझ को कम करने और शिक्षा के मूल उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गठित की गई विभिन्न शिक्षा समितियों के विचारों को समाहित करता और शिक्षा में बदलाव की आवश्यकता महसूस करता एक वृहद् दस्तावेज है- राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005। इस रूपरेखा ने शिक्षा में छात्र की महत्ता को समझते हुए पूरी शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को 'छात्र आधारित' बनाने की सिफारिश की है। आज शिक्षक ज्ञान का संवाहक नहीं बल्कि वह छात्र के ज्ञान-सृजन की प्रक्रिया में मार्गदर्शक और सहायक है।

'शिवशरण की मोटर कार' भी इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए संकलित किया मेरा एक शिक्षण अनुभव है जिसमें एक बच्चे की अपनी खिलौना कार को तोड़ने, तोड़कर जोड़ने, उसके कल-पुर्जे खोलने और उनकी कार्यविधि समझने की स्वाभाविक जिज्ञासा को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया गया है। शिवशरण अपनी मोटर कार को तोड़ता है, उसकी मोटर को घूमते हुए देखता है, उसके घूमने का कारण पता लगाता है, उसे बैटरी के अतिरिक्त सोलर प्लेट से चलाने का प्रयत्न करता है, उसे खोलकर मोटर की आन्तरिक रचना और कार्यविधि समझने का प्रयास करता है। और इस जोड़-तोड़ से वह खेल-खेल में ही विद्युत् और चुम्बकत्व जैसे जटिल विज्ञान सम्बन्ध को सरलता से समझने लगता है। वो अपने इस स्व-अर्जित ज्ञान के जरिए अपने दैनिक उपयोग के उपकरणों की गतिशीलता और मोटर के उपयोग पर भी अपनी समझ को पुख्ता करता है। ऊर्जा का नवीकरणीय स्रोत 'सौर ऊर्जा' भी उसका ध्यान

आकृष्ट करता है और वह सौर ऊर्जा के उपयोग से पर्यावरणीय स्वच्छता के सामाजिक सरोकार को जोड़ने लगता है। इस प्रकार एक सामान्य खिलौना कार की अदना-सी मोटर उसके लिए व्यवहारिक विज्ञान सीखने के कई द्वार खोल देती है।

एक शिक्षक होने के नाते मेरा काम है अपने छात्र की इस खोजपरकता को बुलन्दियों तक पहुँचाना, उसकी सृजनात्मकता को पंख देना और उसके इस कार्य में उसका सहयोगी बनकर उसका साथ देना। उसके इस अद्भुत कार्य को लिखित रूप देकर उसके आत्मविश्वास को बढ़ाना और इस डॉक्यूमेंट को अन्य छात्रों के लिए प्रेरक सन्दर्भ के रूप में संकलित करना मेरा उद्देश्य है। मेरा ये छोटा-सा प्रयास जहाँ एक ओर बच्चों में अवलोकन, परिकल्पना निर्माण, प्रयोग, सिद्धान्त की जाँच, निष्कर्ष जैसे मूलभूत वैज्ञानिक चिन्तन की नींव रखेगा, वहीं उन्हें अपने कार्यों को अभिव्यक्त करने, दूसरों से साझा करने, दूसरों के कार्यों को महत्व देने, अनुभवों को संकलित करने, किताबी ज्ञान को व्यवहारिक जीवन से जोड़ने, स्थानीय उदाहरणों का सीखने में प्रयोग करने, वैज्ञानिक सिद्धान्तों को जाँचने, तर्क करने, प्रश्न करने के साथ-साथ समस्या के समाधान की ओर बढ़ने की प्रेरणा भी देगा।

डेल कार्नेगी की चर्चित पुस्तक 'हाउ टु इन्फ्लुएंस अदर्स' में वर्णित सिद्धान्त-3 कहता है - किसी व्यक्ति का नाम उसके लिए सबसे मधुरतम और महत्त्वपूर्ण ध्वनि है (पृष्ठ 88)।
सिद्धान्त-7 कहता है— सामने वाले को यह अहसास होने दें कि यह आइडिया उसका है। (पृष्ठ 154)

इस लेख में अपने ही विद्यालय के बच्चों के नाम शामिल करके उन सब को भी सीखने की इस प्रक्रिया का हिस्सा बनाने का प्रयास किया गया है। वे अपने नाम किसी किताब के पन्नों पर देखकर प्रसन्न होंगे, अपने प्रयासों की सराहना उनमें आत्मविश्वास पैदा करेगी, वे अपने पारिवारिक, सामुदायिक, क्षेत्रीय और आर्थिक हालात की सीमाओं को लाँघ कर सृजनात्मकता की राह पकड़ेंगे।

विज्ञान शिक्षण में इस लेख के निहितार्थ

इस लेख में एक छोटी खिलौना कार की मोटर को सीखने के एक उपकरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। एक बच्चे के प्रयास को वैज्ञानिक चिन्तन की तरह रखा गया है। इसमें अवलोकन, परिकल्पना, प्रयोग, नियम बनाना, उनकी जाँच करना जैसे वैज्ञानिक सिद्धान्त शामिल हैं। यह भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थतियों की सीमाओं में बचपन गुजारते एक बच्चे का प्रयास है, किन्तु इस लेख में उस बच्चे में सर्वजन हितार्थ की भावना का विकास भी परिलक्षित हुआ है।

इस लेख को माध्यमिक कक्षाओं में विद्युत और चुम्बकत्व के परस्पर सम्बन्ध को उजागर करने के सन्दर्भ के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। साधारण चुम्बक के आकर्षण-विकर्षण के गुणों से लेकर विद्युत के चुम्बकीय प्रभाव, विद्युत ऊर्जा और उसके विविध रूप, नवीकरणीय ऊर्जा स्रोत (सौर ऊर्जा) जैसे उच्च प्राथमिक सम्बोधों तक यह सन्दर्भ की तरह प्रयोग किया जा सकेगा। प्राथमिक स्तर से लेकर उच्चतर माध्यमिक स्तर तक इस लेख को वैज्ञानिक चिन्तन और विज्ञान के चरणों को समझने के लिए पढ़ा जा सकता है।

विज्ञान को रटने से हट कर, करके देखने, समझ बनाने, तर्क करने, प्रश्न करने, समस्याओं को पहचानने, उनके समाधान ढूँढ़ने की प्रक्रिया के रूप में समझने में भी यह लेख मदद करेगा। इस लेख को पढ़ने के बाद कोई भी बच्चा कम से कम एक बार साधारण मोटर स्वयं अपने हाथों से बनाने को प्रेरित ज़रुर होगा। अपने बीच के ही किसी बच्चे पर लिखे इस लेख से कई और बच्चे भी आत्मविश्वास का अनुभव करेंगे और कुछ नया खोजने, खोजे हुए सिद्धान्तों को परखने और विज्ञान के मॉडल बनाने को प्रेरित

होंगे। उनके ये प्रयास विज्ञान शिक्षण के लिए एक टीएलएम संग्रह भी विकसित करेंगे। शिक्षण-अधिगम की प्रक्रिया में बच्चों की सक्रियता से ज्ञान का हस्तान्तरण नहीं वरन सृजन होगा जिसमें बच्चे और शिक्षक मिलकर सीखने की ओर बढ़ेंगे।

यह लेख अपने छात्र के कार्य को एक शिक्षक द्वारा अभिव्यक्ति देने का प्रयास है। एनसीएफ-2005 के प्रथम अध्याय 'परिप्रेक्ष्य' से लेकर 'उपसंहार' तक के कई वक्तव्यों को इस लेख से जोड़ कर देखा जा सकता है। आईए देखते हैं कि एनसीएफ के विभिन्न सन्दर्भों में यह लेख कहाँ तक उपयुक्त बैठता है-

उन्नीस सौ तिरानवे में मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने इस समस्या के विश्लेषण के लिए एक समिति नियुक्त की थी जिसने इसके विश्लेषण के बाद पाया था कि इस समस्या की जड़ में व्यवस्था की वह प्रवृत्ति है जो सूचना को ज्ञान समझती है। इसकी रिपोर्ट (शिक्षा बिना बोझ के) में समिति ने इस बात की ओर इंगित किया कि स्कूलों में शिक्षा/पढ़ाई तब तक आनन्दपूर्ण अनुभव नहीं हो सकता जब तक बच्चों के सम्बन्ध में हम अपनी इस समझ को न बदल लें कि बच्चे ज्ञान के ग्रहणकर्त्ता मात्र हैं और पाठ्यपुस्तकें ही ज्ञान का आधार हैं। उनके अपने अनुभवों से जानकारी रचने की उनकी सामर्थ्य पर हमारी आस्था कम है, अतः हम उन्हें हर बात सिखाने पर तुले रहते हैं। *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, अध्याय 1- परिप्रेक्ष्य - पृ. 3*

बच्चे अपने आस पास की दुनिया से बहुत ही सक्रिय रूप से जुड़े रहते हैं। वे खोज-बीन करते हैं, प्रतिक्रिया करते हैं, चीजों के साथ कार्य करते हैं, चीज़ें बनाते हैं और अर्थ गढ़ते हैं। *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, अध्याय 2- सीखना और ज्ञान - पृ. 14*

आज यह आवश्यक है कि हमारे सभी बच्चे यह महसूस करें कि वे सभी, उनका घर, उनका समुदाय, उनकी भाषा और संस्कृति महत्वपूर्ण हैं। इन्हें अनुभव के ऐसे संसाधन के रूप में देखा जाए जिन्हें विद्यालय में जाँचा तथा विश्लेषित किया जाना है; उनकी विविध क्षमताओं को मान्यता मिले; यह माना जाए कि सभी बच्चों में सीखने की क्षमता है और सभी की ज्ञान एवं कौशलों तक पहुँच हो और वयस्क समाज उन्हें सबसे अच्छा करने के योग्य माने। *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, अध्याय 2.2- विद्यार्थी को सन्दर्भ में रखना - पृ.16*

बच्चे व्यक्तिगत स्तर पर एवं दूसरों से भी विभिन्न तरीकों से सीखते हैं- अनुभव के माध्यम से, स्वयं चीज़ें करने व स्वयं बनाने से, प्रयोग से, पढ़ने, विमर्श करने, पूछने, सुनने, उस पर सोचने व मनन करने से तथा गतिविधि या लेखन के ज़रिए अभिव्यक्त करने से। अपने विकास के मार्ग में उन्हें इन सभी तरह के अवसर मिलने चाहिए। *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, अध्याय 2.3- विकास और सीखना - पृ.18*

प्रायः ऐसा ज्ञान, कौशलों का रूप ले लेता है जो स्कूल के बाहर घर अथवा समुदाय में परिष्कृत होते हैं। ऐसे सभी प्रकार के ज्ञान व शिल्पों का आदर होना चाहिए। एक संवेदनशील और समझदार अध्यापक यह जानता है और बच्चों को भली भाँति चुने हुए कार्यों व प्रश्नों में व्यस्त कर पाता है ताकि वे अपने विकास की क्षमता का अनुभव कर सकें। *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, अध्याय 2.4.1- ज्ञान सृजन के लिए अध्यापन - पृ. 20*

उच्च प्राथमिक अवस्था में बच्चे के प्रमुख कार्य परिचित अनुभवों द्वारा विज्ञान के सिद्धान्त सीखना, हाथों से सरल तकनीकी इकाइयाँ या मॉडल बनाना (उदाहरण के लिए, वज़न उठाने के लिए पवनचक्की के कार्यकारी प्रतिरूप की रचना) और पर्यावरण व स्वास्थ्य, जिसके अन्तर्गत प्रजनन एवं यौन स्वास्थ्य भी आता है, के बारे में और अधिक जानकारी हासिल करना होने चाहिए। वैज्ञानिक अवधारणाओं को मुख्यतः गतिविधियों व प्रयोगों द्वारा ही समझाना चाहिए। *राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, अध्याय 3.3.1- विभिन्न स्तरों पर पाठ्यचर्या - पृ. 55*

यहाँ प्रस्तुत कहानी में भी बच्चा स्वयं अपने ज्ञान का निर्माता है और शिक्षक उसके प्रयासों को समर्थन देने, उसे मार्गदर्शन देने वाला सहायक है; यहाँ सीखने का आनन्द है, किताबी भाषा परिभाषा की चिन्ता नहीं है, मूल्यांकन के लिए परीक्षा नहीं है, प्रतिस्पर्द्धा नहीं है, बस सीखना है।

शिवशरण कक्षा-7 का छात्र है। ये कहानी उसकी मोटर कार और उस के साथ के प्रयोगों और सीखने के बारे में है। कैसे एक खिलौना, सीखने का बड़ा साधन बन सकता है, जानने के लिए पढ़िए- 'शिवशरण और उसकी मोटर कार...'

शिवशरण और उसकी मोटर कार

शिवशरण बहुत खुश है, वो मेले से एक रिमोट कण्ट्रोल कार जो खरीद लाया है। एक हथेली के बराबर की कार पर उसकी नजर अटक गई थी, जो एक तार के द्वारा रिमोट से जुड़ी हुई थी। कितनी मिन्नत करने के बाद खरीदी थी पापा ने ये सफ़ेद कार। अब घर जाकर वह अपनी इस सफेद रंग की रेसर कार के साथ ही खेलेगा। कल जब वो गाय चराने खेतों में जाएगा तो पवन को भी अपनी गाड़ी के बारे में बताएगा, "अरे नहीं, नहीं! अगर पवन को पता चल गया तो वो भी मेरी गाड़ी से खेलेगा, खराब हो गई तो? मैं अपनी इस गाड़ी को बहुत दिनों तक चलाऊँगा, इससे किसी और को खेलने नहीं दूँगा।" घर पहुँच कर उसने सबसे पहले अपनी कार के रिमोट में दो सेल लगाए और रिमोट पर बने हरे बटन पर उँगली रख दी.... सर्रर्र..... और उसकी छोटी सफेद फरारी सरपट फर्श पर आगे की ओर दौड़ पड़ी। फिर उसने रिमोट का लाल बटन दबाया और उसकी फरारी दीवार के पास पहुँच कर वापस उसकी ओर आने लगी, "अरे वाह! नवमी दीदी इधर आओ ना! देखो न मेरी कार कैसे आगे-पीछे चल रही है रिमोट से।"

> शिवशरण ने कार को हाथ में उठा कर देखा, उसके टायर घूम तो रहे थे पर हल्के-हल्के से, "ओहो! क्या मैंने अपनी कार को खराब कर दिया?", उसे चिन्ता हुई!! तभी उसे ध्यान आया कि कहीं रिमोट के सेल डाउन तो नहीं हो गये। वो दौड़ कर दूसरे कमरे में गया और टीवी का रिमोट उठा लाया। जल्दी से रिमोट के सेल उसने कार के रिमोट में लगा लिए। और ये क्या!! उसकी कार फिर से फर्श पर दौड़ने लगी, "मतलब! मेरी कार खराब नहीं हुई।" वो खुश हो गया।

नवमी हालाँकि उसी कमरे में थी पर उसे आज विज्ञान के गुरुजी ने एक किताब पढ़ने के लिए दी थी। पिछले एक घण्टे में वो उस किताब के दो-तीन पाठ पढ़ चुकी थी; उसका मन कर रहा था कि इस किताब को जल्दी से जल्दी पढ़ डाले। किताब उसे इतनी अच्छी लग रही थी कि उसे कमरे में खेल रहे शिवशरण का भी ध्यान नहीं था।

दोनों भाई-बहिन अपने-अपने कार्यों में मगन थे कि रसोई से माँ की आवाज आई, "आओ रे बच्चो! खाना खा लो।" अपनी कार को बगल में दबाए शिवशरण रसोई में पहुँचा और खाने से पहले उसने दादी-दादा, मम्मी-पापा और बहिनों को अपनी रिमोट कार आगे-पीछे चलाकर दिखाई। उस रात उसने अपनी किताब भी नहीं पढ़ी। सोते वक्त उसने अपनी कार को उसके डिब्बे में पैक कर दिया।

रात को वो सपने में भी अपनी कार को चला रहा था- तेज, और तेज... घीं... घर्रर्र ... अचानक उसकी कार हवा में उड़ने लगी, अब वो आसमान से अपनी सुन्दर हरी-भरी धरती को देख रहा था। थोड़ा ऊपर गया तो उसे अपनी धरती गोल होती दिखी, और उसका रंग भी नीला होते हुए दिखा। थोड़ी और ऊँचाई मिली तो उसे साँस लेने में कठिनाई होने लगी, शायद हवा कम हो रही थी, तभी उसकी कार की बैटरी भी

रेड सिग्नल देने लगी और उसे वापस लौटना पड़ा।

अगले दिन शिवशरण जल्दी ही उठ गया और सबसे पहले उसने अपनी कार निकाल कर और उसे चला कर चेक किया, वो अभी भी बढ़िया चल रही थी। वो कमरे के फर्श पर कार चलाने लगा– आगे..... पीछे.... आखिर कैसे ये कार इन बटनों से आगे-पीछे जा रही है? क्या होगा इस रिमोट कण्ट्रोल कार में? इस कार में कुछ है या इस रिमोट के सेलों में? ऐसे ही कई प्रश्न उसके दिमाग में आ-जा रहे थे। कुछ देर बाद उसे लगा कि उसकी कार अब उतनी तेज नहीं चल रही, और धीरे-धीरे उसने चलना बन्द ही कर दिया। उसने कार को हाथ में उठाकर देखा, उसके टायर घूम तो रहे थे पर हल्के-हल्के से, "ओहो! क्या मैंने अपनी कार को खराब कर दिया?", उसे चिन्ता हुई!! तभी उसे ध्यान आया कि कहीं रिमोट के सेल डाउन तो नहीं हो गए।

वो दौड़ कर दूसरे कमरे में गया और टीवी का रिमोट उठा लाया। जल्दी से रिमोट के सेल उसने कार के रिमोट में लगा लिए। और ये क्या!! उसकी कार फिर से फर्श पर दौड़ने लगी, "मतलब! मेरी कार खराब नहीं हुई।" वो खुश हो गया। किन्तु अगले ही पल उसके चेहरे पर फिर से चिन्ता दिखने लगी, "ये तो टीवी के रिमोट के सेल हैं, रिमोट को जल्दी ही टीवी के पास ले जाना होगा। दादाजी जाग गए हैं, और उन्हें अब टीवी पर समाचार देखने हैं। क्या करूँ? क्यों न मैं इन सेलों की अदला-बदली कर लूँ।" ये ठीक है, उसने सोचा और कार के रिमोट के सेल टीवी वाले रिमोट में डालकर टीवी के पास रख आया। "अब इस कार को ज्यादा नहीं चलाना चाहिए, ये सेल भी डाउन हो गए तो?", उसने सोचा।

सुबह के साढ़े आठ बज चुके थे, अब उसे स्कूल जाने के लिए तैयार होना होगा। नहा-धोकर वो अपने स्कूल पहुँचा। आज वो बहुत खुश था। स्कूल में उसने अपने सभी दोस्तों– आयुष, नारायण, अमित, मनीषा, पूजा, लक्ष्मी आदि को अपनी रिमोट कार के बारे में बताया। वो उन्हें बता रहा था, "जानते हो मेरी कार सेल से चलती है!" "तो क्या हुआ", रोहित बोला, "मेरे पास भी एक गाड़ी थी, उसमें भी दो सेल लगते थे। उस पर एक बटन था जिसे खोलने पर वो चलने लगती थी।" शिवशरण थोड़ा परेशान हुआ, उसने मुँह बनाया और कहा, "परन्तु मेरी गाड़ी में सेल नहीं लगते, उसके साथ रिमोट भी है, उसमें सेल लगते हैं। उस पर दो-दो बटन हैं, एक से गाड़ी आगे चलती है और दूसरी से पीछे।" अब तो सब बच्चे उसकी ओर आश्चर्य से देखने लगे और उसकी बातों को ध्यान से सुनने लगे। जगत बोला, "भाई! कल स्कूल में लाना अपनी कार। हमें भी दिखाना ना!"

शाम को शिवशरण घर में फिर से अपनी कार से खेलने लगा। वो उसे अब रिमोट से कम ही चला रहा था, फिर भी शाम तक उसके टीवी वाले सेल भी खत्म हो गए और अब उसकी कार चल नहीं पा रही थी। शिवशरण उदास हो गया, "इतने सेल कहाँ से लाऊँगा मैं? ये तो बहुत सेल खाती है। काश! ये कार बिना सेल के चल पाती तो... मैं बहुत दिनों तक इससे खेल सकता था।" अगले दिन वो उदास,उदास-सा स्कूल पहुँचा। उसके दोस्तों ने पूछा, "क्या हुआ? कार ख़राब

> सर ने बच्चों को साबुनदानी और बोतल के ढक्कनों से बनी झाड़ू की सींक वाली कार, गुब्बारे वाली कार तथा भाप से चलने वाली नाव बनाने की विधि बता कर इन के मॉडल बनाने की कोशिश करने को कहा। शिवशरण ने पूछा, "सर! क्या सोलर प्लेट से कार को चलाया जा सकती है?" "क्यों नहीं" सर बोले, "पर क्या तुम्हारे पास सोलर प्लेट है?" "हाँ सर! मेरे घर पर एक पुरानी ख़राब इमरजेंसी लाइट की सोलर प्लेट है," शिवशरण खुश होते हुए बोला।

हो गई क्या?" "नहीं! पर वो बहुत सेल फूँकती है। बिना सेल के वह चल नहीं पाती, उसे हाथ से धक्का देना पड़ता है।"

उसी दिन उसके विज्ञान के अध्यापक ने विद्यालय में 'विज्ञान क्लब' की स्थापना की और उसमें शिवशरण को भी शामिल किया। उन्होंने विज्ञान क्लब के बच्चों की मीटिंग ली और उन्हें कुछ मॉडल बनाने की प्रेरणा दी। सर ने बच्चों को साबुनदानी और बोतल के ढक्कनों से बनी झाड़ू की सींक वाली कार, गुब्बारे वाली कार तथा भाप से चलने वाली नाव बनाने की विधि बता कर इन के मॉडल बनाने की कोशिश करने को कहा। शिवशरण ने पूछा, "सर! क्या सोलर प्लेट से कार को चलाया जा सकता है?" "क्यों नहीं" सर बोले, "पर क्या तुम्हारे पास सोलर प्लेट है?" "हाँ सर! मेरे घर पर एक पुरानी ख़राब इमरजेंसी लाइट की सोलर प्लेट है," शिवशरण खुश होते हुए बोला।

अब शिवशरण उत्साहित था। उसने घर पहुँचते ही अपने गत्ते वाले डिब्बे से एक छोटी-सी सोलर प्लेट निकाली। प्लेट के पीछे तार जोड़ने के लिए दो टाँके दिखायी दिए। वो कार और प्लेट को लेकर छत पर गया, किन्तु शाम के 4:30 बज चुके थे और छत पर से भी धूप जा चुकी थी। वो वापस कमरे में आ गया।

"चलो, कल जब धूप निकलेगी तब मैं इस कार को इस प्लेट से चला कर देखूँगा," तभी उसे ख्याल आया, "अरे! कार के तार के साथ तो रिमोट लगा हुआ है। कोई बात नहीं, मैं तार को काटकर रिमोट अलग कर लूँगा और तार को प्लेट से जोड़ दूँगा।" अगली सुबह उसने वैसा ही किया। कार से रिमोट को अलग किया और तार को दाँतों से छीलकर प्लेट में लगाने लगा। छत पर धूप आ चुकी थी, उसने दो उँगलियों से तारों को प्लेट के टाँको से लगाया और प्लेट को धूप की तरफ कर दिया। वाह! उसकी कार तो चलने लगी। वो प्लेट को पकड़े-पकड़े छत पर गाड़ी के पीछे भागने लगा। वो खुशी से चिल्ला रहा था। थोड़ी देर खेलने के बाद उसकी उँगलियाँ दर्द करने लगी, उसका हाथ भी थक रहा था। कभी-कभी उँगली हट जा रही थी तो तार टाँके से हट जा रहा था और कार रुक जा रही थी।

"ऐसे कब तक पकड़-पकड़ कर चलाता रहूँगा इसे? मुझे ये तार इन टाँकों पर पक्के ढंग से जोड़ने पड़ेंगे, पर कैसे? भला मैं इस प्लेट के टाँके से ये तार कैसे जोड़ सकता हूँ? इन्हें जोड़ने के लिए तो टाँके लगाने वाला सोल्डर चाहिए, जैसा टीवी मैकेनिक के पास होता है," वो फिर सोचने लगा!! तभी उसे अपने गत्ते के डिब्बे में पड़े सेलो टेप का ख़्याल आया, फिर क्या था! वो टेप उठा लाया और उसने तारों को टेप की सहायता से प्लेट के साथ जोड़ दिया। अब वो फिर छत पर पहुँचा। प्लेट को आकाश की ओर किया, धूप ने अपना कमाल दिखाया और कार दौड़ने लगी। अब उसे टाँकों को उँगली से नहीं दबाना पड़ रहा था। परन्तु उसे अभी भी प्लेट को पकड़कर कार के पीछे चलना पड़ रहा था। "क्यों न मैं इस प्लेट को कार के साथ ही इसके छत पर फिट कर लूँ?" उसने टेप लाकर प्लेट को कार की छत पर चिपका दिया। अब ठीक था। दोपहर का सूरज सिर के ऊपर था और शिवशरण पूरी छत पर अपनी कार को घुमा रहा था। प्लेट पर जैसे ही छाँव आती तो कार रुक जा रही थी और धूप पड़ते ही वो फिर से चल रही थी।

> शाम को शिवशरण गाँव के अपने दोस्त पवन के साथ कार लेकर छत पर गया। उसने कार को नीचे रखा, पर वो नहीं चली। पवन हँसने लगा, "हो गयी फिर खराब। भला इस प्लेट से ये कैसे चलेगी?" शिवशरण भी परेशान हो गया, "लेकिन दिन में तो मैं इससे खेला था, पता नहीं अभी क्यों नहीं चल रही?" उसने कार को उठा कर उलट-पलट कर देखा। सब ठीक था। उसने कार की छत पर लगी प्लेट को दूर पहाड़ी के पीछे छुपते सूरज की ओर करके देखा। "अरे पवन! देख इसके टायर चलने लगे हैं।

शाम को वह गाँव के अपने दोस्त पवन के साथ कार लेकर छत पर गया। उसने कार को नीचे रखा, पर वो नहीं चली। पवन हँसने लगा, "हो गई फिर खराब। भला इस प्लेट से ये कैसे चलेगी?" शिवशरण भी परेशान हो गया, "लेकिन दिन में तो मैं इससे खेला था, पता नहीं अभी क्यों नहीं चल रही?" उसने कार को उठा कर उलट-पलट कर देखा। सब ठीक था। उसने कार की छत पर लगी प्लेट को दूर पहाड़ी के पीछे छुपते सूरज की ओर करके देखा। "अरे पवन! देख इसके टायर चलने लगे हैं। ओहो! अब समझा! धूप इसकी प्लेट पर नहीं टकरा रही थी। इसे टेप से नहीं चिपकाना चाहिए क्योंकि तब प्लेट केवल ऊपर की तरफ ही रहेगी।" मतलब! प्लेट को बिना चिपकाये कार पर रखना होगा। पर कैसे? पवन ने कार को पकड़ कर देखा और बोला, "इसकी छत उड़ानी पड़ेगी।" शिवशरण अपनी कार को तोड़ना नहीं चाहता था। "नहीं! मैं ऐसा नहीं करूँगा। तू मेरी कार को तुड़वाना चाहता है ना! जा, मैं तेरे से बात नहीं करता", वह बोला। "मुझे भी तुझसे बात करने का शौक नहीं है, मैं भी तेरे से कट्टी!" ऐसा कहकर पवन अपने घर चला गया।

शिवशरण बहुत खुश था, उसने कार की प्लेट को सूरज की ओर घुमा दिया और उसकी कार मेज पर दौड़ने लगी। उसने प्लेट पर हाथ रख दिया और कार रुक गयी। पूरे मेले में हालाँकि बहुत-सी मेजों पर बच्चों ने कई मजेदार मॉडल रखे हुए थे परन्तु छोटे बच्चों का तो मन तो वहीं अटका हुआ था – शिवशरण की मोटर कार पर।

रात को शिवशरण कमरे में किताब पढ़ रहा था। वो अब भी कार के साथ प्लेट को रखने के बारे में सोच रहा था। "कहीं पवन ठीक तो नहीं बोल रहा था? मुझे इसकी छत काटकर उसके ऊपर प्लेट रखने की जगह बनानी होगी।" वो किचन से चाकू उठा लाया और उसने अपनी प्यारी कार की छत काटकर अलग कर ली। बिना छत के उसकी कार कुछ भद्दी लग रही थी, पर प्लेट अटकाने के लिए जगह बन गई थी। अब शिवशरण को कार के अन्दर लगी मोटर दिखने लगी थी। उसने कार की छत पर प्लेट अटकाई और उसे मेज पर रख दिया। मेज के ठीक ऊपर बल्ब जल रहा था। बल्ब की रोशनी प्लेट से टकराते ही कार के टायरों में हरकत हुई। मतलब! ये प्लेट बिजली के बल्ब में भी काम करती है। वो खुश हो गया। उसने देखा कि जैसे ही प्लेट को बल्ब की ओर घुमा रहे हैं कार के अन्दर की मोटर घूमने लग रही है और मोटर की घूमती कील से लगी खाँचेदार घिरनी से टायर पर लगी वैसी ही एक और घिरनी घूमने लगती है। "अच्छा बच्चू! तो ये सब इस मोटर का कमाल है। हमारी चक्की में भी ऐसी ही बड़ी मोटर लगी हुई है जो पूरी चक्की को चलाती है।" अब तो उसने वो मोटर अलग निकाल ली और उसे सेल से जोड़ते हुए चला कर देखने लगा। वो 26 नवम्बर का दिन था जब विद्यालय में पहली बार एक विज्ञान मेला आयोजित किया गया था। सब बच्चों में उत्साह था। विद्यालय में बिलकुल मेले जैसा माहौल था। सर जी सुबह से ही तैयारियों में लगे हुए थे। विज्ञान क्लब के कुछ सदस्य गुब्बारे फुला-फुलाकर परिसर को सजा रहे थे। उन्होंने थर्माकोल पर विज्ञान क्लब का बहुत सुन्दर 'लोगो' भी बनाया था। थोड़ी देर बाद तीन मेहमान भी विद्यालय में आए और मेला शुरू हो गया। शिवशरण अपने स्टॉल पर खड़ा था और मेज पर थी उसकी सफ़ेद सोलर कार।

बच्चे उसकी छत टूटी कार को तथा उसके ऊपर लगी सोलर प्लेट को उत्सुकता से देख रहे थे—"क्या ये कार चलती है?"... "हाँ! हाँ! ये शिवशरण ने बनाई है।"... "सूरज की लाइट से चलती है ये।"— बच्चे बतिया रहे थे। शिवशरण बहुत खुश था, उसने कार की प्लेट को सूरज की ओर घुमा दिया और उसकी कार मेज पर दौड़ने लगी। उसने प्लेट पर हाथ रख दिया और कार रुक गई। पूरे मेले में हालाँकि बहुत-सी मेजों

पर बच्चों ने कई मज़ेदार मॉडल रखे थे परन्तु छोटे बच्चों का मन तो वहीं अटका हुआ था - शिवशरण की मोटर कार पर।

कुछ दिन तक शिवशरण अपनी मोटर वाली सोलर कार से खेलता रहा। एक दिन उसने देखा कि उसकी कार के टायर पतले होकर टूटने लगे हैं। "बिना टायर के इस कार का मैं क्या करूँगा?" उसने दुखी होते हुए कार की मोटर निकाल ली। वह दुखी था क्योंकि उसकी प्रिय सोलर कार अब टूट जो गई थी। अब उसके पास केवल वो मोटर बची थी, पर वह इस मोटर का क्या करेगा? वह मोटर को अपने गत्ते वाले डिब्बे में रखने ही जा रहा था कि तभी उसे अपने डिब्बे में एक पंखुड़ी मिली।

उसने वो पंखुड़ी मोटर के ऊपर फिट की और मोटर को सेल से जोड़कर देखा। अरे वाह! ये तो पंखे की तरह चल रही है। थोड़ी देर वह उस मोटर वाले छोटे पंखे को घुमाता रहा। अब वह सोच रहा था कि वो खुद इस मोटर का प्रयोग करके कोई खिलौना बनाएगा।

इण्टरनेट पर एक वीडियो देखकर उसे भी इस मोटर की सहायता से प्लास्टिक की बोतल का हवाई जहाज बनाने का ख्याल आया। बस फिर क्या था, जुट गया वो हवाई जहाज बनाने में। उसने प्लास्टिक की बोतल को काटकर उस पर मोटर फिट की, उस पर अपनी पंखुड़ी लगाई और जोड़ दिया मोटर के तारों को सोलर प्लेट के साथ। पंखुड़ी तेजी से घूम रही थी परन्तु वो हवाई जहाज को ऊपर नहीं उठा पा रही थी। हालाँकि जहाज उड़ नहीं पा रहा था किन्तु फिर भी यह अच्छा लग रहा था।

एक शाम शिवशरण अपनी मोटर से खेल रहा था कि तभी उसका तार टूट गया। उसने मोटर को खोलकर उसका तार जोड़ने का सोचा परन्तु उसके पास अब भी सोल्डर आयरन नहीं था। अब तो उसकी मोटर के दोनों तार टूट चुके थे। किन्तु इस टूटी हुई मोटर ने शिवशरण को अपने अन्दर की दुनिया भी दिखा दी। शिवशरण ने मोटर के अन्दर की कुण्डलियाँ और दोनों तरफ लगे चुम्बक भी देखे।

एक दिन विज्ञान के सर जी ने उससे कहा, "शिवशरण तुम्हारी मोटर कहाँ है?" "घर पर ही है सर," शिवशरण बोला। "कल उसे स्कूल ले आना, हम उससे कुछ बनाएँगे। क्या तुम वो मोटर मुझे दोगे?" सर बोले। "ले लीजिए, मेरी कार तो वैसे भी टूट ही गई है और अब तो मोटर के तार भी टूट चुके हैं," उसने कहा। सर बोले, "मुझे वो टूटी हुई मोटर ही दे देना।" अगले दिन शिवशरण अपनी मोटर स्कूल में ले आया। उसने देखा कि सर दो मोटर और एक चुम्बक, सीडी और कुछ कीलों से कुछ बनाने की कोशिश कर रहे हैं।

दो दिन बाद सर जी चुम्बक और ताँबे के तार से बनी एक सरल मोटर बनाकर स्कूल में ले आए। वे सब बच्चों के सामने एक सेल की मदद से ताँबे के तार के छल्ले को घुमा रहे थे। साथ ही शिवशरण की उस टूटी हुई मोटर को दिखा कर सबको मोटर की कार्यविधि समझा रहे थे, और साथ ही बता रहे थे कि इस छोटी-सी मोटर ने शिवशरण को एक छोटा वैज्ञानिक बना दिया है। शिवशरण अपनी फरारी कार और उसकी टूटी मोटर के गम को जैसे भूल गया था, क्योंकि अब वो अपने लिए बोतल से, गत्ते से या डिब्बों से खुद की कार बना सकता है। वो बड़ा होकर सोलर गाड़ियाँ बनाएगा ताकि बढ़ते वायु प्रदूषण को रोकने में अपना योगदान दे सके।

सन्दर्भ

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद , नए दिल्ली

Dale Carnegie, *How to influence others*

`अरविन्द गुप्ता, '*Science through activities*', इण्टरनेट से डाउनलोड किया वीडियो ।

सुन्दर नौटियाल एक दशक से अध्यापन के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में उत्तरकाशी जिले में बतौर विज्ञान शिक्षक कार्यरत हैं।
सम्पर्कः alice.myprince@gmail.com

क्या एक 'अच्छी कक्षा' 'गणित की सफल कक्षा' भी कही जा सकती है ?

हनीत गाँधी

प्रस्तुत लेख एक अच्छी, विषय आधारित कक्षा के बारे में हमारी धारणाओं पर प्रश्न उठाता है। हम एक 'अच्छी कक्षा' को किस प्रकार समझते हैं?, वे कौन-से पहलू हैं जो एक 'अच्छी कक्षा' को एक 'सफल विषयी कक्षा' भी बनाते हैं? दूसरे शब्दों में, हम इस प्रश्न को उठाकर यह सन्देश देने का इरादा रखते हैं कि सामान्यतः एक अच्छी कहलाई जाने वाली कक्षा में विषय आधारित भागीदारी भी हो, ऐसा ज़रूरी नहीं। यहाँ हम उपयुक्त की श्रेणी में रखी जाने वाली उन गणितीय कक्षाओं के बारे में बात करेंगे जो गणितीय सोच के विकास में नगण्य भूमिका निभाती है। सं.

यह पर्चा गतिविधि से भरी गणित कक्षाओं के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए चर्चा करता है कि किस प्रकार एक 'अच्छी कक्षा' गणित की एक सफल कक्षा' के अर्थ को गुमराह कर सकती है। साथ ही, यह परचा गणितीय कार्यों का गठन करने वाली बुनियादी बातों का जिक्र भी करता है और अन्त में उन उदाहरणों को प्रस्तुत करता है जिन से अर्थपूर्ण अन्तर्सम्बन्ध की शुरुआत की जा सके। यह कार्य उस चिन्तनशील प्रक्रिया का हिस्सा है जिसमें हम ने गणितीय कक्षाओं में गतिविधियों को तो पाया किन्तु इनका छात्रों में गणितीय क्षमताओं के विकास से बौद्धिक अन्तर्सम्बन्ध पूर्णतः गायब था।

गणित कक्षा की गतिविधियों को समझने के दो नज़रिए

गणित की कक्षा की प्रक्रिया को समझने के लिए आपके पास दो नज़रिए (लेंस) होते हैं: जहाँ पहला लेंस कक्षाओं को शिक्षिका-विद्यार्थियों के अन्तर्सम्बन्ध की प्रकृति के आधार पर दिखाता है तो वहीं दूसरा लेंस विद्यार्थियों की विषय में भागीदारी को आधार बनाता है। पहले प्रकार की जाँच उन लोगों द्वारा की जाती है जिन का केन्द्र गणितीय कक्षाओं में शिक्षिकाओं के वर्चस्व को चुनौती देना है और साथ ही गणित सीखने की 'पारम्परिक' सोच को खत्म करने को बढ़ावा देना है। यह मुख्य रूप से कक्षा में शिक्षिका व विद्यार्थियों द्वारा निभाई जाने वाली भूमिका को जानने में रुचि रखता है और शिक्षिका केन्द्रित कक्षाएँ होने पर भी प्रश्न उठाता है। यह लेंस बच्चों की भागीदारी और विभिन्न गतिविधियों में शामिल होने की प्रकृति का विश्लेषण करता है और परखता है कि बच्चे चर्चा में किस सीमा तक भाग ले रहे हैं। इस दृष्टिकोण के समर्थक 'पारम्परिक' गणित कक्षा से जुड़ी हुई सामान्य धारणाओं को भी चुनौती देने का प्रयास करते हैं। वे जानते हैं कि सामान्यत: गणित की कक्षाएँ कुंठित व अरुचिकर होती हैं। कक्षाओं को कभी भी, एक ढर्रे पर चल रही क्रियाओं, जहाँ मुख्यत: शिक्षिका ही बोलती रहे, प्रत्येक चीज श्यामपट्ट पर लिखी जाए और बच्चे पाठ्यपुस्तक या बोर्ड से नकल करके अपनी कॉपियाँ भरे, तक ही सीमित नहीं होना चाहिए।

अत: कक्षाओं में होने वाली गतिविधियाँ सदैव प्रश्नों का कारण बनती हैं और सुधार की अपेक्षा रखती हैं।

निश्चित रूप से आजकल एक बदलाव देखा जा सकता है, उन जड़ कक्षाओं से, जो

अधिकतर शिक्षिका आधारित थी, जिन में कलन विधि का प्रयोग किया जाता था और जिन में विद्यार्थियों से कक्षा में कराए जाने वाले सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को याद करने की अपेक्षा की जाती थी। यह लेंस और उभरे परिवर्तन कक्षाओं को यहाँ से आगे बढ़ाने की बात करते हैं। इस समझ के आलोक में ऐसे संकीर्ण दृष्टिकोण से आगे बढ़ने के लिए कक्षा प्रक्रियाओं में गतिविधियों, खेल व शिक्षण सामग्री के उपयोग को शामिल करने का विचार अपनाया गया। शिक्षिकाओं को सुझाव दिया गया कि वे क्रियाशील कार्यों को शामिल करें और कक्षाओं को बच्चों के लिए रुचिकर बनाएँ। परिणामस्वरूप, कक्षाओं को रुचिकर बनाने के लिए गणितीय कक्षाओं में गतिविधियों को शामिल करने पर ज़ोर दिया गया। 'रुचिकर' शब्द की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई। इस का अर्थ गणितीय कक्षाओं को खेल व गतिविधियों से खचाखच भरना, कक्षाओं में विभिन्न शिक्षण सामग्री रखना और तकनीकी साधन जैसे पावर पॉइंट प्रेजेंटेशन, स्मार्ट बोर्ड व एनिमेटेड टेक्स्ट का प्रयोग करना ही समझा गया। अच्छी गणित की शिक्षिका को विभिन्न गतिविधियाँ खोजने के कौशल के आधार पर पहचाना जाने लगा ।

इस तरह के सभी प्रयासों का उद्देश्य उस नीरसता से निज़ात पाना था जिन्होंने गणितीय कक्षाओं को घेर रखा था और बच्चों के अधिगम हेतु कक्षाओं में 'रुचिकर' माहौल का निर्माण करना था। इस लेंस, जिसे हम 'बाल-केन्द्रित' लेंस की संज्ञा दे रहे हैं, को व्यापक तौर पर अपनाया गया क्योंकि ये बदलाव, नीरस गणितीय कक्षा को बच्चों के लिए सक्रिय, आनन्दमयी व भाग लेने योग्य बनाना चाह रहा था। इससे किसी 'बाल-केन्द्रित' कक्षा में सामान्य रूप से वह सब होता दिखाई देगा जो एक अच्छी कक्षा में होना चाहिए। इस में शामिल है; प्रत्येक बच्चे की भागीदारी, दूसरों के साथ सहयोग, ठोस वस्तुओं के साथ प्रयोग, बच्चों के लिए एक अनुकूल वातावरण, पाठ्यक्रम का समय से सम्पूर्ण हो जाना, आदि। ये कक्षाएँ एक 'अच्छी कक्षा' कहलाने के काबिल होती हैं क्योंकि ये कक्षाएँ बच्चों के चहुँमुखी विकास को ध्यान में रखने के साथ-साथ उन में विभिन्न मूल्यों को विकसित करने का भी भरसक प्रयास करती हैं।

पुनः, ये सब गुण किसी भी कक्षा को एक 'अच्छी कक्षा' कहलाने की संज्ञा तक लेकर जाते हैं। यह बदलाव काफी नहीं है और हम इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकते। चूँकि यदि हम जाँच लेंस बदलकर विषय में भागीदारी कर देते हैं तो यह स्थिति पूर्णतः बदल जाएगी। बच्चों की भागीदारी में जब हम विषय आधारित आयाम जोड़ते हैं तो अक्सर निराशा ही हाथ लगती है। यह ज़रूरी नहीं कि जो कक्षाएँ बच्चों की उच्च भागीदारी की बात करती हैं, वे वास्तव में एक अच्छी गणितीय कक्षा कहलाने के पैमाने पर भी खरी उतर पाती हों क्योंकि इन कक्षाओं में गणित से सम्बन्धित वास्तविक भागीदारी न के बराबर भी हो सकती है। गणित की कक्षाएँ जो देखने वालों को बहुत आकर्षक प्रतीत होती हैं, वास्तव में विषय सम्बन्धित सोच को अभिप्रेरित करने में काफी पीछे रह सकती हैं। अन्य शब्दों में, हमारा कहना यह है कि गणित की वे कक्षाएँ जो बच्चों की भागीदारी के सभी तत्वों से भरी हुई दिखती हैं उन्हें हम विश्वासपूर्वक एक 'अच्छी गणित कक्षा' नहीं कह सकते। अक्सर कक्षाएँ एक पर्याप्त गणितीय पुट लाने में नाकाम साबित होती हैं। दरअसल अच्छी कक्षा का बखान करने के लिए हमें गतिविधि शब्द तो मिल गया है परन्तु हर गतिविधि को एक 'अच्छी गणितीय गतिविधि' नहीं कहा जा सकता।

अपने पक्ष को समझाने के लिए हम तीन अनुभव प्रस्तुत करेंगे। यह चुनी गई घटनाएँ असाधारण चरम मामले लगते हैं, लेकिन कई परिस्थितियों में ये एक सामान्य गणितीय कक्षा के तत्वों के रूप में उभरते हुए दिखते रहते हैं। सभी उदाहरणों में एक ऐसी गतिविधि है, जो कक्षा को गतिविधि-आधारित बनाने में मदद करती है। एक ओर जहाँ ये सभी कक्षाएँ शायद 'अच्छी कक्षा' कहलाने के पैमाने पर खरी उतरती हैं तो वहीं, दूसरी ओर हम प्रश्न उठाकर यह जानने का प्रयास करेंगे कि क्या ये विषय आधारित

सोच को निर्मित करने का अवसर भी प्रदान करती हैं ? गणितीय गतिविधि की हमारी समझ को खँगालने के लिए गतिविधियों की विभिन्न बारीकियों पर प्रकाश डाला गया है।

यह बात समझने के लिए आप को कुछ देर के लिए बाल-केन्द्रित लेंस को परे रखना होगा और उस के स्थान पर एक विषय उन्मुख लेंस का प्रयोग करना होगा।

नीरसता से सक्रियता की ओरः एक भ्रम

उदाहरण 1 : अपनी कक्षा को मनोरंजक बनाने के लिए, तीसरी कक्षा की एक गणित शिक्षिका सदैव खेल या गतिविधि को अपनी कक्षा में शामिल करने की कोशिश करती है। वह अपनी कक्षा की खूब पूर्व तैयारी करती है और ऐसे तरीकों का प्रयोग करती है जिन से कक्षा में प्रत्येक विद्यार्थी की भागीदारी व आनन्द लेना सुनिश्चित किया जा सके। एक बार वह अपनी तीसरी कक्षा के विद्यार्थियों के लिए कक्षा के बाहर एक खेल की योजना बनाती है। इस खेल में उन्हें एक वृत्ताकार आकृति में खड़े होने का निर्देश दिया जाता है और उस घेरे के बीच में एक कपड़े का टुकड़ा रखा जाता है। प्रत्येक विद्यार्थी को पहचान के लिए एक नम्बर भी बाँटा जाता है। शिक्षिका यादृच्छिक रूप से दो विद्यार्थियों को बुलाती है इन को भागकर आना है और केन्द्र में रखे कपड़े के टुकड़े को उठाना होता है। दोनों में से जो विद्यार्थी कपड़ा पहले उठाता है, उसे विजेता घोषित किया जाता है और दूसरा बच्चा हार जाता है। भरपाई के रूप में, जो भी विद्यार्थी यह खेल हारता है उसे शिक्षिका द्वारा पूछे गए प्रश्न को मौखिक रूप से हल करना होता है। शिक्षिका द्वारा पूछे गए कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं: 25 गुना 2 कितना होता है?, 128 में से 56 गए तो कितने बचे?, वर्ग के क्षेत्रफल का फार्मूला बताओ, 7 का पहाड़ा पढ़ो, इत्यादि।

उपर्युक्त उदाहरण में जैसा कि आप देख सकते हैं बच्चे एक ऐसे खेल का हिस्सा हैं जो यह सुनिश्चित कर रहा है कि बच्चे खेल का आनन्द लें। वास्तव में, कक्षा एक बाल-केन्द्रित कक्षा कहलाने के सभी पैमानों पर इसलिए भी खरी उतर रही है क्योंकि शिक्षिका चाहती है कि हर बच्चा गतिविधि में भाग ले और गतिविधि का आनन्द ले। इस में निःसन्देह आप को एक तथाकथित 'अच्छी कक्षा' के सारे गुण मिलेंगे।

उपर्युक्त वर्णित कक्षा जैसी कक्षाएँ 'अच्छी' या 'सफल' कक्षा कहलाने के लायक इसलिए भी हैं क्योंकि इस कक्षा में शिक्षिका बच्चों की भागीदारी सुनिश्चित करने के प्रयास के साथ प्रत्येक बच्चे पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देती हैं व बच्चों से बहुत धैर्य से बात करती हैं। वे बच्चों की सक्रिय भागीदारी के लिए काफी अभिप्रेरित दिखाई देती हैं और बच्चों को भी समय-समय पर प्रोत्साहन (शाबाश जल्दी से उठाओ, वाह खूब तेज दौड़े) देती हुई दिखाई देती हैं ताकि वे दिए गए कार्य को भली भाँति पूरा कर सकें। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इस तरह की कक्षाएँ बच्चों के अनुकूल हैं।

हालाँकि, यदि हम इस कार्यवाही को और बारीकी से समझें तो हम पाते हैं कि शिक्षिका द्वारा चुना गया खेल और पूछे गए प्रश्न, बच्चों के गणितीय अधिगम में बहुत कम या न के बराबर भूमिका निभाते हैं। शिक्षिका द्वारा पूछे गए प्रश्न, गणितीय तो हैं परन्तु गणितीय चुनौती पेश नहीं करते। ये प्रश्न वैसे ही प्रक्रियात्मक प्रश्न हैं जैसे कक्षाओं में अमूमन होते हैं। एक हद तक तो हम हम यह भी कह सकते हैं कि शिक्षिका पाठ्यपुस्तक के प्रश्नों को ही एक अलग तरीके से दोहरा रही हैं। चूँकि ये प्रश्न प्रक्रिया आधारित हैं तो हमें यह कहने में हैरानी नहीं होगी कि इन प्रश्नों को मौखिक रूप से हल करना भी किसी तरह की समझ में इज़ाफा नहीं कर रहा है। विद्यार्थी सिर्फ परम्परागत प्रक्रियात्मक प्रश्न ही हल कर रहे हैं। अन्तर केवल प्रस्तुतिकरण में है। कार्य को चार दीवारी में कागज-कलम से करने की बज़ाए एक खेल के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह शायद ही बच्चों की गणितीय रूप से सोचने की क्षमता में सहयोग दे रहा है। परम्परागत गणितीय प्रक्रियाओं व समस्याओं को

खेल या गतिविधि के रूप में परोसने से गणितीय अन्तर्सम्बन्ध सुनिश्चित नहीं किये जा सकते। सभी बच्चों के आनन्दमय कार्यों में शामिल रहने के बावजूद वे गणितीय अनुभव से बहुत दूर हैं।

उपरोक्त मुद्दे को परखने के लिए हमें सावधान होने की ज़रूरत के साथ-साथ गणितीय गतिविधि की समझ को भी आलोचनात्मक ढंग से जाँचने का प्रयत्न करना होगा। वे कार्य जो सभी बच्चों को शामिल करने की बात तो करते हैं परन्तु उनका गणितीय सामर्थ्य बढ़ाने में असमर्थ सिद्ध होते हैं, वास्तव में गणितीय कहलाने का हक़ नहीं रखते। समान रूप से, रोज़ाना के दोहरान अभ्यास को खेल के रूप में करवाने से भी बच्चों की समझ में कुछ खास इज़ाफा होता दिखाई नहीं देता सकता। हमें मानसिकता को बदलने की ज़रूरत है, गणितीय विचार को बढ़ावा देने वाली क्रियाओं का अर्थ वास्तव में अवधारणाओं को समझने वाली सोच और जाँच के नए रास्ते खोलने की आवश्यकता से है।

आनन्द बनाम वास्तविक शिक्षण

उदाहरण 2: जब हम किसी गणित शिक्षक की प्रतिरुपि गतिविधि आधारित पाठ-योजना देखते हैं, तो सामान्यतः उन लिखे गए उद्देश्यों में विद्यार्थियों में सम्बन्धित अवधारणा के प्रति रुचि पैदा करना, विद्यार्थियों में सहयोग की भावना का विकास करना, विद्यार्थियों की मूल्यांकन गतिविधि में भागीदारी व उनमें अपनी बात को संचारित करने का कौशल विकसित करना' आदि शामिल होते हैं। नीचे वर्णित उदाहरण उन स्थितियों से लिए गए हैं जो हमें अक्सर गणित पाठ-योजनाओं में या गणित कक्षा के अन्दर देखने को मिलते हैं।

कक्षा में विद्यार्थियों को भार की अवधारणा पढ़ाते समय एक छात्र-शिक्षिका विद्यार्थियों से कहती है "अब हम एक एक्टिविटी करेंगे।" 20-25 मिनट के बाद जब यह गतिविधि समाप्त होती है तो वह बच्चों से कहती है "अब हम एक और एक्टिविटी करेंगे जिस में मैं आप को एक कहानी सुनाऊँगी।" और अन्त में वह बहुत ज़ोर देकर कहती है "अब बहुत एक्टिविटी हो गई हैं, चलो अब गणित करें। कुछ पढ़ाई भी हो जाए अब।"

अधिकतर कक्षाओं में शिक्षिका द्वारा बार-बार एक्टिविटी का प्रयोग पहली नज़र में ऐसा आभास देता है कि ये शिक्षिकाएँ विद्यार्थियों की सक्रिय भागीदारी को बढ़ावा देना चाहती हैं। और ये विद्यार्थियों को सक्रिय रूप से ज्ञान निर्मित करने के लिए अभिप्रेरित भी कर रही हैं, लेकिन यह प्रक्रिया गणितीय अवधारणाओं व ज्ञान के बिना खोखली-सी है। और आगे चलें तो, जब शिक्षिकाएँ कक्षा के विद्यार्थियों की रुचि बनाए रखने के लिए कहानी सुनाती हैं, खेलने के लिए तरह-तरह के गेम व पहेलियाँ उपलब्ध कराती हैं, तो उन का यह प्रयास कक्षा को रुचिकर तो बनाता है पर वह गणित से जुड़ नहीं पाता। इस सबसे ऐसा प्रतीत होता है मानो गणित एक कुंठित विषय है जिसे रुचिकर बनाने के लिए कुछ प्रारम्भिक खेल-कूद इत्यादि की हमेशा आवश्यकता होगी।

यदि आप किसी पाठ-योजना को सरसरी निगाह से देखेंगे तो उस में शिक्षण सामग्री, अधिगम सामग्री या आवश्यक संसाधन सामग्री आदि जैसे शब्द जरूर पाएँगे। ये सभी किसी न किसी गतिविधि को कक्षा में प्रयोग करने की बात करते हैं। पाठ-योजना में लिखी जाने वाली प्रक्रियाएँ भी बहुत ही सतही स्तर की मालूम होती हैं, जैसे बैठने की व्यवस्था, विद्यार्थियों को समूहों में बाँटने से सम्बन्धित जानकारी और एक सहायक के रूप में शिक्षिका की भूमिका आदि। ऐसे प्रयास विद्यार्थियों को जोश में तो लाते हैं परन्तु गणित को उत्साहजनक नहीं बना पाते। ऐसे में शिक्षिका द्वारा गणित शिक्षण के लिए अपनाया गया दृष्टिकोण बाल-केन्द्रित, मनोरंजक व प्रायोगिक है और इस तरह की कक्षाओं को कोई भी 'सफल या अच्छी कक्षा' कहने में संकोच नहीं करेगा। लेकिन इसी अनुभव का जब गहराई से विश्लेषण किया जाता है तो यह बात भी उतनी ही सटीकता से कही जा सकती है कि ऐसी कक्षाएँ गणित सीखने की

अनुशासन सम्बन्धी माँग पूरी करने में असमर्थ साबित होती हैं। ये कक्षाएँ गणितीय प्रक्रियाओं के लिए आवश्यक पद्धतियों जैसे समस्या-समाधान, इंडक्टिव तर्क व प्रमाणों की जाँच आदि का प्रयोग नहीं करतीं। एक गणित की कक्षा में बच्चों के लिए गणितीय विचारों, अनुमान प्रस्तावों, सुविचारित अन्दाज़ों (Reasonable esti-mates) व दावों को जाँचने और गणित सम्बन्धी जुड़ाव देखने के भरपूर अवसर उपलब्ध होने की आवश्यकता है, जो अभी कक्षाओं से गायब है।

बहरहाल, जहाँ हम यह मानते हैं कि पाठ योजना में गतिविधियों का प्रयोग, बाल केन्द्रित उपागम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, वहीं इस के साथ ही हम यह भी देखते हैं कि गणित की कक्षाएँ, गणितीय अवधारणा को केन्द्र में रखे बिना किन्हीं भी गतिविधियों से प्रारम्भ व समाप्त हो जाती हैं। इस में अवधारणा सम्बन्धी चर्चा को न तो गतिविधि से पहले स्थान मिलता है, न गतिविधि के दौरान और न ही गतिविधि के समाप्त होने के पश्चात। यह हो सकता है कि इस तरह की कक्षाएँ विद्यार्थियों में गणित विषय के प्रति भय को उस समय कम करती हों लेकिन इस के साथ-साथ ही ये बच्चों को वास्तविक गणित के मूल्यों की ओर आकर्षित कर पाने में असफल साबित होती हैं। इस के फलस्वरूप बच्चों को गणितीय सोच के सन्दर्भ में न तो स्व-विश्लेषण का मौका मिलता है और न ही उस पर मनन करने का।

उपर्युक्त उदाहरण से लगता है कि इन कक्षाओं में शायद एक अर्थ में शिक्षाशास्त्रीय पक्ष काफी मज़बूत है परन्तु विषय आधारित पक्ष कमज़ोर है।

शिक्षण और शिक्षण-सामग्री का ताना-बाना

उदाहरण 3 : एक स्कूल ने अपनी समय सारणी में, हर कक्षा के लिए, एक पखवाड़े में एक पीरियड 'गणित प्रयोगशाला' के लिए नियत किया। इस पीरियड के अन्तर्गत शिक्षिका अपनी कक्षा के बच्चों को 'गणित प्रयोगशाला' नाम के कमरे में लेकर जाती हैं। इस कमरे में नाना प्रकार के त्रि-आयामी मॉडल जैसे घन, बेलन, शंकु, जिओबोर्ड, वर्ग-ग्रिड आदि के साथ-साथ विभिन्न चार्ट लगे हुए हैं। इन में से कुछ पर गणितीय नियमों के सूत्रों को दर्शाया गया है तो कुछ पर इस क्षेत्र में गणितज्ञों की भूमिका को बताया गया है।

ऐसी गणित प्रयोगशाला में एक बार शिक्षिका छठी कक्षा को लेकर जाती है। शिक्षिका, विद्यार्थियों को चार-चार के समूह में बैठने के लिए कहती है और समूहों में टेनग्राम (चित्र 1) के टुकड़े बाँटती है। वह विद्यार्थियों को सभी टुकड़ों को व्यवस्थित करने के लिए कहती है और उन टुकड़ों का प्रयोग करते हुए (क) अंक 4, और (ख) बिल्ली बनाने को कहती है। शिक्षिका के शब्दों में, "टेनग्राम

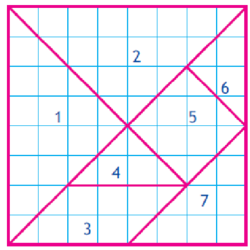

चित्र 1 : टेनग्राम

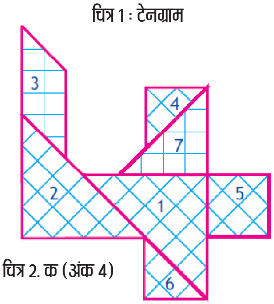

चित्र 2. क (अंक 4)

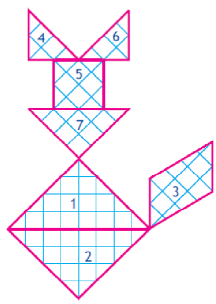

चित्र 2. ख (बिल्ली)

पहेली के सभी सात टुकड़ों का प्रयोग करें। उन के किनारे से किनारे इस प्रकार मिलाइए कि कोई खाली स्थान न बचे और उन से चित्र 2.क (अंक 4) व चित्र 2.ख (बिल्ली) बनाइए"। विद्यार्थी तुरन्त ही उन टुकड़ों को लेकर कार्य करना शुरू कर देते हैं और टुकड़ों को एक साथ जोड़ने का प्रयास करते हैं। विद्यार्थियों ने गतिविधि में बहुत आनन्द लिया और इस गतिविधि को उन्होंने जिगसॉ पहेली के समान पाया। शिक्षिका प्रत्येक समूह की मदद करने के लिए उन के पास गई और उन्हें उचित सहायता प्रदान की। कक्षा के अन्त में शिक्षिका की मदद से सभी समूहों ने आवश्यक चित्रों को बना लिया। अपने-अपने हल प्रस्तुत करने के बाद कक्षा समाप्त हो गई और बच्चे अपनी कक्षा में चले गए।

उपर्युक्त अनुभव एक और ऐसा उदाहरण है जो बच्चों के गणितीय अन्तर्सम्बन्धों के ढाँचे के विकास के प्रयास में कमी को दिखाता है। सबसे पहले हम गणित करने के लिए 'प्रयोगशाला' के प्रारूप से ही असन्तुष्ट हैं। क्या वाकई 'प्रयोगशाला कार्य' से अमूर्त सोच, जो गणित करने के लिए अति आवश्यक है, की ओर बढ़ा जा सकता है? हालाँकि, इस लेख में हम 'गणित प्रयोगशाला' से होने वाली अपनी बेचैनी को व्यक्त न करते हुए केवल गणित की कक्षाओं में गणितीय अन्तर्सम्बन्धों को लेकर होने वाली चर्चाओं की जाँच तक ही सीमित रहेंगे, फिर भी पाठकों से आग्रह है कि वे गणित में प्रयोगशाला की भूमिका पर भी आलोचनात्मक मनन करें।

इस उदाहरण के अन्तर्गत विद्यार्थियों को टेनग्राम टुकड़ों के साथ उत्सुकतापूर्वक खेलते हुए देखा जा सकता था। विद्यार्थियों व शिक्षिका दोनों में ही उत्सुकता का स्तर काफी अधिक था। गतिविधि में शामिल होने के लेंस के आधार पर यह कक्षा एक 'अच्छी कक्षा' प्रतीत होती है। अब हम अपना लेंस बदलते हैं और इसी कक्षा में बच्चों को प्रस्तुत किए जा रहे गणित की समीक्षा करते हैं। शिक्षिका, विद्यार्थियों के लिए एक ऐसी गतिविधि का चुनाव करती है, जिस का उद्देश्य विद्यार्थियों को अलग-अलग ज्यामितीय आकृतियों के प्रयोग से विभिन्न डिजाइनों का निर्माण करने का मौका देना और उनमें ज्यामितीय आकृतियों से सम्बन्धित ज्ञान का निर्माण करना है। परन्तु इस अनुभव में गणितीय संवाद की कमी है। गतिविधियों में शामिल होने के बावजूद, विद्यार्थी गणित करने के वास्तविक आनन्द से दूर हैं। उदाहरण के लिए, यदि शिक्षिका विद्यार्थियों से सम्बन्धित प्रश्न जैसे 'आप ने इन आकृतियों के प्रयोग से यह डिजाइन किस प्रकार बनाया, इन दो आकृतियों के क्षेत्रफल और परिमाप में क्या सम्बन्ध है, इन टेनग्राम टुकड़ों के ऐसे कौन से गुण हैं जिन से आप ये तरह-तरह के डिजाइन बना पा रहे हैं' आदि पूछती तो विद्यार्थियों को गणितीय सोच की ओर बढ़ने में मदद मिलती।

अधिकांशतः गणित प्रयोगशालाओं में यह देखा जाता है कि शिक्षिका, विद्यार्थियों को सहायक सामग्री उपलब्ध कराती हैं, फिर उन्हें कुछ ऐसे सवाल हल करने के अवसर उपलब्ध कराए जाते हैं, जिन में विद्यार्थियों के पास प्रत्ययों को जानने व प्रयोग करने का कोई स्थान नहीं होता। यह आश्चर्य की बात नहीं होगी कि शिक्षिका की शासक वाली भूमिका गणित प्रयोगशालाओं में भी ठीक वैसी दिखेगी जैसी कि कक्षा में। एक मॉडल गणितीय प्रयोगशाला में भी शिक्षिका ही कार्य की घोषणा करती हैं, विद्यार्थियों को सहायक सामग्री उपलब्ध कराती हैं और उन से कार्य करने के लिए कहती हैं। शिक्षिका, किए जाने वाले कार्य का अनुदेश अधिकतर एक-एक करके देती हैं और अन्त में विद्यार्थियों को कहा जाता है कि वे किए जाने वाले कार्य को लैब पुस्तिका के अन्दर लिखें। चूँकि यहाँ भी विद्यार्थियों को गणितीय रूप से सोचने के लिए प्रेरित नहीं किया जाता है, विद्यार्थियों के पास अनुमान लगाने, खोजने, जाँचने और नया जानने का कोई विकल्प शेष नहीं रहता। और वे विषय को एक ऐसे बन्द गलियारे के रूप में ही देखते हैं, जिस का केवल एक ही रास्ता है और एक ही दरवाजा है जहाँ से बाहर निकला जा सकता है। इस तरह के अनुभव विद्यार्थियों को गणित को एक नीरस

विषय के रूप में देखने को मजबूर करते हैं। विद्यार्थियों को प्रत्यय से जूझने देना और उन को गलती करने का अवसर देना ही उन्हें उन के गलत प्रयासों से सीखने के लिए अभिप्रेरित करता है ।

उपर्युक्त सभी परिदृश्यों में हम अच्छी गणितीय गतिविधि के पैमाने की समझ पर चर्चा कर रहे हैं। उपर्युक्त सभी उदाहरणों में शिक्षिकाओं ने एक बाल सहयोगी कक्षा का नियोजन किया है, लेकिन इस प्रयास को थोड़ा और विस्तार से जानना होगा ताकि यह पता लगाया जा सके कि बच्चे आनन्दपूर्वक भाग लेने के साथ-साथ पर्याप्त गणित सीख रहे हैं या नहीं। सभी वर्णित कक्षाओं में बच्चे गतिविधि में भागीदारी से अभिभूत पाए जा सकते हैं और ये कक्षाएँ नीरस गणित कक्षा की परम्परा को भी तोड़ती हुई दिखाई देती हैं। लेकिन फिर भी हम कह सकते हैं कि इन कक्षाओं में बच्चे गणित विषय के साथ बौद्धिक रूप से जुड़े ही नहीं। जब भी हम उपर्युक्त उदाहरणों को देखते हैं तो लगभग सभी चीजें जो कक्षा में की जा रही हैं उन के आधार पर इन्हें एक अच्छी कक्षा का दर्ज़ा तो दिया जा सकता है, जिस में 'बाल केन्द्रित' कक्षा से सम्बन्धित सभी आवश्यक तत्वों जैसे गतिविधि, खेल, शिक्षण सामग्री और बच्चों की भागीदारी आदि को पाया जा सकता है। यह कक्षाएँ सुप्रबन्धित हैं और शिक्षिका बच्चों की मनोवैज्ञानिक ज़रूरतों के प्रति भी संवेदनशील प्रतीत होती हैं। बाल केन्द्रित लेंस से देखा जाए तो कक्षाएँ वास्तव में सफल हैं। हालाँकि जब हम इन्हें गणितीय जुड़ाव की प्रकृति के लेंस से देखते हैं तो यही कक्षाएँ नाकाम साबित होती हैं क्योंकि ये चुनी गई प्रक्रियाएँ बच्चों की गणितीय समझ में बहुत कम या न के बराबर इज़ाफा करती हुई प्रतीत होती हैं। इस असफलता का कारण या तो गणितीय अवधारणा को किसी ऐसी गतिविधि से जोड़कर पथभ्रष्ट करना हो सकता है जिस में ज़रूरत न होने पर भी गणितीय प्रयोगशाला को शामिल किया गया है या फिर गतिविधियों की भरमार की वजह से वह मुख्य उद्देश्य से भटक गई। गणितीय अन्तर्सम्बन्ध को खोज़ने के मौकों के लिए इन गतिविधियों की सरंचना सही नहीं है।

एक अच्छी कक्षा और एक गणितीय अच्छी कक्षा के बीच भेद करने के लिए हमें गणितीय लेंस के साथ भी कक्षाओं का विश्लेषण करना होगा। नीचे हम कुछ संकेत दे रहे हैं जो इस भेद को स्पष्ट करने में मदद कर सकते हैं।

गणितीय समृद्ध संवाद

भागीदारी को दो तरीकों से समझा जा सकता है। इस में से एक बच्चों को सतही रूप से भाग लेने को प्रेरित करता है और दूसरा जो बच्चों से विषय सम्बन्धी बौद्धिक भागीदारी की माँग करता है। बच्चों को लुभाने वाली और उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने वाली कक्षाओं को उच्च प्राथमिकता दी जाती है, लेकिन सिर्फ लुभाने वाली कक्षा और अर्थपूर्ण भागीदारी वाली कक्षा में जो बारीक किन्तु अर्थपूर्ण अन्तर है उसे समझने के लिए ऐसे नज़रिए की आवश्यकता है जो विषय आधारित तत्वों को भी मिला कर बना हो। एक गतिविधि और एक ऐसी गतिविधि जो गणित उपयोगी भी है भेद करना एक चुनौती भरा काम है और जिसे समझने के लिए किसी भी व्यक्ति के लिए गणितीय सोच के विकास की प्रकृति को जानना ज़रूरी है।

सक्रिय गणितीय भागीदारी, सक्रिय भागीदारी से थोड़ी अलग है। ऐसी भागीदारी तभी संभव है जब बच्चे समस्याओं को हल करने में शामिल हों और साथ ही विचार पर चर्चा करके उन्हें लागू करने का प्रयास भी करें। यह भागीदारी गणितीय प्रकृति के अनुकुल होनी चाहिए जो एक तरह की सोच– जैसे तर्क देना, कारण निर्माण, अनुमान लगाना, समस्या समाधान करना, अनुमानों से सहमति व असहमति जताना, सामान्यीकरण तक पहुँचना आदि पर केन्द्रित हो। कक्षा में गतिविधि करने व उससे सम्बन्धित बातचीत करने की बज़ाए गणितीय तर्कों को प्रयोग करने के अवसर उपलब्ध करवाने की ज़रूरत है, भले ही उन में औपचारिक प्रमाणों की बात न की

जाए। उदाहरणार्थ, एक गणितीय समस्या को कक्षा में रखकर बच्चों को अपने-अपने तरीकों के प्रयोग से उसे सुलझाने का मौका दिया जाना चाहिए ताकि बच्चे अपने सुझाव सब के सामने रख सकें। प्रमाणों को क्रमबद्ध तरीके से निर्मित होना चाहिए। बच्चों को अपने तर्कों में सम्बन्ध बनाने देना चाहिए व दूसरों के तर्कों से सम्बन्ध स्थापित करने देना चाहिए ताकि वे प्रमाण के पक्ष में तर्क दे सकें। तर्क व अन्वेषण साथ-साथ चलने चाहिए। लचीली सोच व सम्बन्ध बनाने से निडर सोच के द्वार खोले जा सकते हैं। इससे बच्चे सही या गलत के बारे में चिन्ता किए बिना गणितीय कार्यों पर ध्यान दे सकें।

जाँच आधारित खोजना व अन्य खुले कार्य, गहन गणितीय सम्बन्धों से रूबरू होने के अवसर उपलब्ध करते हैं। ऐसे पैटर्न या सम्बन्ध को खोजना जिस के बारे में बच्चों को नहीं पता होता, उन के जवाबों के लिए नए मार्ग का निर्माण करते हैं। बच्चों की इस सोच को ऐसे अनुमानित प्रमाणों की भाँति लिया जाना चाहिए जिन को आगे चलकर स्थापित किया जाना है। ऐसे अनजान रास्ते, जो आगे की खोज का रास्ता बनते हैं, बच्चों के लिए बड़ी उपयोगी चुनौती हैं, क्योंकि इससे बच्चे विचार को जाँचने के लिए उससे जुड़े रहते हैं और अपने शुरुआती अनुमानों को या तो स्थापित करते हैं या फिर उन का खण्डन करते हैं। गणित का सम्बन्ध अनुमान लगाने और उन की सत्यता की जाँच करने से है। वह यात्रा जो सभी परिस्थितियों पर लागू होने की ज़रूरत पर ज़ोर देती है, सत्य की स्थापना के लिए अनुमान लगाती है व जाँच करती है, को ही हम 'गणितीय भागीदारी' के नाम से जानते हैं। चुनौतियों की जाँच एक गणितीय राही के रूप में होनी चाहिए न कि क्रियान्वन की जटिलताओं के आधार पर। उदाहरण के लिए, एक सरल सवाल में भी ऐसी गणितीय चुनौती प्रस्तुत करने की शक्ति हो सकती है जो किसी जटिल और महँगे भौतिक मॉडल में न हो। गणितीय विचारों के पोषण के लिए प्रयोगशालाओं की आवश्यकता नहीं है। यह कार्य सरलता से श्यामपट्ट पर समस्या लिख कर भी किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण इस प्रकार है:

उदाहरण 4 : छठी कक्षा की शिक्षिका एक प्रतिस्थापन कक्षा में एक खेल सोचती है। वह बच्चों से तीन अंकों वाली एक ऐसी संख्या सोचने के लिए कहती है जिस में इकाई का अंक सैकड़े के अंक से 2 कम है। यह संख्या सोच लेने के बाद उन्हें इस संख्या के अंकों को पलटना है और प्राप्त हुई नई संख्या को मूल संख्या में से घटाना है। अगले चरण में, बच्चों को घटाने के बाद प्राप्त हुई संख्या के अंकों को फिर से पलटने के लिए कहा जाता है लेकिन इस बार उन्हें प्राप्त हुई संख्या को पूर्व चरण में प्राप्त संख्या के साथ जोड़ना है। फिर बच्चों को अपना-अपना जवाब एक कागज़ पर लिखने को कहा जाता है और वो पर्ची उन्हें अपने पार्टनर से बदलने को कहा जाता है। सभी बच्चे एक ही जवाब 1089 पर पहुँचने से हैरान होते हैं।

यह कक्षा बच्चों के लिए काफी उत्सुकता भरी है चूँकि सभी बच्चे एक ही जवाब पर पहुँचते हैं इसलिए सभी को लगता है कि इस में कोई जादू है। निस्सन्देह बच्चे यहाँ बहुत उत्सुक हैं और उस जादुई तरीके का पता लगाना चाहते हैं। इस बार शिक्षिका समस्या के क्रमबद्ध विश्लेषण के सभी पहलुओं पर बच्चों से कार्य करवाती हैं। वह साथ ही बच्चों के निरीक्षणों को श्यामपट्ट पर लिखती हैं:

चरण 1 : तीन अंकीय संख्या को चुनना

चरण 2 : इकाई के अंक का सैकड़े के अंक से 2 कम होना

चरण 3 : अंकों को पलटना और घटाना

चरण 4 : अंकों को फिर से पलटना और जोड़ना

कक्षा में जो भी होता है वह काफी रुचिकर प्रतीत होता है क्योंकि शिक्षिका बच्चों को गणितीय रूप

से सोचने के लिए प्रेरित होने से रोकती नहीं है। वह बच्चों के साथ सभी कथन पर चर्चा करती है जो श्यामपट्ट पर लिखे गए हैं। वे मिलकर 1089 के हल पर पहुँचते हैं। धीरे-धीरे व सामूहिक रूप से वे प्रसिद्ध समस्या 1089 के पीछे का तर्क समझ जाते हैं।

गतिविधि के बाद की जाँच में शिक्षिका बच्चों के सामने कुछ और चुनौतियाँ रखती है। शिक्षिका बच्चों से पूछती है कि "क्या होगा यदि हम किसी एक स्थिति या शर्त को बदल दें और बाकी को वैसे ही रखें"। उदाहरण के लिए, "क्या होगा यदि हम 3 अंकीय संख्या के स्थान पर 4 अंकीय संख्या का प्रयोग करें? क्या हमें तब भी यही जवाब मिलेगा?" या "क्या होगा यदि हम पहली शर्त को वैसे ही रखें और दूसरी शर्त को बदल दें?" उसी प्रकार, "क्या होगा यदि इकाई और सैकड़े के अंक का अन्तर 2 की बज़ाए 3 हो? इस से हमें मिलने वाले जवाब में क्या बदलाव आएगा?"

उपर्युक्त स्थिति को गणितीय समृद्ध चर्चा के रूप में देखा जा सकता है क्योंकि इस में सभी बच्चे गणितीय रूप से सोचते हुए प्रतीत हो रहे हैं। ऐसे गणितीय समृद्ध कार्य गणितीय आनन्द के लिए रास्ते खोलते हैं जिन में बच्चे गणितीय रूप से सोचने की प्रक्रिया में शामिल होते हैं।

कार्य ऐसे होने चाहिए जो तर्कों को बढ़ावा दें और नियमों के दोहराव का खण्डन करें। ऐसी गतिविधियों को प्रयोग किए जाने की ज़रूरत है जो गणितीय रूप से 'क्यों' सम्बन्धी प्रश्न का जवाब ढूँढ़ने के लिए संवाद को सुनिश्चित करें। प्रमाणों को रटने की बजाए उन को निर्मित करने पर ज़ोर दिया जाना चाहिए। यह सावधानीपूर्वक जाँचे जाने की ज़रूरत है कि कार्य ऐसे हों जो विषय की गहन सोच का विकास करें न कि उसे सतही रूप में करें।

एक अच्छी गणितीय कक्षा के पैमानों में गणितीय रूप से की गई जटिल चर्चाएँ, गणितीय कुशलता, समस्याओं तक पहुँचने के उचित तरीके और गणितीय रूप से चुने गए कार्यों को शामिल किया जा सकता है। ऐसे वातावरण को पोषित किए जाने की ज़रूरत है जिस में बच्चे अपने हलों तक पहुँचने के लिए और अपने विचारों के विकास को बताने के लिए प्रेरित हों।

कक्षा में किए जाने वाले कार्यों में गणितीय जुड़ाव के गुण होने चाहिए और गणितीय विचारों के निर्माण में सहयोग दें। बच्चों को ऐसे कार्य करने के अवसर प्रदान करने चाहिए जिन्हें वे स्वतंत्र रूप से कर सकें और पहले से समझे गए ज्ञान को भी परख सकें। गणित को एक खुले क्षेत्र की भाँति लिया जाना चाहिए जिस में क्रियाएँ जुड़ी हों और विचारों को आगे बढ़ने के लिए चिन्तन करने का मौका मिले। अन्य शब्दों में, विद्यार्थियों को एक ग्राहक की भूमिका में नहीं देखा जाना चाहिए बल्कि उन्हें ज्ञान निर्माण के स्रोत के रूप में देखा जाना चाहिए। बच्चों को एक अध्ययनकर्ता, एक खोजकर्ता की भूमिका दी जानी चाहिए और शिक्षिका को उपर्युक्त संज्ञानात्मक चुनौती का अवसर उपलब्ध करना चाहिए।

अनुभव व खोज आधारित अधिगम तभी सम्भव है जब बच्चे उस में एकदम लीन हो जाएँ। लीन होने का यह कार्य लोगों को उन्हें उन के काम का हिस्सा बनने में, विषयवस्तु निर्मित करने में, ज्ञान को स्वतंत्र रूप से निर्मित करने में और समस्याओं को हल करने के लिए संसाधनों का प्रयोग करने योग्य बनाता है। भली-भाँति की गई ऐसी प्रक्रिया लोगों को बौद्धिक व गणितीय रूप से प्रोत्साहित करती है और यह अनुभव कभी न भूले जाने वाले अनुभवों का हिस्सा बन जाता है। इस मानसिक प्रक्रिया में संसाधन सहायक बन जाते हैं। एक गतिविधि आधारित उपागम की बजाए कक्षा का केन्द्र, विचार केन्द्रित व विचार निर्मित करने वाला होना चाहिए।

हनीत गाँधी पिछले तीन दशक से शिक्षक शिक्षा एवं गणित शिक्षण के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में बतौर सहायक प्राध्यापक कार्यरत हैं। सम्पर्कः haneetgandhi@gmail.com

क्यों कहें कहानियाँ

अनुराधा जैन

कहानी सुनने-सुनाने में बच्चों की रुचि होती है। यह एक ऐसा प्रकट और सर्वव्यापी तथ्य है जिस से बच्चों का पालन-पोषण करने वाले अभिभावक भी अवगत होते हैं और उन्हें शिक्षित करने के प्रयासों में जुटे शिक्षक भी। कहानी सुनना-सुनाना शिक्षक और अभिभावक के जीवन में आह्लाद के पल होते हैं। ज़रूरत है कि इस आह्लाद की वज़हों को समझा जाए। कहानियाँ हमें जीवन को समझने और उस का आस्वाद लेने में मदद करती हैं। कहानियाँ हमारे सामने घटनाओं और चरित्रों के बीच सम्बन्ध व्यवस्था को उद्घाटित करती हैं। वह एक साथ मानवीय कर्म के नैतिक, संज्ञानात्मक और भावात्मक पहलुओं को उद्घाटित करती हैं। अगर हम यह समझना चाहते हैं कि कहानी सुनाने से किन शैक्षिक उद्देश्यों की पूर्ति होती है तो कहानी के इस मर्म को समझना और उस पर निरन्तर चर्चा करना हमारे लिए ज़रूरी है। इस लेख में अनुराधा ने कक्षा में कहानी सुनाने और उस पर कुछ गतिविधियाँ करने के अपने अनुभवों को लिखा है। लेख पाठक को कहानी के मर्म व शिक्षा के व्यापक उद्देश्यों और इन दोनों के बीच के गहरे सम्बन्धों पर चर्चा के लिए आमंत्रित करता है। सं.

फाउण्डेशन में फैलोशिप के दौरान मुझे सरकारी विद्यालय में प्राथमिक कक्षाओं के बच्चों के साथ काम करने का मौका मिला। शुरुआत में मुझे बच्चों के साथ समय बिताना था ताकि उन के बचपन की सुलभताओं और जटिलताओं को समझ सकूँ। कुछ किताबों को टटोला यह समझने के लिए कि किस तरह काम की शुरुआत की जाए। *बच्चे की भाषा और अध्यापक* एवं *दिवास्वप्न* दो पुस्तकों ने मुझे राह सुझाई। दोनों ही पुस्तकों में बच्चों के साथ काम करते हुए कहानियों का इस्तेमाल करने पर ज़ोर दिया गया है। *दिवास्वप्न* ने कहानियों के प्रयोग के विभिन्न तरीकों के बारे मे सुझाया और *बच्चे की भाषा और अध्यापक* ने एक समीक्षात्मक नज़रिया दिया।

दोनों ही पुस्तकों ने कहानियों को एक विधा के तौर पर नहीं वरन शिक्षण विधि के रूप में देखने की दृष्टि दी। कुछ काम बच्चों के साथ कहानियों को लेकर किया गया। जिस में सैद्धान्तिक तौर पर भाषा को अर्जित करना, विचार एवं भाषा के अन्तर्सम्बन्धों, अवधारणाओं का निर्माण, भाषा में अर्थ-निर्माण और सन्दर्भों की उपयोगिता को समझने में भी कहानी के माध्यम से कार्य करते वक्त सहायता मिली।

क्यों कहें कहानियाँ

जब भी मैं सांगानेर के सरकारी विद्यालय में बच्चों के साथ भाषा पर काम करने के लिए जाती हूँ तब कक्षा में कहानियाँ सुनाना मेरी कक्षा की प्रक्रियाओं का हिस्सा होती हैं। मैं पहली-दूसरी कक्षा में जब भी जाती हूँ बच्चे एकदम तैयार रहते हैं चीं चीं चूहे की कहानी सुनने के लिए। इस कहानी के संवाद बच्चों को हू-ब-हू याद हो गए हैं। सारे घटनाक्रम याद हैं। नई कहानी सुनाऊँ या नहीं परन्तु यह कहानी हमेशा सुनानी पड़ती है। कुछ तो आकर्षण होता है कहानियों में। कहानियों के साथ किए गए प्रयोगों को *दिवास्वप्न* में जिस प्रकार दर्शाया गया है,

वह कक्षा में कहानियों के उपयोग एवं समझ को बखूबी रख पाता है। बच्चों के बीच कहानियाँ अपनी जगह जल्दी ही बना लेती हैं। कहानियाँ मन में घटनाओं की एक छाप बनाती हैं। वह यह कल्पना कर पाते हैं कि कहानी के पात्र ने किस परिस्थिति में क्या कहा होगा? यह भाषा की प्रकृति और बच्चों की भाषा अर्जित करने की क्षमता को पोषित करती है।

भाषा की समझ और कहानियों की उपयोगिता

भाषा का उपयोग कर पाना मानव की उन बुनियादी क्षमताओं में से एक है, जो उसे जैवकीय तौर पर विकसित प्राणी का दर्ज़ा देती हैं। भाषा, समाज और संस्कृति का एक प्रतिबिम्ब है, जो हमें किसी समाज की खूबसूरत झलकियाँ दिखाता है। भाषा सीखना स्वतः चलने वाली प्रक्रिया है, जिस में सीखने वाले का संज्ञानात्मक रूप से सक्रिय रहना एक अनिवार्य शर्त है। भाषा जीवन्त है, जिस में सन्दर्भों को रचा भी जाता है और गढ़ा भी जाता है।

इस बात में कोई दो राय नहीं कि भाषा सामाजिक संवाद से मुखरित होती है। बच्चों में भाषा सीखने एवं ग्रहण कर पाने की स्वभावगत क्षमता होती है। भाषा का प्रयोग हम अपने अनुभवों को अर्थ देने के लिए करते हैं। जो भी विचार हम गढ़ते या जो भी चिन्तन हमारे मस्तिष्क में चलता है उसे आकार देने के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं। यदि हम प्रक्रिया को गूढ़ता के साथ देखें तो हम कुछ ध्वनियों को आत्मसात करते हैं फिर उसे संरचनात्मक खाँचे में डालते हैं और उसी संरचना में मस्तिष्क चीज़ों में समानता-विषमता तलाशता है। कुछ विश्लेषण के पश्चात हम नए अर्थ को ग्रहण करते है। अर्थ ग्रहण करने की इस प्रक्रिया में सन्दर्भ जितना ज्यादा समृद्ध होगा अर्थ निर्माण उतना ही सटीकता के साथ हो सकता है। अर्थ निर्माण निर्वात में नहीं किया जा सकता इसलिए सन्दर्भ गढ़ना एक अनिवार्यता के रूप में दिखता है।

विद्यालयों में खास तौर पर प्राथमिक कक्षाओं में सन्दर्भों को रोचकता के साथ गढ़ने के लिए किन प्रक्रियाओं को शामिल किया जाए, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हो सकता है, खासतौर पर जब बात बच्चों के भाषाई कौशलों के विकास की हो, तब इन प्रक्रियाओं एवं गतिविधियों की प्रासंगिकता ज़्यादा प्रभावी हो जाती है। इन विचारों को स्वरूप देने के लिए कहानी एक प्रभावी विधि के तौर पर दिखाई देती है।

कहानियाँ कहना या सुनाना महज़ एक प्रक्रिया नहीं है, यह इंसान के भाषा के साथ जुड़ाव का एक माध्यम है। यह प्राचीन शिक्षण विधियों में से एक मानी जाती है। कहानियों में रचनात्मकता और कल्पनाशीलता के कई अवसर होते हैं। यदि हमारे सेंटर, अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, प्रतापगढ़ पर आने वाले बच्चों की भाषा में कहें तो कहानियाँ मज़ेदार होती हैं। ऐसा लगता है कि सब कुछ उन की आँखों के सामने चल रहा है। कई व्यंग्य आते हैं जो उन्हें खूब हँसाते हैं। कहानियों का संसार इतना रोचक और बड़ा है कि सभी इस की दुनिया से जुड़ जाते हैं। सभी के लिए इस में जगह है। यदि भाषा सीखने-सिखाने के नज़रियों से समझने की कोशिश करें तो कहानियाँ भाषा को समृद्ध बनाने का काम करती हैं। इस में घटनाक्रमों के कई रोचक मोड़ होते हैं, जो बाँधकर रख पाते हैं।

अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन ने राजस्थान के प्रतापगढ़ जिले में लर्निंग रिसोर्स सेंटर खोला। बच्चों ने वहाँ आकर पुस्तकालय की किताबों को देखना, जानना और समझना शुरू किया। किताबों की बेतरतीबी से अन्दाज़ा लगाया कि किताबें उन्हें मज़ेदार लग रही हैं। किताबों से कुछ दोस्ती तो हुई है। उन के लिए भी यह एक नया अनुभव था। सेंटर मे ढेर सारी किताबें हैं, रंग-बिरंगी, चित्रों वाली, जिन में एकलव्य, सीबीटी, एनबीटी, एनसीईआरटी सभी प्रकाशन की किताबें हैं। मुझे लगा कि इन के साथ क्या काम किया जाए, जिसमें हर उम्र के बच्चे जुड़ पाएँ और उन की रुचि भी बनी रहे। कहानियों से बेहतर विकल्प मुझे नजर नहीं आया। मैंने सोचा

यह था कि छोटे बच्चों को मैं कहानियाँ सुनाऊँगी और बड़े बच्चों की मदद से कुछ लोककथाओं का संग्रह बनाने की कोशिश करूँगी, जिन्हें बाद में नाटक बनाने के लिए इस्तेमाल करेंगे। बच्चों के साथ काम करते वक्त पहले से कुछ तय करना हमेशा काम नहीं करता। बच्चों से पहले दिन मैंने बात की। किस तरह की कहानियाँ उन्होंने अपने बड़ों से सुनी हैं, खास तौर पर उस तरह की कहानियाँ जो उन की अपनी भाषा में हों। बच्चों के उत्तर आए कि हम ने अपने घर के बड़ों से कहानियाँ कभी नहीं सुनी हैं। यह एक तरह का आश्चर्य भी था और मेरे लिए एक समस्या भी। अब संग्रह तो दूर की बात है, अभी तो कहानियों से जोड़ने की ज़रूरत है। इसी को ध्यान मे रखकर मैंने बुन्देलखण्डी कहानियों से शुरुआत की। पहले दिन बच्चों को 'मिजबान' कहानी सुनाई और बड़े बच्चों को कहा कि कहानियों के बारे में लिखो वह तुम्हें क्यों अच्छी लगती हैं? बच्चों ने लिखा कि कहानी हमें मजेदार लगती है, उन में हास्य के वाक्य आते हैं, जब हम कहानी पढ़ रहे होते हैं तो ऐसा लगता है कि सारी चीजें हमारे सामने चल रही हैं।

इस क्रम को बरकरार रखते हुए मैंने 'लल्लू चोर' की कहानी सुनाई और बच्चों के सामने सवाल रखा क्या इस कहानी को तुम अपनी भाषा में बदलकर लिख सकते हो? बच्चों ने कहा कि हम कोशिश कर सकते हैं। एक बच्चे पीयूष ने कहानी को मालवी में लिखा। बुन्देली शब्दों को मालवी भाषा में बदलकर कहानी के अन्दर डाला गया। कहानी कहते-कहते सेंटर पर कुछ प्रक्रियाओं को भी तय किया गया जिस में बच्चों ने भागीदारी भी की। बड़े बच्चों ने ज़िम्मदारी ली कि छोटे बच्चों को किताबों में से कहानियाँ पढ़कर सुनाएँगे। बच्चों ने मिलकर तय किया कि सेंटर मे शान्ति रखेंगे और जो शोर करेंगे हम उन को मना कर देंगे। इसी प्रकार 'मिन्दो मिन्दरिया' की बुन्देली कहानी के बाद मैंने बच्चों से कहा कि तुम भी मालवी में कोई कहानी सुनाओ। एक बच्चे ने एक हिन्दी की कहानी को मालवी में रूपान्तरित करके सुनाया। एक भाषा से दूसरी भाषा तक का सफर तय करना कहानियों के कारण ही सम्भव हो पाया। कहानियों के माध्यम से जो कुछ घटित हुआ है, उस ने भाषा गढ़ने का स्थान स्वतः ही बना लिया।

1. प्राथमिक कक्षाओं में कहानियाँ एक सहज अभिव्यक्ति का माध्यम

जब बच्चे विद्यालय की प्राथमिक कक्षाओं में आते हैं, तब विद्यालय का वातावरण उन के सहज स्वभाव से विपरीत होता है। बच्चे स्वभाव से ही सहज तौर पर अपनी बातों को अभिव्यक्त कर पाते हैं। लेकिन विद्यालय का औपचारिक माहौल उन्हें यह अवसर कम ही दे पाता है। विद्यालय की एक संस्थान के तौर पर अपनी सीमाएँ हो सकती हैं। इस परिस्थिति में शिक्षक को कुछ प्रक्रियाएँ तय करनी पड़ती हैं, जिन के माध्यम से वह शिक्षा के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर कक्षा-कक्ष में भाषाई कौशलों पर काम कर सकें। कहानियों के माध्यम से भाषा के कौशलों पर काम करना एक सहज माध्यम हो सकता है। कहानी में कहे गए संवाद बच्चों को पूरा सन्दर्भ प्रदान करते हैं, जिस से अर्थ निर्माण होता है। यह तथ्य काफी रोचक है कि किसी भी कही गई कहानी को बच्चे स्वयं की भाषा में इस प्रकार सुनाते हैं कि कहानी का अर्थ और मूल घटनाक्रम नहीं बदलता।

कक्षा-कक्ष में कहानियाँ

कक्षा दूसरी के बच्चों को मैंने सोना मौसी, एक बिल्ली की कहानी सुनाई। जिस में बन्दर, खरगोश, कछुआ और बिल्ली यानी सोना मौसी थी। बच्चों को कहानी सुनाने के बाद इतना ही कहा– क्या हम इस कहानी का नाटक भी बना सकते हैं? अगले दिन विद्यालय में बच्चे तैयारी के साथ आए थे। उन के पास सोना मौसी की साड़ी भी तैयार थी। सभी ने आपस में राय कर के अपने पात्र तय किए और नाटक के तौर पर कहानी का मंचन किया। पात्रों के संवाद से लेकर, हाव-भाव तक सभी कुछ बच्चों की स्वयं

की रचना थी। बाकी बच्चे जो कहानी के मंचन में शामिल नहीं थे, उन्होंने संवाद बोलते समय उन बच्चों की सहायता की। सुनी कहानी में पात्रों के संवाद, पात्रों की पोशाक का निर्धारण सभी कुछ बच्चों ने स्वयं किया। यहाँ कहानी को एक माध्यम के तौर पर इस्तेमाल किया गया, जिस ने बच्चों को स्वतंत्र अभिव्यक्ति का माध्यम प्रदान किया। इस प्रक्रिया में बच्चों ने सुनी हुई कहानी का अर्थ ग्रहण करते हुए उसे अपने शब्दों में सुनाया। बच्चों द्वारा इस प्रकार भाषा का प्रयोग करना अचम्भा-सा लगता है।

नॉम चोम्स्की का तर्क था, कि बच्चों में भाषा सीखने, अर्जित करने की जन्मजात क्षमता होती है। उन के मस्तिष्क में लैंग्वेज एक्यूजिशन डिवाइस होता है। उन के मस्तिष्क में व्याकरण की जटिल संरचनाओं का साँचा पहले से मौजूद होता है। बच्चे तीन साल की उम्र में ही भाषा की जटिल संरचनाओं को समझ पाते हैं एवं संवाद में उन का प्रयोग भी करते हैं। कक्षा-कक्ष में बच्चों की अभिव्यक्ति को स्थान देकर कई अवधारणाओं को विकसित किया जा सकता है। जिस में उन के पूर्व-अनुभव भी समझ के विस्तार में मदद करते हैं। कहानी सुनाने से भाषा के साथ उन का जुड़ाव बन पाता है। बड़े धैर्य के साथ बच्चे कहानी को सुनते हैं और उसी जीवन्तता और नैसर्गिकता के साथ नए-नए शब्दों से परिचित हो पाते हैं। कहानी बच्चों को जो रोचक सन्दर्भ देती है, वह आगे पढ़ने-लिखने की अमूर्त अवधारणाओं को सीखने में मदद करते हैं। कहानी के शब्दों की ध्वनि संरचना और लिखित संरचना के बीच सम्बन्ध स्थापित हो पाता है, साथ ही चिन्तन की प्रक्रिया में बच्चे शामिल होते हैं इसलिए मौलिक रूप से कुछ भाषा को गढ़ पाना सम्भव हो पाता है। इस प्रक्रिया में निहित अर्थ में परिवर्तन नहीं होता है।

सांगानेर के सरकारी उच्च प्राथमिक विद्यालय में कक्षा दूसरी का अनुभव

चिन्तन प्रक्रिया में कहानी की उपयोगिता

मस्तिष्क में आने वाले विचार एवं अर्मूत चिन्तन भाषा की संरचना में ही बुने जाते हैं। इन विचारों के बीच में आपसी सम्बन्ध होते हैं। कहानियों में घटनाओं और विचारों की जो तारतम्यता होती है, वह जटिल अमूर्त चिन्तन के लिए अवसरों को भी खोल सकती है। कहानी में चिन्तन, तर्क एवं कल्पनाशीलता के अवसर दिए जा सकते हैं।

मैं उच्च प्राथमिक विद्यालय में कक्षा सातवीं के बच्चों के साथ जयशंकर प्रसाद की कहानी 'छोटा जादूगर' पर काम कर रही थी। यह कहानी उन के पाठ्यक्रम में शामिल थी। कहानी ख़त्म होने के बाद उन को एक प्रश्न दिया गया कि छोटा जादूगर की ज़िन्दगी में आगे क्या हुआ होगा? शुरुआत में बच्चों को थोड़ी उलझन हुई, लेकिन उन्होंने तय किया कि एक बार हम पूरी कहानी पढ़ते हैं फिर हम सोचेंगे कि क्या हुआ होगा। बच्चों ने कहानी में 'छोटा जादूगर' के बारे में दी गई जानकारियों को लिखा, फिर अन्दाज़ा लगाया कि छोटा जादूगर अपनी माँ के गुज़र जाने के बाद क्या कर रहा होगा?

कहानी पर किए काम का यह अंश तार्किकता को ध्यान में रखकर चिन्तन को प्रेरित करता दिख रहा है। कक्षा-कक्ष में कहानियों का इस्तेमाल मौलिक चिन्तन और कल्पनाशीलता को बढ़ाने के लिए भी किया जा सकता है। यह सोच पाना कि किस प्रकार के व्यक्तित्व के साथ ज़िन्दगी में क्या-क्या घटा होगा, इस बात की तरफ इशारा करता कि बच्चे है किस प्रकार का चिन्तन कर पा रहे हैं। किस प्रकार के विचार उनके मन में उमड़ रहे हैं। इन विचारों के बीच में क्या सम्बन्ध दिखाई दे रहा है। इस प्रकार के अवसर महज़ कहानी के प्रश्नों के जवाब रटकर लिखने की प्रवृत्ति से हटकर स्वयं चिन्तन कर के लिखने की प्रवृत्ति को विकसित कर सकते हैं। जो बच्चों में तार्किकता, चिन्तन और कल्पनाशीलता को मुखर बनाता है। इसी प्रकार कक्षा- 6 की बालिका प्रियंका ने मनोहर की कहानी को उसी तार्किकता के साथ आगे बढ़ाया, जिस प्रकार कक्षा- 7 की बालिकाओं ने

छोटा जादूगर की कहानी को आगे बढ़ाया था।

जादू के मैदान का मालिक छोटा जादूगर

'छोटा जादूगर' ने वापस उसी मैदान पर जादू दिखाना शुरू किया। धीरे-धीरे उस के काम से लोग प्रभावित होने लगे। छोटा जादूगर ने बहुत मेहनत की। धीरे-धीरे उस ने वही जादू का मैदान खरीद लिया। कुछ दिन बाद उस के पिता भी जेल से बाहर आ गए और वह भी छोटा जादूगर की मदद करने लगे। उस के बाद छोटा जादूगर का घर बन गया। उस ने शादी कर ली और खुशी-खुशी अपने परिवार के साथ रहने लगा। कहानी को आगे बढ़ाने के इस काम में बच्चों ने इस बात को इस प्रकार समझा, कि छोटा जादूगर ईमानदार और मेहनत करने वाला लड़का है इसलिए उस के साथ अच्छा होना चाहिए। उस के जादू के खेल बड़े निराले और मज़ेदार होते हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखकर छोटा जादूगर की आगे की ज़िन्दगी को बच्चों ने देखा। उन का चिन्तन इसी तर्क पर आधारित था, कि छोटा जादूगर मेहनती और ईमानदार लड़का है। इसलिए अपनी ज़िन्दगी में उसे कामयाबी मिलनी चाहिए। छोटा जादूगर का उसी मैदान को खरीदना जहाँ वह जादू दिखाता था, उस की कामयाबी को और पुख्ता रूप से दिखाता है।

राजकीय बालिका उच्च प्राथमिक विद्यालय सांगानेर ओल्ड, जयपुर कक्षा सातवीं का अनुभव-

2. भाषाई कौशलों के विकास में कहानियों की भूमिका

भाषा को जब हम कौशल के तौर पर देखते हैं, तब हम इसे लिखित और मौखिक के दायरों में बाँटकर देख पाएँगे। जिन्हें हम चार श्रेणियों मे विभाजित कर देते हैं– सुनना, बोलना, पढ़ना और लिखना। सुनने और बोलने को हम जैवकीय शारीरिक क्रिया से हटाकर यदि कौशल के रूप में देखते हैं तो कुछ बुनियादी अन्तर होना चाहिए। कौशलों के दायरों में देखें तो सुनने और बोलने में समझ निहित है। यह समझ व्यापकता के साथ अर्थ का निर्माण करती है। पढ़ने और लिखने के बुनियादी कौशल में लिखित विषयवस्तु को पढ़कर उस का मर्म समझ पाना और अपने शब्दों में अपने विचारों को लिख पाना आदि शामिल होना चाहिए। सिर्फ लिखित विषयवस्तु को टुकड़ों-टुकड़ों में पढ़कर डीकोड करना पढ़ने का सही अर्थ नहीं दे पाता है। इन सभी बातों को थोड़ा और गहराई से देखें तो चिन्तन एवं विचारों की भूमिका यहाँ भी देखी जा सकती है। कहानी में लिखने-पढ़ने की आरम्भिक गतिविधियाँ भी शामिल की जा सकती हैं और मौलिक लेखन के अवसर भी निकाले जा सकते हैं। कहानी से शब्द, वर्ण एवं मात्राओं की अवधारणाओं पर आसानी से काम किया जा सकता हैं। चीं चीं चूहे की कहानी सुनाने के बाद कक्षा में अलग-अलग कक्षा के बच्चों को अलग-अलग काम दिया। पहली व दूसरी के बच्चों के साथ उन चीजों की सूची बनाई जो चीं चीं को उन के गाँव में दिखाई देतीं। तीसरी से पाँचवीं के बच्चों को इस प्रश्न का उत्तर लिखने को कहा कि यदि चीं चीं तुम्हारे घर में आए तो तुम क्या करोगे?

कहानी में आए शब्दों से बच्चों का परिचय लिखित तौर पर करवाना, कहानी के पात्रों के बारे में बात करना और नाटक के रूप में कहानी का चित्रण करने की गतिविधियाँ ऐसे कई अवसर देती हैं, जिसमें हम बच्चों को सहजता के साथ भाषाई कौशलों से जोड़ सकते हैं। कहानी सुनाते वक्त अक्सर बच्चे उस कहानी को अपनी कॉपी में दर्ज करना चाहते हैं, उन को श्रुतलेखन के माध्यम से कहानी लिखवाई जा सकती है। इस के अलावा आधी कहानी लिखकर उस के अन्त पर बच्चों से चर्चा की जा सकती है।

कई चित्र कहानियों का इस्तेमाल भी कक्षा में किया जा सकता है। कई तरह के रास्ते कहानियों के माध्यम से निकाले जा सकते हैं।

3. कहानी में शिक्षकों एवं विद्यालय की भूमिका

अक्सर विद्यालयों में कहानी प्रार्थना सभा का

हिस्सा होती है जिन का उद्देश्य बच्चों को मूल्य सिखाना हो सकता है। इन मूल्यों को बच्चे कितना सीख पाते हैं या क्या उन्हें इस तरीके से मूल्य सिखाए जा सकते हैं, इस सवाल पर चर्चा की जा सकती है। परन्तु अगर भाषाई कौशलों के विकास के नज़रिए से देखें तो कहानियाँ कक्षा की प्रक्रियाओं का हिस्सा कम ही बन पाती हैं। शिक्षक की निर्भरता भी अधिकांशतः पाठ्यपुस्तक की कहानियों तक रह जाती है। कहानी, जो भावों की यात्रा जैसी होती है, वह महज पाठ की गतिविधियों को पूरा कराने का माध्यम बन जाती है।

कहानी को एक शिक्षण विधि के तौर पर देखने के लिए, शिक्षक का स्वयं के स्तर पर तैयारी करना बेहतर होता है। कहानी को रोचक बनाने के लिए पुतलियों का इस्तेमाल किया जा सकता है। बच्चों से कहानियों के चार्ट बनवाए जा सकते हैं। स्वयं कहानी बनाने के लिए बच्चों को प्रेरित किया जा सकता है। कक्षा-कक्ष में कहानियों को स्थान देने के लिए शिक्षक उदार नज़रिया अपना सकते हैं।

कहानी का प्रयोग एक शिक्षण विधि के तौर पर करने के लिए शिक्षक की स्वयं की तैयारी भी उतनी ही आवश्यक है। कहानी कहकर उस पर प्रश्नोत्तर बनाकर याद करवा देना, बच्चों को शायद चिन्तन के उतने अवसर न दे, जितने कि कहानी में निर्णय लेने, कल्पना करने या अनुमान लगाने जैसे कार्यों में दिया जा सकता है। यह ज़रूरी नहीं है कि कहानी की पठकथा को हू-ब-हू सुनाया जाए जैसा कि शिक्षक ने स्वयं पढ़ा है। सोना मौसी की कहानी बच्चों को सुनाते हुए उन्हें यह मौका दिया कि वह तय करें कि सारे जानवरों को सोना की मदद करनी चाहिए या नहीं। बच्चों का पहला जवाब यही था कि करनी चाहिए क्योंकि वह मुसीबत में है। उस के बाद जब सवाल किया कि जब आप की कोई मदद नहीं करता तब क्या आप उस की मदद करते हो? बच्चों का जवाब था नहीं। फिर बाकी जानवरों को सोना की मदद क्यों करनी चाहिए? बच्चों ने थोड़ा सोचा और कहा कि जब कोई ज़्यादा मुसीबत में होता है, तो फिर हम उस की मदद करते हैं। यदि जानवरों ने सोना को नहीं बचाया तो वह मर सकती है और हो सकता है इस के बाद सोना का मन बदल जाए और वो सब की मदद करने लगे। इस कहानी को इसी प्रकार खत्म किया गया। इस का अन्त क्या होना चाहिए यह बच्चों ने स्वयं तय किया। जो उन के निजी अनुभवों के करीब और वास्तविक कहा जा सकता है। इसी प्रकार कई छोटी-छोटी गतिविधियाँ या प्रश्न कहानियों में डाले जा सकते हैं। शिक्षक यदि बच्चों को सोचने और तर्क करने की आजादी दें तो बच्चों को चिन्तनशील एवं संवेदनशील मानव के रूप में स्थापित किया जा सकता है।

तैयारी का पहला कदम कहानियों का संग्रह करना है दूसरे कदम में कहानी के इर्द गिर्द कुछ गतिविधियों को बनाना, कहानियों को रोचकता के साथ प्रस्तुत करना और कहानी के माध्यम से संवाद के मौके तलाशना है, जो बच्चों को मौलिकता के साथ चिन्तन करने को प्रेरित कर सकता है। इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए, बच्चों को स्वयं कहानी या कविता लिखने के अवसर दिए जा सकते हैं। बच्चों का लेखन देखते समय शिक्षक अक्सर मौलिकता से ज्यादा व्याकरण और मात्राओं पर ध्यान देते हैं। बच्चों की सहज गलतियों के लिए वे कोई जगह नहीं देख पाते। जीन प्याजे की संज्ञानात्मक विकास की प्रक्रिया के सिद्धान्त के अनुसार बच्चे अपने मस्तिष्क में विभिन्न कोटियों का निर्माण करते हैं, इस प्रकार वह नए ज्ञान का निर्माण करते हैं। वयस्क, बच्चों को स्केफोल्डिंग के माध्यम से उनके सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में आवश्यक सहायता प्रदान करते हैं, ताकि उन के ज्ञान का विस्तार हो सके।

विद्यालय में कहानियों के माध्यम से बच्चों को पढ़ने-लिखने के अवसर दिए जा सकते हैं। अलग-अलग प्रकार की कहानियों के लिए बाल पुस्तकालय एक कारगर तरीका हो सकता है। ऐसे बाल पुस्तकालय विद्यालय स्तर पर ही चलाए जा सकते हैं जिस की ज़िम्मेदारी

बच्चों को सौंपी जा सकती है। विद्यालय एक संस्थान के तौर पर कहानी के माध्यम से बच्चों में लिखने-पढ़ने के कौशल को विकसित कर सकते हैं। कहानी सिर्फ मूल्य या मनोरंजन का हिस्सा न रहे बल्कि सीखने की प्रक्रियाओं का हिस्सा भी बन सकती है।

सन्दर्भ

गिजुभाई, *दिवास्वप्न*, दक्षिणमूर्ति बालमन्दिर भावनगर गुजरात

तेत्सुको कुरोयांगी, *तोत्तोचान द लिटिल गर्ल एट द विंडो*, अनु. डोरोथी ब्रिटन

कृष्ण कुमार, *राज समाज और शिक्षा* पुस्तक के कुछ अंश

कृष्ण कुमार, *बच्चे की भाषा और अध्यापक*

मुस्कान संस्था के वीडियो

एकलव्य प्रकाशन की पुस्तकें

दिगन्तर प्रकाशन की भाषा शृंखला सीरीज

जॉन हॉल्ट, *समरहिल* के कुछ अंश

मुस्कान संस्था, भोपाल के कार्य के कुछ वीडियो

पढ़ने की समझ, एनसीईआरटी, नई दिल्ली

"Language acquisition and language learning : developing the system of external and internal perspective"

Paper presented at the 52nd International Scientific Conference of Daugavpils University, Daugavpils, Latvia. April 15, 2010.

Lev Vygotsky, *Thought and Language*, translation newly revised and edited by Alex Kozulin

---

अनुराधा जैन पिछले एक दशक से समुदाय के साथ शिक्षण एवं प्रशिक्षण के क्षेत्र में सक्रिय रही हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन सागर, मध्यप्रदेश में बतौर रिसोर्स पर्सन कार्यरत हैं। सम्पर्कः anuradha.jain@azimpremjifoundation.org

उच्चारण की गलतियाँ : हमारी समझ और उपाय

भारती पंडित

शुरुआती कक्षाओं में भाषा की पढ़ाई में शुद्धता का विषय शिक्षकों की चिन्ता का प्रमुख विषय रहता है। इस चिन्ता के चलते बच्चों के उच्चारण दोष और इसे सुधारने या शुद्ध उच्चारण के लिए नाना प्रकार के प्रयास किए जाते हैं। आज ये प्रयास भाषा पढ़ाई के मकसद में बड़ी बाधा के तौर पर देखे जाते हैं। यह आलेख भाषा शिक्षण में उच्चारण के विविध निहितार्थों पर विचार प्रस्तुत करता है और सवाल उठाता है कि क्या उच्चारण को एक बहुत बड़ी समस्या के रूप में देखा जाना चाहिए? भाषा सीखने में उच्चारण की समस्या कहाँ से आई होगी? क्या यह जरूरी नहीं है कि भाषा की कक्षा में शिक्षकों का सारा ध्यान शब्दों के सही उच्चारण पर टिके रहने की बजाए भाषा के अन्य सारे कौशलों के विकास की ओर भी रहे? क्या शिक्षकों का उच्चारण बच्चों के उच्चारण को प्रभावित करता है? आदि। सं.

सही बोलो, सही उच्चारण करो... यह जुमले अधिकांश शिक्षकों की रोजमर्रा की बातचीत का हिस्सा बन चुके हैं। भाषा शिक्षण के समय एक बड़ी परेशानी बच्चों द्वारा शब्दों का उच्चारण सही तरीके से न किया जाना होता है और इस के चलते प्राथमिक और माध्यमिक कक्षाओं में शिक्षकों का काफी समय उच्चारण की त्रुटियों को ठीक करवाने में जाया होता है।

पर क्या वास्तव में उच्चारण दोष को इतनी भयानक समस्या की तरह देखा जाना चाहिए जिस के लिए कक्षा शिक्षण के लिए उपलब्ध समय का अधिकांश हिस्सा खर्च किया जाए और इस के बाद भी नतीजा सिफर ही निकले? इस बात से कोई गुरेज नहीं है कि किसी भाषा को बोला जाता है तो उस का सही उच्चारण ही प्रभावी रूप से हमारे सामने आता है और उसी के आधार पर हम तय करते हैं कि उस व्यक्ति की भाषा पर पकड़ अच्छी है या नहीं। पर यहाँ फिर एक प्रश्न खड़ा होता है कि क्या शब्दों को सही तरीके से मात्र उच्चारित करने या शुद्ध बोलने से ही किसी का भाषा पर पाण्डित्य तय हो जाता है और किसी का भाषा पर अधिकार खारिज हो जाता है या इसके लिए कुछ और बातों पर भी सोचना आवश्यक है? यदि प्रभावी रूप से बोलना भाषा के कौशलों में से एक है और कोई व्यक्ति कुछ शब्दों के अशुद्ध उच्चारण के साथ भी यदि अपनी बात को सही तरीके से कह पाने में समर्थ है, कायदे की बात तर्क सहित कह पा रहा है तो क्या उसे हम अयोग्य मानेंगे?

उच्चारण दोष पर बात करने से पहले हमें यह भी समझना होगा कि भाषा सीखने में उच्चारण की अवधारणा आई कहाँ से होगी। हमारी वाचिक परम्परा में विविध भाषाओं में बोली गई विशिष्ट सामग्री को सुनकर ज्यों का त्यों सुना देना शिक्षण का प्रमुख हिस्सा हुआ करता था। बोली जा रही सामग्री पूरी तरह से समझ में भी आए, इस पर सम्भवतः ज़ोर कम था। आज भी विविध धर्मों में कर्मकाण्डों में बोले जा रहे मंत्रों, आयतों या वर्सेस के अर्थ उस का उच्चारण करने वालों को भी ठीक से मालूम नहीं होते।

उस समय की व्यवस्था भिन्न थी, सन्दर्भ भिन्न

थे, मगर लिपि के प्रचलन और ग्रंथों के लिपिबद्ध हो जाने के बाद भी तब से लेकर आज तक शिक्षा की यही परिपाटी चलती आ रही है जिस में छपी हुई सामग्री के उच्चारण पर ही अधिक बल दिया जाता है।

वास्तव में हर भाषा शिक्षक को यह समझना होगा कि भाषा की कक्षा में उच्चारण की आवश्यकता पड़ती कब-कब है और किसलिए। प्रारम्भिक कक्षाओं में जब हम बच्चों को पढ़ना सिखा रहे होते हैं तो उस दौरान हम उन्हें शब्दों का उच्चारण करके पढ़ना सिखाते हैं। यहाँ मूल उद्‌देश्य होता है ध्वनि और अक्षर के सहसम्बन्ध को समझाना, अर्थात् यह दर्शाना कि बोला जाने वाला शब्द लिखने पर कैसा दिखाई देता है या लिखा कैसे जाता है।

एक बार यदि यह सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है तो बच्चे के लिए सुनी गई बात को और अपने मन में सोची जा रही बात को लिखना आसान हो जाता है। (श्रुतलेख की प्रक्रिया इसी समझ पर आधारित है।) इसके अलावा कहानी-कविता को हाव-भाव सहित सुनाने के लिए भी सही उच्चारण काम आता है (हालाँकि स्थानीय भाषा के शब्दों या लहज़े का प्रयोग कहानी-कविताओं को और मज़ेदार बना देता है।) पर सही उच्चारण मात्र सिखा देना भाषा शिक्षण का एकमेव उद्‌देश्य नहीं है। लिखी और बोली जा रही बात को समझना, समझकर पढ़ पाना, अपनी बात लिख पाना, विश्लेषण करना, वर्गीकरण करना, तर्क गढ़ना, प्रश्न करना आदि भी भाषा शिक्षण के ही उद्‌देश्य हैं, जिन के विकास के लिए प्राथमिक कक्षाओं से ही प्रयास किए जाना आवश्यक है। अतः क्या यह ज़रूरी नहीं है कि भाषा की कक्षा में शिक्षकों का सारा ध्यान शब्दों के सही उच्चारण पर टिके रहने की बजाए इन सारे कौशलों के विकास की ओर भी रहे?

यहाँ यह हरगिज़ नहीं कहा जा रहा है कि किसी भाषा में शब्दों का गलत उच्चारण मान्य किया जाना चाहिए और उसे सुधारने के उपाय नहीं किए जाने चाहिए पर इस सबसे पहले शिक्षक होने के नाते हमें यह भी जानना होगा कि उच्चारण दोष होते क्यों हैं। हम सभी जानते हैं कि हमारे शरीर में अवस्थित स्वर यंत्र या वोकलकॉर्ड की सहायता से हम बोलते हैं और हमारी जीभ, तालू और दाँत बोलने में हमारी सहायता करते हैं। हम बचपन में जब अपनी मातृभाषा बोलना सीखते हैं तो उस में जिस तरह की ध्वनियाँ होती हैं, उन के उच्चारण के लिए हमारी स्वर यंत्रियाँ और जीभ अनुकूलित हो जाते हैं। बच्चों के साथ भी यही होता है। वे अपनी मातृभाषा सुन-सुनकर सीखते हैं और उनकी स्वर यंत्रियाँ उस भाषा की ध्वनियों के उत्पादन के लिए अनुकूलित हो जाती हैं। जब वे स्कूल आते हैं तो एक नई भाषा से उनका सामना होता है। यदि उन की मातृभाषा और स्कूल की भाषा की ध्वनियाँ लगभग समान हैं तो उन्हें उनका उच्चारण करने में ज्यादा दिक्कत नहीं आएगी मगर यदि कोई ऐसी ध्वनि है जो उनकी भाषा में है ही नहीं तो उस ध्वनि का उच्चारण उन्हें सीखना होगा या दूसरे शब्दों में उस ध्वनि के लिए अपने स्वर यंत्र

हम बचपन में जब अपनी मातृभाषा बोलना सीखते हैं तो उस में जिस तरह की ध्वनियाँ होती हैं, उन के उच्चारण के लिए हमारी स्वर यंत्रियाँ और जीभ अनुकूलित हो जाते हैं। बच्चों के साथ भी यही होता है। वे अपनी मातृभाषा सुन-सुनकर सीखते हैं और उनकी स्वर यंत्रियाँ उस भाषा की ध्वनियों के उत्पादन के लिए अनुकूलित हो जाती हैं। जब वे स्कूल आते हैं तो एक नई भाषा से उनका सामना होता है। यदि उन की मातृभाषा और स्कूल की भाषा की ध्वनियाँ लगभग समान हैं तो उन्हें उनका उच्चारण करने में ज्यादा दिक्कत नहीं आएगी मगर यदि कोई ऐसी ध्वनि है जो उनकी भाषा में है ही नहीं तो उस ध्वनि का उच्चारण उन्हें सीखना होगा या दूसरे शब्दों में उस ध्वनि के लिए अपने स्वर यंत्र को अनुकूलित करना होगा।

को अनुकूलित करना होगा। उदाहरण के लिए मराठी में उपयोग में लाई जाने वाली 'ळ' की ध्वनि हिन्दी में नहीं है अतः हिन्दी भाषी बच्चा मराठी के उन शब्दों को जिनमें ळ ध्वनि आती है, ल की तरह या ड की तरह उच्चारित करेगा और इस ध्वनि को शिक्षक द्वारा लाख प्रयास किए जाने पर भी उस के द्वारा सही उच्चारित नहीं किया जा सकेगा। इसे आप दक्षिण भारतीय लोगों के मामले में भी आसानी से देख सकते हैं जहाँ वे भ, फ, घ, झ का उच्चारण ब, प, ग, ज जैसा करते हैं। ऐसा उस ध्वनि से अनुकूलित न होने के कारण या उन की भाषा में इस तरह की ध्वनियों का प्रयोग न होने के कारण होता है। इसीलिए वे घर को गर, झण्डा को जण्डा और भूत को बूत कहते नज़र आते हैं। मूल ध्वनियों की जगह इन्हें सुनना अटपटा भले ही लगे मगर घर और गर यदि पूरे वाक्य के सन्दर्भ में आ रहा हो और उस भाषा में उस तरह के शब्द का कोई दूसरा अर्थ नहीं हो तो अर्थ समझने में दिक्कत नहीं होती और यदि बातचीत का मूल उद्देश्य अर्थ को समझना है तो इस से अर्थ में विशेष बाधा उत्पन्न नहीं होती, भले ही शब्द का उच्चारण व्याकरणिक दृष्टि से सही न हो।

इस के साथ-साथ यह भी ध्यान देना होगा कि हर भाषा की शब्द संरचना उस के नियमों के अनुरूप हुआ करती है। सभी भाषाओं में शब्द सामान्यतः व्यंजन-स्वर-व्यंजन-स्वर के क्रम में व्यवस्थित किए जाते हैं। शब्द के आरम्भ में एक साथ दो से ज्यादा व्यंजन प्रायः नहीं आते, उन के बाद स्वर का प्रयोग करना ही पड़ता है, और ये भी कुछ खास व्यंजन ही होते हैं। अब यदि किसी भाषा में दो व्यंजन एक साथ आने वाले शब्द न हों तो हिन्दी के स्त्री, स्नेह, स्नान शब्दों के लिए उन भाषाभाषी लोगों का इस्तरी, इस्नेह और अस्नान या इस्नान बोलना स्वाभाविक है क्योंकि उन के लिए एक साथ दो या तीन व्यंजन उच्चारित करना सम्भव नहीं है। इसी तरह पंजाबी भाषा में आधे अक्षर से शुरू होने वाले शब्दों का प्रयोग नहीं होता अतः उस भाषा को बरतने वाले लोगों को स्टेशन, स्कूल, स्टाल, क्रम आदि को सटेशन, सकूल, सटाल, करम आदि बोलते देखा जा सकता है। यहाँ यदि उच्चारण भिन्न होने के बाद भी अर्थ समझने में दिक्कत नहीं होती तो क्या थोड़ी रियायत नहीं बरती जानी चाहिए?

यदि किसी भाषा में दो व्यंजन एक साथ आने वाले शब्द न हों तो हिन्दी के स्त्री, स्नेह, स्नान शब्दों के लिए उन भाषाभाषी लोगों का इस्तरी, इस्नेह और अस्नान या इस्नान बोलना स्वाभाविक है क्योंकि उन के लिए एक साथ दो या तीन व्यंजन उच्चारित करना सम्भव नहीं है। इसी तरह पंजाबी भाषा में आधे अक्षर से शुरू होने वाले शब्दों का प्रयोग नहीं होता अतः उस भाषा को बरतने वाले लोगों को स्टेशन, स्कूल, स्टाल, क्रम आदि को सटेशन, सकूल, सटाल, करम आदि बोलते देखा जा सकता है।

इसके अलावा एक और बात समझनी होगी। यदि बच्चे की मूल भाषा और स्कूल की भाषा की सभी ध्वनियाँ समान हैं पर उस के आसपास चाहे घर हो या स्कूल, कुछ शब्दों को गलत ही बोला जाता रहा है तो वह उन शब्दों को उसी तरह से बोलेगा। स और श की गलतियाँ इस का सटीक उदाहरण हैं जहाँ लोग शाला को साला और सोशल को शोशल कहते सुनाई देते हैं। हम लोगों में से भी कितने ही लोग आज भी इस तरह की गलतियाँ करते नजर आते हैं। क्या हमारे शिक्षकों ने इन्हें सुधारने के प्रयास नहीं किए थे? हाँ, बहुत किए थे मगर वे असफल साबित हुए क्योंकि शायद उन के तरीके मुफ़ीद नहीं थे।

सौ बात की एक बात यह कि बच्चों के उच्चारण से पहले हम अपने उच्चारण पर भी गौर कर लें क्योंकि हम शिक्षक इस बात को तो ज़ोर देकर गर्व के साथ कहते हैं कि हिन्दी ऐसी भाषा है जो जिस तरह से बोली जाती है, वैसी ही लिखी जाती हैं (जबकि सभी भारतीय

भाषाओं की ध्वनि व्यवस्था ऐसी है) और फिर भी हिन्दी के कई शब्दों का गलत उच्चारण करते हैं। सम्भव है ऐसा स्थानीय भाषा के प्रभाव के कारण हो और अब वह उच्चारण इतना रूढ़ हो गया है कि हम उसी उच्चारण को ही सही मानने लगे हैं। रेफ, पदेन और ऋ की ध्वनि का फर्क हम अपने उच्चारण में नहीं ला पाते, ए और ऐ की ध्वनि, ओ और औ की ध्वनि का वास्तविक उच्चारण नहीं कर पाते, श और स को एक-सा बोलते हैं। जैसे-पौधा को हम सामान्यतः पॉधा के रूप में बोलते हैं, पैसा को पेसा या पइसा की तरह, कृपा को क्रिपा या क्रपा की तरह। ऐसे कई शब्द हैं जिन के गलत उच्चारण के कारण ही बच्चे श्रुतलेख सही तरीके से नहीं लिख पाते। यानी हम उच्चारण गलत करते हैं और बच्चों से अपेक्षा होती है कि वे गलत उच्चारण सुनकर भी सही शब्द लिख दें। क्या यह ज्यादती नहीं है? इस के लिए तो यह करना होगा कि बच्चों को यह बताया जाए कि जो शब्द बोलने में क्रिपा, क्रपा या किरपा की तरह बोला जा रहा है, उसे लिखा कृपा जाता है। यानी शब्द की सही वर्तनी सीखने पर ध्यान दिया जाए। इस के साथ ही यदि उच्चारण में सुधार का आग्रह है तो पहले अपने आप पर भी काम करना शुरू करें क्योंकि बच्चे उच्चारण सुनकर भी सीखते हैं।

अब इस बात पर आते हैं कि उच्चारण दोष ठीक किस तरह होते हैं। अनुभव बताते हैं कि कई बार उच्चारण दोष समय के साथ ठीक हो जाते हैं, कभी शिक्षक या अन्य वयस्कों के ध्यान दिलाने से तो कभी अपने साथियों द्वारा ही इंगित किए जाने से। एक बार अहसास हो जाने के बाद उन ध्वनियों को बार-बार सुनकर और बोलकर स्वर यंत्रों को उन ध्वनियों के लिए अनुकूलित किया जा सकता है मगर यह सब कुछ दिन या कुछ महीनों में नहीं होता। शायद सालों लगें... साथ ही यह तब तो बिलकुल नहीं हो सकता जब इन गलतियों के लिए बच्चों को लगातार टोका जा रहा हो या अपमानित किया जा रहा हो। सीखना डर और अपमान के माहौल में तो हरगिज़ नहीं हो सकता। हाँ यह हो सकता है कि शिक्षक द्वारा एक बार इंगित कर दिए जाने के बाद बच्चे स्वयं उस दोष को दूर करने के प्रयास में लग जाएँ और सफलता हासिल कर लें।

अनुभव बताते हैं कि कई बार उच्चारण दोष समय के साथ ठीक हो जाते हैं, कभी शिक्षक या अन्य वयस्कों के ध्यान दिलाने से तो कभी अपने साथियों द्वारा ही इंगित किए जाने से। एक बार अहसास हो जाने के बाद उन ध्वनियों को बार-बार सुनकर और बोलकर स्वर यंत्रों को उन ध्वनियों के लिए अनुकूलित किया जा सकता है मगर यह सब कुछ दिन या कुछ महीनों में नहीं होता। शायद सालों लगें... साथ ही यह तब तो बिलकुल नहीं हो सकता जब इन गलतियों के लिए बच्चों को लगातार टोका जा रहा हो या अपमानित किया जा रहा हो। सीखना डर और अपमान के माहौल में तो हरगिज़ नहीं हो सकता।

और फिर यह भी तो देखना होगा न कि एक कक्षा में यदि दो या तीन प्रतिशत बच्चे ही उच्चारण में गलती करते हैं और इस के बावजूद भाषा के कौशलों को आसानी से आत्मसात कर पा रहे हैं तो क्या यह उपलब्धि काफी नहीं है? उन के द्वारा कही गई बात यदि समझ में आ रही है तो बातचीत का उद्‌देश्य तो पूरा हो ही रहा है न। हाँ यह हो सकता है कि उन के द्वारा गलत उच्चारित किए जा रहे शब्दों को उन्हें बार-बार सुनने का मौका दिया जाए, वह भी उन्हें बिना अपमानित किए बिना अपराधी बनाए तो शायद सुधार सम्भव है। इस के लिए एक उपाय यह हो सकता है कि कक्षा में अधिकांश बच्चों द्वारा गलत उच्चारण के साथ बोले जा रहे शब्दों की सूची बनाई जाए और उन शब्दों को किसी कहानी या पाठ्य में पिरोकर बार-बार सुनाया जाए और दिखाया जाए। देखने और सुनने के बीच के समन्वयन से काम अधिक आसान हो

जाएगा। यह भी हो सकता है कि जब वे वह शब्द गलत उच्चारण के साथ बोलें तो आप बिना गलती इंगित किए उस शब्द को सही तरीके से उच्चारित कर दें, आदि।

और यदि इसके बाद भी सुधार न हो सके तो मान लें कि इस के लिए अधिक समय लगेगा। तो फिर क्यों न ध्यान भाषा के अन्य कौशलों के विकास में लगाया जाए?

उच्चारण की गलतियाँ : हमारी समझ

जब से समझ आई, अपनी पढ़ाई के दौरान कक्षाओं में शिक्षकों को हिन्दी सिखाते समय उच्चारण पर बेहद ज़ोर देते और जिन बच्चों का उच्चारण शिक्षकों के मुताबिक सही नहीं होता, उन पर अत्यधिक समय खर्च करते और परिश्रम करते ही देखा। मेरी कक्षा में अधिकांश बच्चे बुन्देली बोलने वाले थे जिन के कई शब्दों के उच्चारण उन की अपनी भाषा से प्रभावित हुआ करते थे। सौभाग्य से मेरा उच्चारण शिक्षकों की दृष्टि से सही था (इसमें मेरी मातृभाषा मराठी का बड़ा योगदान रहा जिस की ध्वनियाँ लगभग हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी से मिलती-जुलती थीं।) अतः मुझे कक्षा में अक्सर पाठ पढ़ने के लिए कहा जाता और बाकी बच्चों को उस का अनुसरण करने का निर्देश दिया जाता। साल दर साल यह प्रक्रिया चलती रही मगर छठी से आठवीं में जाने के बाद भी उन बच्चों के उच्चारण में कोई फर्क नहीं आया।

अध्यापन कार्य को पेशे के रूप में अपनाने और हिन्दी विषय का अध्यापन करते समय मुझे भी थोड़ा-बहुत इस समस्या से दो-चार होना पड़ा। उस समय मुझे अपने शिक्षकों द्वारा अपनाई गई प्रक्रियाओं और उन की असफलता का ख़्याल आया। और यह भी समझ में आया कि उच्चारण सुधारने के लिए कम से कम उस तरह की प्रक्रिया से काम बनेगा नहीं। फिर यह भी भान हुआ कि यदि भाषा का मुख्य कार्य एक-दूसरे की बातों को समझना है तो उच्चारण उस में उतनी बाधा तो नहीं डाल रहा है यानी बात समझ में तो आ रही है, तो फिर क्यों न इस उच्चारण वाले मसले को थोड़ा किनारे रखकर भाषा सीखने के अन्य आयामों पर काम किया जाए। इस के लिए कुछ प्रयास किए और समझ में आया कि और भी बातें हैं भाषा में उच्चारण के सिवा।

पिछले पाँच वर्षों में शिक्षकों के साथ पढ़ने-लिखने की प्रक्रियाओं पर काम करते समय उन का उच्चारण के प्रति आग्रह समझ में आया। साथ ही यह भी कि केवल उच्चारण सही होने को ही पढ़ने की दक्षता मान लिया जाता है, समझ का उस से कोई ताल्लुक नहीं होता। इसी के चलते माध्यमिक कक्षाओं में भी हर विषय में मुखर या सस्वर वाचन कक्षा प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग बना हुआ है और इस प्रक्रिया में मौन वाचन यानी खुद पढ़कर समझने का स्थान न के बराबर है। इस पर बात करने पर शिक्षकों का खासा विरोध भी समझ में आता है। गोया अपनी धारणाओं को गलत साबित कर पाना अक्सर कठिन कार्य होता है।

कार्यशालाओं और अन्य बैठकों के दौरान हुई बातचीत से यह समझ में आया कि यदि उच्चारण सही न हो तो बच्चे के पूरे अस्तित्व का ही मखौल बना दिया जाता है। कैसे बोल रहे हो, कैसे पढ़ रहे हो, ये वाक्य उस के स्कूली जीवन का अभिन्न हिस्सा बन जाते हैं। कक्षा में भाषा शिक्षण के अन्य कौशल इस उच्चारण कौशल (??) के सामने गौण हो जाते हैं। यह आलेख इन्हीं सब अनुभवों की उपज है।

सन्दर्भ

पठन - एक मनोभाषिक अनुमान लगाने का खेल - पढ़ना यानी समझना (एनसीईआरटी)

रमाकान्त अग्निहोत्री, *बच्चों की भाषा सीखने की क्षमता – 2*

भारती पंडित दो दशक से स्कूली शिक्षा में अध्यापन करती रही हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन भोपाल (मध्यप्रदेश) में कार्यरत हैं। सम्पर्कः bharti.pandit@azimpremjifoundation.org

मेरी भाषा की कक्षा

विजय प्रकाश जैन

विजय प्रकाश जैन इस लेख में भाषा शिक्षण के अपने अध्यापकीय अनुभवों को साझा करते हैं। कक्षा में बागड़ी भाषा और हिन्दी, दोनों के साथ काम करने के उनके अनुभव दर्शाते हैं कि दो भाषाओं में एक साथ काम कैसे किया जा सकता है साथ ही यह भी कि कक्षा में मानक भाषा और स्थानीय भाषा दोनों का एक साथ प्रयोग करना संभव है। लेख उन बिन्दुओं को भी उभारता है कि दोनों भाषाओं का साथ-साथ प्रयोग कैसे सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के अन्य पहलुओं, शिक्षक के साथ सहजता, सीखने की ललक, सीखने वाले में आत्मविश्वास आदि को भी प्रभावित करता है। सं.

राष्ट्रीय पाठचर्या की रूपरेखा 2005 में वर्णित है कि प्राथमिक कक्षाओं में भाषा शिक्षण जितना चुनौतीपूर्ण कार्य होता है उससे कहीं ज़्यादा रोचक अनुभव प्रदान करने वाला होता है। शुरुआती दिनों में जब बच्चा अपने घर से स्कूल आता है तो उसका साक्षात्कार स्कूल की उस भाषा से होता है जो उसके घर की भाषा से कई अर्थों में भिन्न होती है। भाषा के शिक्षक के लिए यह एक बड़ी चुनौती होती है कि स्थानीय भाषा-जो बच्चे के घर और पड़ौस की भाषा हो सकती है- को उचित सम्मान देते हुए वह कैसे विद्यालय की भाषा का परिचय बच्चों के साथ कराता है।

मैं जिस स्कूल में शिक्षण करता हूँ वह ऐसे भाषाई क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ हिन्दी बच्चों की दूसरी भाषा है। बागड़ी बच्चों की मातृ भाषा है और अंग्रेजी तीसरी भाषा के रूप में देखी जा सकती है। बागड़ अंचल के दूरस्थ क्षेत्रों के बच्चों का परिवेश शहर और विकसित कस्बे के आस पास रहने वाले बच्चों से भिन्न है। ऐसे भाषाई परिवेश में बच्चों को हिन्दी सिखाना लगभग उतना ही चुनौतीपूर्ण है जितना कि अंग्रेजी या अन्य कोई भाषा सिखाना।

बाँसवाड़ा, राजस्थान का आदिवासी बहुल जिला है। राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय, मेन्दिया डिण्डोर, जिला मुख्यालय से 28 किलोमीटर दूर एक ऐसे गाँव में स्थित है जहाँ शत-प्रतिशत भील जनजाति समुदाय के लोग निवास करते हैं। खेती-बाड़ी व मज़दूरी करने वाले परिवारों में एक भी व्यक्ति दसवीं कक्षा पास नहीं है। विद्यालय की कक्षा 1 से 8 में इसी समुदाय के 155 बालक-बालिकाएँ अध्ययनरत हैं एवं मेरे सहित 4 शिक्षक कार्यरत हैं। स्कूल में आने वाले कुल 155 बच्चों में से 78 बच्चे-यानी लगभग 50 प्रतिशत-ऐसे हैं जिनके परिवारों में से कभी भी कोई पढ़ने के लिए स्कूल नहीं गया। वे अपनी पीढ़ी के पहले बच्चे हैं जो स्कूल जा रहे हैं।

इस गाँव में मेरा स्थानान्तरण गत सत्र 2016 में ही हुआ है। इस सत्र में सरकारी अभियानों में मेरी ड्यूटी होने के कारण मैं जुलाई के अन्तिम दिनों में स्कूल पहुँचा। दो-तीन दिनों तक मैं बच्चों से बातें करता रहा-उनके अनुभव सुनता, बच्चे बागड़ी में बोलते, मैं बागड़ी बोलते-बोलते हिन्दी के कुछ शब्द और वाक्य बोल दिया करता। एक दिन बारिश हो रही थी। मैंने

बच्चों के साथ बरसात पर बात शुरू की। मैंने पूछा कि बरसात में क्या होता है— एक बच्चे ने कहा कि बरसात में डेडका आता है। मैंने कहा, "डेडका मतलब मेढक होता है।" इस शब्द का दो-तीन बार अलग-अलग तरह से प्रयोग हुआ। अगले दिन कक्षा में एक मेढक आ गया। मैंने कहा, "देखो बच्चो! मेढक आया है।" अभी कुछ दिनों पूर्व 'बिल्ली के तीन बच्चे' कहानी की बिग बुक दिखाते हुए जब मैंने मेढक पर अंगुली रखकर बच्चों से पूछा कि यह क्या है? तो बच्चे जोर से बोले— "मेढक" ये मेरे लिए एक नई बात थी कि बच्चे जिस को अब तक डेडका बोलते थे, उसे अब वे मेढक बोलने लगे। इसी तरह एक दिन कक्षा में चिड़िया आई तो बच्चे बोले, "सर, सकली आवीगी।" मैंने बच्चों से कहा, "सकली को चिड़िया कहते हैं।" दूसरे दिन कक्षा में फिर चिड़िया आई तो बच्चे बोले, "सर, चिड़िया आवीगी।" इस तरह, कभी चित्र दिखा कर तो कभी वास्तविक चीजें दिखा कर उन वस्तुओं के नाम बागड़ी से हिन्दी में बताने का क्रम चलता रहा। यह ध्यान रखा कि एक सप्ताह में दो या तीन चीज़ों के ही नाम बागड़ी से हिन्दी में बताए जाएँ। इस तरह, बच्चे कुछ शब्द हिन्दी में बोलते और कुछ शब्द व वाक्य बागड़ी में।

इसके अलावा बच्चों में एक दूसरा परिवर्तन देखा, जो मेरे लिये विस्मयकारी था। मैं बच्चों के साथ काफी बातें हिन्दी में करता; बच्चों ने क्रिया शब्दों को पकड़ना प्रारम्भ किया और अपनी आम बोलचाल में उसका प्रयोग भी शुरू किया। मैं कक्षा में रोज़ाना बच्चों से पूछता, "आज कौन-कौन नहा कर आया है?" बच्चे बोलते, "सर, मू जीली न आवियु हूँ।" धीरे-धीरे बच्चे बोलने लगे, "सर, मैं नहा कर आया हूँ।" इसी तरह, मैं मध्याह्न भोजन के समय बच्चों से कहता, "चलो खाना खा लो।" धीरे-धीरे होता यह गया कि बच्चे 'रोटा खावु है' को 'रोटी खानी है' बोलने लगे। बच्चों का क्रिया शब्दों को हिन्दी में बोलना एक सुखद आश्चर्य था। यहाँ समझने वाली बात यह थी कि इसके लिये कोई सायास प्रयास (जैसा मेढक या चिड़िया के लिये किया गया था) नहीं किया गया, जबकि बच्चे मेरे द्वारा बोले जा रहे हिन्दी के वाक्यों की संरचना के पैटर्न को पकड़ते हुए क्रिया शब्दों में हेरफेर कर हिन्दी की वाक्य संरचना करना सीख रहे थे।

इस तरह, बच्चों से लगातार बागड़ी मिश्रित हिन्दी में बात करने का परिणाम यह निकला कि आज तीन महीने बाद अधिकांश बच्चे हिन्दी समझते हैं और बोलते भी हैं।

बच्चों को हिन्दी तक ले जाने के इस प्रयास और अनौपचारिक बातचीत का एक और आश्चर्यजनक परिणाम दिखा—एक दिन मैं पहली और दूसरी कक्षा के बच्चों के साथ बात कर रहा था। उन्हें एक कविता सुनाने के बाद मैंने उनके नाम पूछे। उस वक्त मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब पहली कक्षा के एक नए बच्चे, महावीर, ने मेरे पास आकर दूसरे बच्चे की शिकायत करते हुए मेरा नाम लेकर कहा, "विजय लाल जी, आ नी मानतोए।" कई दिन तक अन्य बच्चे भी मेरा नाम लेकर मुझसे बात करते रहे और मैंने भी प्रयास नहीं किया कि बच्चे मुझे 'सर' या 'मास्टरजी' बोलें। बच्चों का यह व्यवहार मुझे थोड़ा अटपटा लगा। लेकिन मैंने महसूस किया कि जो बच्चे बेझिझक कक्षा में मेरा नाम ले रहे थे उनके साथ भाषा पर कार्य करना ज्यादा आसान लग रहा था जबकि जो बच्चे अभी भी संकोच कर रहे थे उनकी कठिनाइयों को मैं नहीं समझ पा रहा था। यहाँ मेरे मन में एक प्रश्न उठा कि बच्चों को अपने शिक्षक को 'सर जी' या 'माट सा' कह कर क्यों सम्बोधित करना चाहिए? क्या यह सम्बोधन बच्चों और शिक्षक के बीच अन्तर पैदा करने का पहला आधार न होता होगा? खैर, धीरे-धीरे अब सारे बच्चे मुझे 'सर' कह कर सम्बोधित करते हैं। लेकिन नाम लेकर सम्बोधित करने से 'सर' तक के सफर ने उन्हें मेरे प्रति विश्वास से भर दिया है। कक्षा में सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पर इसके सकारात्मक असर दिख रहे हैं।

अपना नाम बताना

अपने अध्ययन और प्रशिक्षणों के दौरान मैंने लोगोग्राफिक पठन के बारे में पढ़ा, यानी शब्द की आकृति को चित्र की तरह पढ़ना। उस

समय मैं इस प्रक्रिया को ठीक से समझ नहीं पाया था। मैंने कक्षा में इस पर काम करने की योजना बनाई। कक्षा एक में बच्चों से कहा कि एक खेल खेलेंगे, सब बच्चे एक-एक कर अपना नाम बताएँगे और मैं उन्हें लिखूँगा। बच्चे एक-एक कर अपना नाम बताते गए; मैं उन्हें श्यामपट्ट पर बोल-बोल कर लिखता गया और एक बार नाम लिख कर उसके एक-एक वर्ण को बुलवाता गया। जैसे मनीष ने खड़े होकर अपना नाम बताया तो मैंने नाम लिखकर बुलवाया, "म-नी-ष"। इसके बाद उस बच्चे के नाम की ताली बजती। जब सारे बच्चों ने अपने नाम बता दिए तो मैंने प्रत्येक बच्चे से पूछा कि उसका नाम कहाँ लिखा है मुझे बहुत आश्चर्य हुआ जब उपस्थित 21 बच्चों में से 17 बच्चों ने श्यामपट्ट पर बता दिया कि उनका नाम कहाँ लिखा है। इसके बाद इन नामों को शीट पर लिखकर कक्षा-कक्ष में चिपका दिया गया। हम धीरे-धीरे इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाते गए। आज बच्चे बता देते हैं कि उनके और उनके दोस्तों के नाम शीट में कहाँ लिखे हुए हैं। इस प्रक्रिया का एक और परिणाम दिखा, बच्चे कार्डशीट पर लिखे नामों की नकल कर अपनी कॉपियों पर उतारने भी लगे हैं। हालाँकि अभी बच्चे पूरी तरह से अपने नामों में प्रयुक्त हो रहे वर्णों और ध्वनियों को पहचान तो नहीं पा रहे हैं, लेकिन किसी चित्र की भाँति नाम लिख कर खुश ज़रूर हो रहे हैं।

बच्चों ने बताए खेतों में लगने वाली 43 चीज़ों के नाम

बच्चों के साथ उनके परिवेश के बारे अनौपचारिक बातचीत अब मेरी शिक्षण पद्धति का एक अभिन्न हिस्सा बन गया है। पहली और दूसरी कक्षा में शिक्षण की शुरुआत ऐसी ही किसी चर्चा से होती है। इस चर्चा में बच्चे अधिकांशतः अपने दैनिक जीवन और आस पास की घटनाओं के बारे में बातचीत करते हैं। यह चर्चा उनको विषय के साथ जोड़ने में मदद तो करती ही है, साथ ही साथ बागड़ी भाषा के तमाम शब्दों को सीखने में हमें भी मदद मिलती है और यहीं से हिन्दी तक ले जाने की प्रक्रिया की शुरुआत भी होती है। ऐसे ही एक दिन कक्षा 1 व 2 की सामूहिक कक्षा में बच्चों से बातचीत के दौरान एक बच्चे ने बताया कि कल उसके यहाँ 'वाडी' थी, यानी मक्के की फसल पकने के बाद उसे देवताओं को अर्पण करने वाली पूजा। वाडी की बात चल रही थी तो मैंने बच्चों से पूछा कि खेतों में और कौन-कौन सी चीजें होती हैं। बच्चे बताते गए और मैं उन सारी चीज़ों के नाम श्यामपट्ट पर लिखता गया। बच्चों ने 43 तरह की चीज़ों के नाम बताए; इन में नारियल और नीलगर जैसे पेड़ों के नाम भी थे जो इस क्षेत्र में नहीं उगते हैं। जब मैंने बच्चों से यह जानने का प्रयास किया कि नारियल और नीलगर के पेड़ कैसे होते हैं और उन्होंने इन्हें कहाँ देखा है, तो एक बच्चे ने कक्षा में लटकाई हुई कहानियों की किताबों में से एक किताब निकालकर मुझे थमा दी। खैर, जब मैंने बच्चों द्वारा बताई हुई चीज़ों की सूची पर नज़र डाली तो पता चला कि बहुत सारी चीज़ें ऐसी हैं जिनका नाम बच्चों ने अपनी स्थानीय भाषा (बागड़ी) में बताया है। कई चीज़ों के नाम हिन्दी में भी थे। बातचीत के दौरान ही बच्चों को उन वस्तुओं के हिन्दी और अंग्रेजी नामों से भी परिचित कराया गया तथा बच्चों की मदद से ही इसका एक चार्ट बनाकर कक्षा-कक्ष में लगा दिया गया। मुझे अब बार-बार महसूस होने लगा है कि कक्षा-कक्ष में चुप्पी की संस्कृति को छोड़ कर बच्चों से बात करना आवश्यक है। बात करने से एक तो बच्चे अपने अनुभवों से नए ज्ञान को जोड़ कर सीखते हैं, दूसरे वे घर की भाषा से मानक भाषा की ओर अग्रसर होते हैं। हम अक्सर यह मानते हैं कि बच्चे ज़्यादा कुछ नहीं जानते हैं। बच्चों से यदि बातें की जाए और उनकी बातों को तवज्जो दी जाए तो वे बहुत सारी जानकारियाँ साझा करते हैं।

अर्थ निर्माण

पाठों में आए नये/कठिन शब्दों के अर्थ बताने के बाद यह मान लिया जाता है कि बच्चों को

इन नए शब्दों की जानकारी हो चुकी है। परन्तु शब्दों को सन्दर्भ के साथ व बच्चों के रोज़मर्रा के जीवन के साथ जोड़ कर अर्थ बताने के बारे में कहा गया तो अनुभव अलग प्रकार के रहे। बच्चों के साथ कक्षा 3 में 'मीठे बोल' कहानी पर चर्चा हो रही थी, तो दयालु शब्द पर बात करते हुए दया की बात आई और मैंने बच्चों से पूछा कि दया क्या होती है? एक बच्चे ने जो उत्तर दिया वह मेरे लिए आँखें खोल देने वाला था। बच्चे ने कहा, "सर, दया होती है जैसे कि उस दिन आपने हमारे ऊपर दया करके हमको जूते बाँटे थे।" दरअसल, कुछ दिन पूर्व ही एक संस्था द्वारा स्कूल में जूते बाँटे गए थे। उस बच्चे द्वारा दिया गया यह जवाब मेरी आँखें गीली करने वाला था। उसकी बात का मेरे पास कोई ज़वाब नहीं था। मैंने तुरन्त बात बदली और सोचा कि आखिर यह क्यों हुआ, और बच्चे ने इस तरह का ज़वाब क्यों दिया होगा? सरकारी संस्थाओं या अन्य स्रोतों द्वारा गाँव में कभी-कभी कुछ सामान का वितरण किया जाता है। सामान वितरण करने वाली संस्थाएँ या लोग इस तरह का वातावरण बनाते हैं जैसे सामान बाँट कर वे गाँव वालों पर बड़ा उपकार कर रहे हैं। मुझे लगा कि बच्चे ने भी जूते वितरण करने वाली घटना को अपने परिवेश के इन्हीं सन्दर्भों के साथ जोड़ा होगा।

दरअसल, बच्चे जब भी किसी शब्द का अर्थ बनाने की प्रक्रिया में होते हैं तो अपने सन्दर्भों और आसपास की घटनाओं, अनुभवों से तथ्य एकत्र कर रहे होते हैं। इसको इस उदाहरण से भी समझा जा सकता है– एक दिन कक्षा 1 में जैसे ही मैं घुसा, बच्चे बोले, "सर, काले गाम में मोदी जी आए थे।" मुझे आश्चर्य हुआ कि गाँव में मोदी जी कहाँ से आ गए? तभी कक्षा 3 के एक बच्चे ने बताया कि कल गाँव में राजस्थान सरकार के एक मंत्री, जो इसी जिले के रहने वाले थे, सौर ऊर्जा की लिफ्ट का उद्घाटन करने आए थे। मुझे लगा बच्चों से इस पर बात करनी चाहिए। मैंने बच्चों से पूछा कि और क्या हुआ? बच्चों ने बहुत सारी बातें बताईं। सात गाड़ियाँ आईं थीं, पुलिस वाले आए थे, माला पहनाई थी। तभी एक बच्चा बोला, "सर, एक करोड़ लोग आए थे।" बच्चे के जवाब को यदि ध्यान से देखें तो पाएँगे कि एक करोड़ किसी मात्रा का बोध नहीं कराता है, बल्कि बच्चे के लिए बहुत अधिक संख्या का बोध कराता है। बच्चों द्वारा किसी भी शब्द के अर्थ ग्रहण करने की प्रक्रिया में यह जरूरी नहीं है कि वे शिक्षक द्वारा बताए गए/शिक्षक द्वारा समझे गए अर्थ को ही ग्रहण करे। बच्चे अपने आसपास की घटनाओं के बारे में अपनी एक राय कायम करते हैं; इन सब घटनाओं के बारे में बात न करने पर उनकी वही राय मज़बूत होती जाती है और यह अर्थ ग्रहण करने की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

भाषा शिक्षण के दौरान अपनाई गई इन गतिविधियों ने बच्चों और मेरे स्वयं के लिए सीखने-सिखाने को अत्यन्त ही रोचक बना दिया है। मैं बच्चों को काफी हद तक बागड़ी से हिन्दी तक लाने में सफल हुआ हूँ, प्रयास अभी भी जारी हैं।

विजय प्रकाश जैन विगत एक दशक से हिन्दी भाषा शिक्षण के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में राजस्थान के बाँसवाड़ा जिले में मेंदिया डिण्डोर के राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय में प्रबोधक हैं। सम्पर्कः vijaypjain1970@gmail.com

आखिर संवाद शुरू कैसे हो ?

पर्यावरण की कक्षा के कुछ अनुभव

महमूद खान

महमूद खान का यह लेख कक्षा में संवाद की महत्ता के बारे में है। अपनी पर्यावरण की कक्षा का अनुभव साझा करते हुए वे बताते हैं कि कक्षा में संवाद बच्चों को सीखने में किस तरह मददगार होता है। लेख सुकरात को उद्धृत करते हुए संक्षेप में यह बताता है कि संवाद क्या है, इसकी प्रक्रिया कैसी हो, प्रश्न कैसे हों, किन पर विमर्श हो, किन पर नहीं, शिक्षक की क्या तैयारी हो, शिक्षक की क्या भूमिका हो और बच्चों की इसमें क्या जगह हो। सं.

मैं पिछले छह-सात वर्षों से राजस्थान के सरकारी (प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक) विद्यालयों में शिक्षकों एवं बच्चों के साथ पर्यावरण अध्ययन विषय पर काम करता रहा हूँ। इन विद्यालयों में पढ़ने वाले अधिकतर बच्चे गरीब एवं भवन निर्माण के काम से जुड़े मज़दूरों के हैं।

शिक्षकों एवं बच्चों के बीच आमतौर पर कक्षा-कक्ष में संवाद बहुत कम होता है। एनसीएफ 2005 कहता है कि सीखने के लिए बच्चे का समुदाय और स्थानीय वातावरण प्राथमिक सन्दर्भ होता है, जिस में ज्ञान अपना महत्व और उपयोगिता पाता है। परिवेश के साथ ही अन्तःक्रिया करके बच्चा ज्ञान का निर्माण करता है और जीवन में उस की सार्थकता पाता है। लेकिन स्कूल में पहले से स्थापित ज्ञान को ही तरज़ीह दी जाती है जिस से बच्चे की ज्ञान सृजन करने और इस प्रक्रिया के नए तरीके खोजने की क्षमता नष्ट हो जाती है। सूचना, ज्ञान सृजन से ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाती है। सूचना को यांत्रिक रूप से दोहराने और प्रश्नों के उत्तर याद करने पर ज़ोर दिया जाता है न कि समझ को विकसित करने या समस्या सुलझाने पर।

ऐसे में बच्चे जिन अवधारणाओं के साथ स्कूल आते हैं उन से शिक्षक अपरिचित रह जाते हैं। एनसीएफ 2005 के अनुसार बच्चे अपने परिवेश की बहुत सी जानकारियों के साथ स्कूल आते हैं। यदि उन्हें यह भरोसा हो जाए कि शिक्षक उन की बात सुनना चाहता है और गलत होने पर डाँट नहीं पड़ेगी तो फिर वे खुलकर संवाद करते हैं। यह सम्भव है कि उन के पास जो जानकारी होती है वह आधी-अधूरी या गलत हो। ऐसे में एक शिक्षक की भूमिका होनी चाहिए कि वह कक्षा में बच्चों के बीच परस्पर एवं शिक्षक व बच्चों के बीच संवाद की संस्कृति बनाए। तभी वह बच्चों को प्रश्न करने, अपने मत देने, दूसरों की बात सुनने और फिर से सोचकर नया मत बनाने की दिशा में बढ़ा पाएँगे। यदि यह संवाद की संस्कृति कक्षा में बन पाती है तो बच्चों के सीखने की प्रक्रिया तेज और सही दिशा में होगी।

लेकिन यदि संवाद की यह संस्कृति किसी स्कूल में नहीं है तो वहाँ बच्चों के मन में बहुत से द्वंद्व पैदा होते हैं, मसलन वह किस बात को सही माने जिसे वह अपने परिवार, दोस्तों और आसपास से सीखते हैं या फिर शिक्षक द्वारा बताई गई बात को, जो उन के अनुभव और समाज से मिले ज्ञान से मेल नहीं खा रही है। इस लेख में मैं संवाद की संस्कृति पर कुछ विचार और अनुभव प्रस्तुत कर रहा हूँ। मोटे तौर पर मैं दो प्रश्नों पर बात करूँगा :

1. एक शिक्षक होने के नाते सरकारी स्कूलों में संवाद की संस्कृति का निर्माण कैसे

किया जाए?

2. संवाद करते हुए किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

कक्षा-कक्ष में संवाद की संस्कृति की शुरुआत : एक उदाहरण

पिछले साल से जयपुर के शहरी ब्लॉक सांगानेर में स्थित सरकारी स्कूलों में जाना हुआ। इस दौरान कक्षा-कक्ष में जाकर बच्चों के साथ बातचीत करने और कुछ पाठों को पढ़ाने का अवसर भी मिला। इन्हीं अनुभवों में से एक अनुभव आप से साझा करना चाहता हूँ।

मुझे कक्षा 5 के बच्चों के साथ पर्यावरण अध्ययन के एक पाठ 'पानी के स्रोत कहाँ-कहाँ' पर चर्चा करनी थी।

कक्षा में जाकर बच्चों को मैंने अपना नाम बताया और उन से कहा कि आज मैं आप लोगों को 'पर्यावरण अध्ययन' विषय पढ़ाना चाहता हूँ, आप तैयार हैं? सभी बच्चे एक साथ बोले, ''यस सर।'' फिर मैंने चॉक व डस्टर माँगा। एक बच्चा दौड़कर ले आया। चर्चा की शुरुआत के लिए मैंने बोर्ड पर लिखा-'पानी'। सब बच्चों ने जोर से उच्चारण किया, 'पानी।' मैंने कहा, 'पानी को और क्या कहते हैं?' बच्चों के जवाब थे, 'जल व वॉटर।' मैंने उन्हें भी बोर्ड पर लिख दिया।

मैंने फिर से बच्चों से सवाल किया, ''हमें पानी कहाँ-कहाँ पर दिखाई देता है? एक-एक कर बताओ। मैं उस की सूची बोर्ड पर बनाता हूँ।'' बच्चों के बताए अनुसार मैंने सूची बनाई। सूची में शामिल चीज़ें थीं– कुआँ, समुद्र, नदी, तालाब, बीसलपुर, गंगा, हैण्डपम्प, हौद, गड्ढ़ा, टंकी, नल, बोर, कुण्ड, झरना, खेत में, वर्षा के दौरान सड़क पर आदि। मुझे इस सूची से पानी के वास्तविक स्रोतों तक बच्चों को लेकर जाना था। इसलिए मैंने सूची में आई चीज़ों पर एक-एक कर चर्चा करनी शुरू की।

संवाद का महत्त्व

कक्षा में संवाद करने का उद्देश्य होता है कि प्रत्येक बच्चा अपनी बात या विचार के पीछे के आधार को पहचान सके, उस आधार को दूसरे के नज़रिए से भी देखकर जाँच सके कि वह ठीक है या नहीं, दूसरे के विचार को तर्क के आधार पर खारिज़ कर सके, ताकि उस के साथी अपोरिया (Aporia तर्क में विसंगति पहचानने) की स्थिति में आकर अपने मत या विचार को नए सिरे से बनाने की तरफ बढ़ सकें। मैंने भी इस कक्षा में पर्यावरण विषय की जल थीम पर काम करते हुए बच्चों को ऐलन्कस (Elenchus, सुकरात की संवाद विधि) के माध्यम से अपोरिया की स्थिति में लाने का प्रयास किया।

मैंने बच्चों से पूछा, ''कुआँ किस-किस ने देखा है?''

बहुत से बच्चों ने कहा, ''हमने देखा है।'' मैंने फिर पूछा, ''कुआँ कैसा दिखाई देता है?'' अधिकतर बच्चों ने कहा कि कुआँ गोल और गहरा होता है। लेकिन एक लड़की बोली, ''नहीं, सर जी, कुआँ तो चौकोर होता है।''

तभी दूसरे बच्चों ने पूछा, ''चौकोर कुआँ तूने कहाँ देखा?''

लड़की बोली, ''हमारे गाँव में जहाँ से मम्मी पानी भरकर लाती हैं।''

अब बच्चे सोचने लगे। अधिकतर बोले, ''हमारे गाँव में तो ऐसा कुआँ नहीं है।''

एक लड़के ने कहा, ''तूने कुएँ में झाँककर देखा था कि वह गोल है या चौकोर?''

लड़की ने कहा, ''नहीं।''

''तो फिर तुम कैसे कह रही हो कि कुआँ चौकोर था?''

लड़की ने कहा, ''वह अपनी माँ के साथ कुएँ पर गई थी। कुएँ के मुँह पर चार पत्थर की पट्टियाँ लगी थीं और महिलाएँ चारों ओर से पानी भर रही थीं।''

वह लड़का फिर बोला कि पानी भरने की सुविधा के लिए चारों तरफ पत्थर की पट्टी लगाई जाती है लेकिन कुआँ गोल ही होता है।

बच्चों के आपसी तर्क-वितर्क को सुनकर मैंने कहा कि अधिकतर कुएँ गोल ही होते हैं। लेकिन कुछ पहाड़ी इलाकों में जहाँ चट्टान काटकर कुएँ बनाए जाते हैं वहाँ ज़रूरी नहीं होता कि कुएँ एकदम गोल ही हों। इस के बाद समुद्र पर बात की गई। बच्चों को समुद्र के आकार का कोई अन्दाज़ा नहीं था। कुछ बच्चे स्कूल के मैदान से दोगुना तो कुछ प्रताप नगर कालोनी जितना बड़ा मान रहे थे। मुझे यह परेशानी महसूस हो रही थी कि जिन बच्चों के अनुभव में समुद्र नहीं है, उन्हें उस के बारे में कैसे बताऊँ?

नदी के बारे में अधिकतर बच्चों का कहना था कि नदी आड़ी-टेढ़ी होती है और बहुत लम्बी भी होती है। थोड़ी और चर्चा से मुझे समझ आया कि वे नदी और नहर की अवधारणा में फर्क नहीं कर पा रहे थे। इस के बाद मैंने विचार बदला और तय किया कि सूची में आए शब्दों पर क्रमवार चर्चा की बजाए पहले उन के अनुभव वाले शब्दों की अवधारणाओं पर चर्चा की जाए।

परिचित सन्दर्भ और अनुभव का महत्त्व

जयपुर के पास टोंक जिले में बीसलपुर बाँध बना है। यहीं से जयपुर शहर के बड़े हिस्से के लिए पीने का पानी आता है। बच्चों के साथ चर्चा से पता चला कि अधिकतर को यह तो पता था कि बीसलपुर से पानी आता है, लेकिन बीसलपुर है क्या, यानी नदी, समुद्र, बाँध या बावड़ी यह किसी को पता नहीं था। उस के आकार के बारे में भी किसी तरह का अनुमान बच्चों के पास नहीं था। यहाँ बच्चों को बोर्ड पर एक चित्र बनाकर यह समझाने का प्रयास किया गया कि आमतौर पर नदी, तालाब, और बाँध किस तरह के दिखाई देते हैं। बाद में उन की पाठ्यपुस्तक के चित्रों की भी सहायता ली गई।

ये बच्चे अधिकतर भवन निर्माण में लगे प्रवासी मज़दूर परिवारों से थे। इन के माता-पिता आसपास बन रही ऊँची-ऊँची इमारतों में मज़दूर के रूप में काम करते हैं। बच्चों को कुण्ड, बोरवेल, हैण्डपम्प और हौद की जानकारी बहुत अच्छी तरह से थी। सब से पहले मैंने बच्चों से पूछा ''हौद क्या होती है?'' बच्चे हँसने लगे। मैंने फिर से पूछा 'हौद क्या होती है बताओ।' बच्चे बोले ''जब मकान का काम शुरू करते हैं तो सब से पहले पानी की ज़रूरत के लिए एक तीन बाय चार या पाँच का गड्ढा खोदकर उस में प्लास्टिक की सीट बिछाकर पानी भर दिया जाता है इसे ही हौद कहते हैं।'' स्कूल के हैण्डपम्प की ओर इशारा करते हुए बोले, ''सर इसे तो आप जानते ही होंगे यह हैण्डपम्प है। जो हैण्डपम्प गहरा होता है उस को देर तक चलाना पड़ता है तब पानी आता है, जबकि कम गहराई वाले से पानी जल्दी बाहर आने लगता है।'' मेरे लिए यह कम आश्चर्यजनक नहीं था कि बच्चों को यह अनुभव था कि गहरे हैण्डपम्प से पानी देर में बाहर आता है जबकि कम गहरे हैण्डपम्प से जल्दी पानी बाहर आता है। ये पूछने पर कि ऐसा क्यों होता है, कहा गया कि रास्ता कम और ज़्यादा तय करना पड़ता है इसलिए।

मैंने पूछा, ''कुण्ड क्या होता है?'' बच्चे बोले, ''सर मकान में नल के पानी को स्टोर करने के लिए एक चौकोर पक्का कुण्डा जमीन के अन्दर बनाया जाता है, बाद में उस में मोटर लगाकर पानी ऊपर की मंजिलों पर चढ़ाया जाता है।''

उन की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से जुड़े उन के परिचित सन्दर्भ पर बात करते हुए मैंने पूछा ''उन के परिवार को पीने का पानी कहाँ-कहाँ से मिलता है?'' जवाब मिला, कुआँ, नल, ट्यूबवेल, नदी, टंकी एवं हैण्डपम्प आदि।

मैंने अगला सवाल पूछा ''इन सब में पानी कहाँ से आता होगा?'' बच्चों ने कहा ''वर्षा से आता है।'' मैंने कहा, ''वर्षा कहाँ से आती है?'' जवाब मिला, ''ऊपर से।''

''ऊपर कहाँ से?''

''आसमान से।''

''आसमान से कैसे आती है वर्षा?''

एक बच्चे से जवाब मिला, ''सर वर्षा बादलों

से होती है।'' दो बच्चों ने कहा, ''नहीं सर वर्षा तो भगवान जी कराते हैं।'' एक बच्चे ने कहा कि शंकर भगवान की चोटी से वर्षा होती है। थोड़ी चर्चा आगे बढ़ी तो जो बच्चा कह रहा था कि वर्षा बादलों से आती है वह भी कहने लगा कि भगवान ही वर्षा करते हैं।

बच्चे बहुत आत्मविश्वास के साथ बात कर रहे थे, इसलिए मैंने कहा, ''मान लेते हैं कि वर्षा भगवान ही करते हैं। पर भगवान रहते कहाँ हैं?''

जवाब मिले पहाड़ की चोटी पर, हिमालय पर्वत पर, आसमान में, दूसरी दुनिया में आदि। लेकिन बहुमत इस बात के साथ था कि भगवान हिमालय पर्वत पर रहते हैं।

मैंने पूछा, ''तो फिर उन देशों में वर्षा कैसे करते होंगे जहाँ वे रहते ही नहीं?''

इस प्रश्न के बाद बच्चे कहने लगे कि भगवान तो हर जगह ही होता होगा।

कक्षा के एक बच्चे ने पहले कहा था कि भगवान हर जगह होता है लेकिन उस की आवाज दब गई थी, वह बच्चा एकदम उछलकर बोला, ''मैं तो पहले ही कह रहा था कि भगवान हर जगह होता है।'' यहाँ पर मैं दुविधा में फँस गया कि कक्षा 5 के बच्चों के साथ भगवान के होने या न होने पर बात की जाए या नहीं?

अब सवाल यह था कि कैसे यह बात पुष्ट की जाए कि वर्षा बादलों के माध्यम से होती है? इस चर्चा में यह बात भी हो गई कि हम सब को भी भगवान ने बनाया है और हर जीव को भी भगवान ने बनाया है।

मैंने कहा, ''भगवान देखा है किसी ने?'' एक बच्चे का जवाब आया, ''भगवान ऐसे नहीं दिखाई देता, उस से मिलने के लिए मरना पड़ता है। जो मरकर ऊपर चले जाते हैं वही उन से मिल पाते हैं। हमारे गाँव में जब भी कोई व्यक्ति मर जाता है तो लोग कहते हैं कि वह भगवान को प्यारा हो गया, यानी वह भगवान के पास चला गया।'' मैंने कहा कि फिर भगवान हर जगह कैसे रहते हैं, यदि उन के पास जाना पड़ता है? बच्चे फिर से सोच में पड़ गए। मैंने कहा, ''चलो हम भगवान की चर्चा यहाँ बन्द करते हैं।'' दरअसल मुझे अपने मुद्दे पर लौट आने के लिए यह सब करना पड़ा।

बात आगे बढ़ाते हुए मैंने कहा कि अब हम वापस यह चर्चा करते हैं कि यदि वर्षा बादलों से होती है तो ये बादल आते कहाँ से हैं या ये बनते कैसे हैं? एक बच्चे ने कहा, ''सर मुझे पता है कि बादल कैसे बनते हैं। जब घनी तेज आग लगती है तो उस का धुआँ आसमान में जाकर बादल बनाता है।'' इस में एक और बच्चे ने जोड़ा, ''हवाई जहाज के धुएँ से भी बादल बनते हैं। मैंने कई बार आसमान में हवाई जहाज को उड़ते हुए देखा है और उस के पीछे लम्बी बादल की लाइन भी बनती देखी है।'' एक लड़की ने पूछा कि यदि धुएँ से बादल बनते हैं तो उस में पानी कहाँ से आता है? अब कक्षा में एकदम सन्नाटा था। सब मेरी ओर देखने लगे। मैंने कहा, ''मुझे तो पता नहीं है चलो पुस्तक खोलते हैं और पानी वाले पाठ को देखते हैं कि उस में इस का जवाब है या नहीं।'' सभी बच्चों ने तुरंत अपनी-अपनी पुस्तक में पानी वाला पाठ खोलकर पढ़ना शुरू किया। पाठ अभी पूरा नहीं पढ़ा गया था कि स्कूल की घण्टी लग गई। मैंने कहा कि मैं दुबारा आप के स्कूल में आऊँगा तब तक आप बादल के बनने और वर्षा के होने के कारण पता लगाने का प्रयास करना।

अगली बार जब मैं उस कक्षा में गया, मैंने पूछा कि पिछली बार हम ने कहाँ तक काम किया था? बच्चों ने पाठ को याद करते हुए कहा कि बादल कैसे बनते हैं और वर्षा कैसे होती है, इस पर काम छूट गया था।

मैंने कहा, ''आज हम इस पर काम करेंगे लेकिन पहले हम यह भी जानेंगे कि नहर व नदी में क्या अन्तर होता है। उस दिन आप ये अन्तर भी नहीं बता पाए थे।''

गणेश नाम के बच्चे ने कहा कि नहर छोटी होती है और नदी बड़ी होती है।

आसिफ ने कहा कि कुछ नहरें नदियों से

बड़ी भी होती हैं।

मैंने कहा कि हाँ कुछ नदियाँ कुछ नहरों से लम्बाई में छोटी/बड़ी होती हैं।

एक दूसरे लड़के ने कहा कि नहर की बनावट एक जैसी होती है, जबकि नदी ऊबड़-खाबड़ होती है। मैंने पूछा कि नदी और नहरों में पानी कहाँ से आता है? दरअसल मैं यहाँ पर अपेक्षा कर रहा था कि बच्चे कहेंगे कि नदी में बरसात से और नहरों में बाँध से, लेकिन मेरी अपेक्षा गलत साबित हुई। बच्चों ने कहा कि वर्षा से। मैंने फिर पूछा, ''पक्की बात है?'' बच्चे सोचने लगे। लेकिन वे किसी नतीज़े पर नहीं पहुँचे।

अगला सवाल किया गया कि नदी ऊबड़-खाबड़ और नहर एक जैसी क्यों होती है? कक्षा की एक लड़की बोली कि नहर पक्की होती है और नदी कच्ची। इसलिए नदी ऊबड़-खाबड़ होती है। गणेश बोला, ''हमारे गाँव में तो नहर कच्ची है।'' आसिफ ने कहा, ''सर आप ही बता दीजिए कि नहर कच्ची होती है या पक्की।'' कुछ बच्चे इस चर्चा से बिलकुल बाहर नज़र आए। दरअसल उन्होंने न तो नदी देखी थी और न ही नहर।

मुझे लगा कि यहाँ मेरी भूमिका बनती है कि नहर व नदी के फर्क को समझा दिया जाए। मैंने बताया कि नदी प्राकृतिक होती है। भूमि के ढाल की वजह से वर्षा का पानी पहाड़ों से जब तेज गति से बहता है तो वह भूमि में कटाव करता हुआ आगे बढ़ता है, इसलिए ही नदी ऊबड़-खाबड़ होती है, जबकि नहरों का निर्माण मनुष्यों द्वारा अपनी ज़रूरत को ध्यान में रखकर किया जाता है। यह सही बात है कि कुछ नहर पक्की बनाई जाती हैं और कुछ कच्ची ही होती हैं। एक और बात जिस की तरफ बच्चों का ध्यान दिलाया गया कि नहर बाँध से निकाली जाती हैं और बाँध नदी पर बनाया जाता है। यानी नहर और नदियों का उद्गम स्थल अलग-अलग होता है। यहाँ पर उन की पाठ्यपुस्तक में दिए गए बीसलपुर बाँध एवं उस से निकलती नहरों के चित्र की भी मदद ली गई।

इस के बाद मैंने कहा, 'अब हम बादल और वर्षा की बात करेंगे बताओ बादल कैसे बनते हैं?' आसिफ ने कहा तेज अंधड़ से जब धूल उड़कर आसमान में चली जाती है तो बादल बनते हैं। एक दूसरे लड़के ने कहा कि धूल के कणों के साथ जब सूरज की तेज गर्मी से पानी भाप बनकर आसमान में चला जाता है तो दोनों मिलकर बादल बनाते हैं। पिंकी ने कहा कि धूल, मिट्टी, धुआँ आदि के कण जब भाप में मिल जाते हैं तो बादल बनते हैं। जब बादलों में अधिक पानी हो जाता है और उन का वज़न बढ़ जाता है तो वह वर्षा में बदल जाता है। इतनी चर्चा के बाद मुझे लगा कि अब फिल्म (सीक्रेट्स ऑफ द अर्थ : हिन्दी डॉक्यूमेंटरी) को दिखाया जाना उचित होगा क्योंकि इस फिल्म में विस्तार से बादल बनने और वर्षा होने को समझाया गया है। फिल्म देखते हुए जहाँ ज़रूरत महसूस हुई मैं बीच-बीच में समझाता रहा। बच्चों ने फिल्म को रुचि लेकर देखा।

संवाद का अर्थ, संवाद के तरीके और इसे करने की शर्तें

संवाद कोई रोज़मर्रा की गपशप नहीं है और न ही वह निरुद्देश बातचीत है। संवाद तो दो या दो से अधिक लोगों के बीच एक सार्थक और उद्देश्यपूर्ण बातचीत है। ऐसा भी नहीं है कि घण्टे दो घण्टे की बातचीत हुई और संवाद को पूरा मान लिया जाए बल्कि यह तो निरन्तर चलने वाली चिन्तन-मनन की एक प्रक्रिया है।

इस का उद्देश्य वाद-विवाद में किसी को हराना भी नहीं है। मेरा मत, उस का मत सही है या गलत यह ठहराना भी नहीं है। बल्कि इस पूरे चिन्तन-मनन का उद्देश्य तो कुछ ऐसे ज्ञान का सृजन करना है, कुछ ऐसे सत्य को प्राप्त कर लेना है जो सभी के लिए उपयोगी हो। जिस से जीवन में निर्णय लेने में मदद मिलती हो। जीवन के किसी एक या अनेक पहलुओं को जानने एवं समझने में मदद मिलती हो।

संवाद करने के बहुत से तौर-तरीके हो सकते हैं और इस के अन्तर्गत अनेक समस्याओं

के हल ढूँढ़ने की कोशिश हो सकती है। मैंने इस लेख में कोशिश की है कि कुछ मूलभूत और मूर्त स्तर पर चीज़ों को साझा करूँ, समझूँ। मेरा मानना है कि सुकरात के समय से आज तक पिछले दो-ढाई हजार सालों में संवाद के मूलभूत ढाँचे में कोई खास फर्क नहीं आया है-तार्किक प्रश्न उठाना, उस के कुछ पुख्ता उत्तर देना, पुनः अपने उत्तर में कुछ तार्किक खामी ढूँढ़ना और फिर दुबारा परिष्कृत रूप प्रस्तुत करना। ये यूँ ही लगातार चलते रहने वाली प्रक्रिया है। सुकरात जितने महत्वपूर्ण आज से ढाई हजार साल पहले थे संवाद के सन्दर्भ में मुझे लगता है कि वो आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं। सुकरात का मानना यह था कि शिक्षक की ज़िम्मेदारी केवल कुछ विषय सिखा या रटा देना भर नहीं है। बल्कि यह सिखाना भी है कि उन विषयों में सोचते कैसे हैं, सिद्धान्त कैसे गढ़ते हैं, नया ज्ञान कैसे बनाते हैं? उदाहरण के लिए विज्ञान, समाज विज्ञान, गणित आदि में नए ज्ञान का सृजन कैसे होता है?

उन का मानना था कि दरअसल यह सब सीखने के लिए एक आधारभूत प्रक्रिया है, वो है संवाद करना। छात्रों से तर्क-वितर्क करना, उन से उन की राय, विचार और परिभाषाएँ पूछना, फिर उन में तार्किक गलतियाँ/खामियाँ दिखाना, उन को परिष्कृत करवाना ये संवाद की मूलभूत प्रक्रियाएँ हैं। इन प्रक्रियाओं से गुजरते हुए ही छात्र-छात्राएँ ये सीख पाते हैं कि उन्हें किस प्रकार चिन्तन-मनन करना चाहिए।

सुकरात के लिए ऐलेन्कस उन की प्रिय युक्ति थी। इस युक्ति के माध्यम से सामने वाले की बात को खारिज़ किया जाता है। आखिर खारिज़ करते क्यों हैं? सुकरात इस युक्ति का इस्तेमाल अपोरिया की स्थिति प्राप्त करने के लिए करते थे। अपोरिया एक ऐसी स्थिति है जहाँ सामने वाले व्यक्ति को उस की बात / तर्क में विसंगतियाँ या दोष दिखाया जाता है। वह अपने दोष या विसंगतियों को साफ-साफ देख पाता है। ऐसी स्थिति को अपोरिया कहते हैं।

मूलभूत तत्व जो हमें सुकरात की संवाद प्रक्रिया में दिखते हैं वो कुछ इस प्रकार हैं–

1. पहले दोनों पक्षों को यह तय करना होता है कि मुद्दा क्या है जिस पर हम बात करने वाले हैं। फिर उस पर दोनों पक्षों की क्या राय है यह साफ-साफ बताया जाना। उदाहरण के लिए उन की मान्यताएँ, परिभाषा या तर्क क्या हैं आदि।
2. दूसरे चरण में कोई एक पक्ष दूसरे पक्ष की मान्यताओं में विसंगतियों को दिखाता हैं ताकि अपोरिया की स्थिति पैदा हो सके।
3. तीसरे चरण में इन विसंगतियों को कैसे दूर करें यह सोचा जाता है और क्या ज़्यादा परिष्कृत मान्यताएँ हो सकती हैं इस पर विचार किया जाता है।

मुझे लगता है कि कुछ इस प्रकार की प्रक्रियाएँ मेरे और बच्चों के बीच चल रही थीं। इसलिए ही मैं कक्षा-कक्ष में संवाद की संस्कृति को बढ़ावा देने की बात उठा रहा हूँ। यदि शिक्षक व बच्चों के बीच संवाद की संस्कृति बनती है तो न सिर्फ बच्चों के सीखने की गति बढ़ेगी बल्कि वो यह भी सीखने की ओर अग्रसर होंगे कि सही समझ बनाने के लिए सवाल उठाना, तर्क करना और दूसरों की बात सुनना कितना ज़रूरी होता है।

मेरे मन में उठते सवाल

"राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 का दस्तावेज अध्यापकों की भूमिका देखता है कि वह बच्चों को अभिव्यक्ति के लिए एक सुरक्षित स्थान व अवसर दें और साथ ही निश्चित प्रकार की अन्तःक्रिया (संवाद) स्थापित करें। उन्हें नैतिक सत्ता की परम्परागत भूमिका से बाहर निकलने और बिना निर्णयात्मक हुए समानुभूति के साथ कैसे सुनना होता है सीखना होगा। बच्चों को एक-दूसरे को सुनने में सक्षम बनाना होगा।

शिक्षार्थियों की समझ को समेकित कर, रचनात्मक रूप से उस समझ की सीमाएँ बढ़ाते हुए इस बात के प्रति सचेत भी करना होगा कि मतभेद या अन्तर किस प्रकार व्यक्त किए जा सकते हैं। परस्पर विश्वास का वातावरण कक्षा

को बच्चों के लिए एक ऐसा सुरक्षित स्थान बना देगा जहाँ वे अनुभव बाँट सकें, जहाँ विवादों को स्वीकार कर उन पर रचनात्मक प्रश्न उठाए जा सकें और जहाँ विवादों के हल परस्पर सहमति से निकाले जा सकें, चाहे ये हल कितने ही अस्थायी क्यों न हों। विषेशकर लड़कियों व वंचित सामाजिक वर्ग से आए बच्चों के लिए कक्षा व स्कूल ऐसे स्थान होने चाहिए जहाँ वे निर्णय लेने की प्रक्रिया पर चर्चा कर सकें, अपने निर्णय के आधार पर प्रश्न उठा सकें एवं सोच-समझकर विकल्प चुन सकें।" (एनसीएफ 2005 पेज, 28)

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 के दस्तावेज में अध्यापकों से अपेक्षा के सन्दर्भ में बच्चों के साथ हुए इस संवाद से मेरे सामने कई प्रश्न उभरकर आए हैं। मुझे लगता है कि बतौर शिक्षक इन सवालों की तरफ भी सोचना बहुत ज़रूरी है। मैंने पाया है कि अक्सर शिक्षक बच्चों के व्यवहारिक ज्ञान को नज़रअन्दाज़ करके पुस्तकीय जानकारी पर ही केन्द्रित रह जाते हैं। बच्चे बहुत से मुद्दों पर गलत या अधूरी सी अवधारणा अपने साथ लेकर स्कूल आते हैं यदि उन्हें जाने बिना एक शिक्षक उन्हीं मुद्दों पर नई अवधारणा बच्चों को देने का प्रयास करेगा तो क्या ये बच्चों के सीखने को प्रभावित नहीं करेगा?

इस तरह के सवालों में हम पर्यावरण की शिक्षा से विज्ञान शिक्षा की ओर बढ़ने के स्पष्ट अवसर खोज सकते हैं। एक और सवाल उभरकर आया कि अक्सर स्कूल की तरफ से अभिभावकों पर ज़िम्मेदारी डाल दी जाती है। यह सही है कि अभिभावकों को भी अपने बच्चों के सीखने की प्रक्रिया में भूमिका अदा करना चाहिए या कम से कम इस तरफ जागरूक तो रहना ही चाहिए। लेकिन हमारे देश में बहुत से बच्चे अभी पहली पीढ़ी के हैं जिन्हें स्कूल जाने का मौका मिल पा रहा है।

इस स्कूल में भी ज़्यादातर बच्चे मज़दूर परिवारों से आ रहे हैं। निर्माण कार्य से जुड़े परिवारों के बच्चों से यह कहा जाना कि इन सवालों के बारे में अपने परिवार से जानकारी लेकर आओ कितना उचित है? एक और बात जिसे मैंने महसूस किया वह थी शिक्षक और बच्चों के बीच होने वाले संवाद का महत्त्व। आखिर हमारे स्कूलों में बच्चों को कक्षा में आपसी संवाद या शिक्षक के साथ संवाद का अवसर क्यों नहीं दिया जाता? हमने देखा है कि आपसी संवाद से बच्चों में स्वतंत्र अभिव्यक्ति एवं तर्क करने की क्षमता का विकास होता है। संवाद ही है जो हमें अपने अनुभवों के अलावा भी बहुत सी बातों पर चर्चा कर समझ बनाने का अवसर देता है। स्कूली संवाद बच्चों को ऐसे मौके भी दे सकता है कि वे घर के अनुभवों और वहाँ पैदा हुई चिन्ताओं के बारे में बात कर पाएँ। संवाद निःसन्देह स्पष्टता लाता है लेकिन छोटी कक्षाओं में संवाद की भी एक सीमा होती है इसलिए एक शिक्षक को शिक्षण के दौरान कुछ दूसरी चीज़ें भी अपने साथ लानी चाहिए मसलन– पाठ्यपुस्तक, चित्र, फिल्म, भ्रमण के अनुभव एवं स्लाइड शो आदि।

सन्दर्भ

स्कूल में कक्षागत अवलोकन

सीखना और ज्ञान, एनसीएफ 2005, पेज 28

Rebecca Bensen Cain, *The Socratic Method: Plato's Use of Philosophical Drama*, 2007 (Continuum International Publishing Group, London)

Secrets of the Earth- Rain, Hindi Documentary, link https:// youtu.be/85qZa53_SUZ

महमूद खान पिछले दो दशक से शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापन एवं प्रशिक्षण कार्य में सक्रिय रहे हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन जयपुर में बतौर सामाजिक विज्ञान रिसोर्स पर्सन कार्यरत हैं।
सम्पर्क : mahmood.khan@azimpremjifoundation.org

स्नेह और अनुशासन के बीच फँसी एक शिक्षिका

शिक्षिका श्रीमती प्रमिला चौहान से टुलटुल बिस्वास का साक्षात्कार

प्राथमिक स्कूल में पढ़ाने वाली शिक्षिका का यह साक्षात्कार एक आम व्यक्ति के शिक्षक बनने के सफ़र और शिक्षकीय ज़िन्दगी के खट्टे-मीठे अनुभव और उनकी समस्याओं व चुनौतियों को बयाँ करता है। सं.

यूँ तो संजय गाँधी विद्यालय माध्यमिक तक है, परन्तु इसमें प्राथमिक विद्यालय वाला भाग एक अलग (पुरानी) इमारत में लगता है। इमारत में दो कमरे हैं। एक कमरे में कक्षा पहली व दूसरी के विद्यार्थी पढ़ते हैं और दूसरे कमरे में कक्षा तीसरी व कक्षा चौथी के। पाँचवी कक्षा को स्कूल की मुख्य इमारत में एक कमरा दिया गया है– जैसे पाँचवीं के ये बच्चे ही प्राथमिक स्कूल में सबसे विशेष हैं। वैसे इसे इस तरह भी देखा जा सकता है कि पाँचवीं कक्षा (और उसकी शिक्षिका व उसमें पढ़ने वाले बच्चे) दरअसल इस स्कूल परिसर में मौजूद प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के दो अलग संस्थानों के बीच का पुल हैं। इसीलिए यह कक्षा माध्यमिक विद्यालय की तुलनात्मक रूप से नई, बड़ी और बेहतर इमारत में लगती है। बहरहाल, हम प्राथमिक स्कूल की कक्षाओं में लौटते हैं। इसके दोनों कमरे अच्छे खासे बड़े हैं– हालाँकि छत टीन का है। आसपास के विशालकाय पेड़ों के कारण ये कमरे दोपहर की धूप में भी उतने नहीं तपते जितनी उनसे अपेक्षा की जाती है। दोनों कक्षा-कक्ष में लकड़ी की चौड़ी बेंच और डेस्क की दो कतारें हैं। पहले कमरे की एक कतार में कक्षा तीसरी के बच्चे बैठते हैं, दूसरी में कक्षा चौथी के। इसी तरह दूसरे कमरे में एक कतार में पहली कक्षा के बच्चे बैठते हैं और दूसरी कतार में दूसरी कक्षा के।

पहले दिन जब मैं यहाँ सम्पर्क के लिए गई तो माध्यमिक विद्यालय के दफ्तर में प्राचार्या (कल्पना देसाई) से मेरी मुलाकात हुई। उन्होंने काफी सत्कार से मुझे बिठाया और बात की। एकलव्य और चकमक से वे परिचित थीं, इसलिए किसी शैक्षिक पत्रिका में शिक्षकों के साक्षात्कार के बारे में जानकर वे काफी खुश हुई, परन्तु समयाभाव के बारे में बताते हुए उन्होंने मुझे दो नाम सुझाए– श्री महेश अग्रवाल और श्रीमती प्रमिला चौहान। अग्रवाल जी किसी काम से स्कूल से बाहर थे, इसलिए उन्होंने एक बच्चे को बुलाकर मुझे चौहान मैडम के पास ले जाने को कहा। बच्चा मुझे लेकर चला तो अनायास ही उससे बातें होने लगीं। उसने बताया कि आज आठवीं के बच्चों का फेयरवेल है– इसलिए वह और उसके दोस्त (सातवीं के सारे बच्चे) जल्दी स्कूल आ गए हैं और तैयारियों में लगे हैं। हम स्कूल की इमारत से बाहर आकर बाजू की सँकरी गली से जाकर प्राथमिक स्कूल के कमरों में पहुँचे।

वह बालक मुझे पहले कमरे की दहलीज़ पर छोड़कर चला गया। कमरे में तीन शिक्षिकाएँ बैठी आपस में बातें कर रही थीं। साथ ही एक कुछ कॉपियाँ भी जाँच रही थीं और एक अन्य किसी रजिस्टर में कुछ जानकारी भर रही थीं। पूछने पर पता चला कि रजिस्टर में काम करने वाली शिक्षिका ही चौहान मैडम हैं। मैंने अपना परिचय दिया (एकलव्य और चकमक यहाँ भी महत्त्वपूर्ण परिचायक थे) और पत्रिका व शिक्षकों के साक्षात्कार के बारे में बताया। उन्होंने मुझे बिठाया और तफ़्सील से बात की। अपने बचपन, पढ़ाई, कार्य-जीवन के बारे में वे सहज ही बात करने लगीं। बीच-बीच में बच्चों को शोर करने से रोकने के लिए थोड़ी फटकार भी लगा देतीं, फिर बातों-बातों में उन्होंने कहा कि वे बोलने से ज़्यादा लिखकर अपने को अच्छी तरह व्यक्त कर पाती हैं, इसलिए उन्हें कुछ प्रश्न दे दिए जाएँ तो वे उनके उत्तर सोच-विचारकर लिखकर ला सकती हैं। तो, यह साक्षात्कार बहुत सारा प्रमिला जी के साथ बातचीत के ज़रिए और कुछ उनके लिखित जवाबों से बुना गया है। एक ऐसी शिक्षिका का साक्षात्कार जिनमें मैंने बच्चों के लिए स्नेह और सरोकार भी देखा और उन्हें अनुशासन में बाँधने की तीव्र जद्दोजहद भी।

सवाल : अपने बचपन व अपनी पढ़ाई-लिखाई के बारे में कुछ बताइए।

प्रमिला जी– मेरा जन्म नागपुर में बड़े परिवार में हुआ। परिवार में सारी सुख-सुविधाएँ थीं। मेरा लालन-पालन सम्पन्न घराने में हुआ है। मेरी प्राइमरी शिक्षा मिशनरी स्कूल में हुई। स्कूल में बहुत अधिक अनुशासन था। पढ़ाई पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था। होमवर्क बराबर दिया जाता था। हमारे समय में नैतिक शिक्षा पर भी एक पीरियड रहता था। कक्षा में एकदम शान्ति रहती थी। मेरी अंग्रेजी शुरू से ही काफी अच्छी थी।

मेरी शादी लगभग 40 साल पहले महाराष्ट्र से भोपाल के पास के एक गाँव में हुई। यहाँ का वातावरण बिल्कुल अलग था। ससुराल गाँव में था और मैं नागपुर शहर में पली-बढ़ी थी। हमारा परिवार व्यापार में लगा था और यहाँ ससुराल में खेती-बाड़ी का काम होता था। सब कुछ अलग था। यहाँ पढ़ाई-लिखाई का बहुत ज़्यादा महत्व नहीं समझा जाता था। हर बात में 'पटेलों की बहू' होने की ज़िम्मेदारी निभानी पड़ती थी। उस समय मैंने बहुत संघर्ष किया। मेरी आगे पढ़ने की रुचि और टीचर बनने की इच्छा का यहाँ बहुत मोल नहीं था, पर मेरे पति ने हमेशा मेरी मदद की। मेरा सहयोग किया। वे शिक्षा विभाग में कार्यरत थे। कुछ समय बाद हम लोग भोपाल शहर में आ गए।

सवाल : आप शिक्षक क्यों बने? कैसे बने?क्या इससे पहले कोई और काम भी किया?

प्रमिला जी– मुझे हमेशा से,शादी के पहले से इच्छा थी कि मैं टीचर बनूँगी। शुरू से ही पढ़ाने का शौक था। शादी के बाद बहुत संघर्ष किया। लगभग डेढ़-दो साल के अन्तराल से मेरे चार बच्चे हो गए। चार छोटे-छोटे बच्चों को सम्भालना, घर में कमाने वाला एक और हमारा बड़ा-सा परिवार था। बच्चे बड़े होने लगे तो उनकी पढ़ाई का खर्च और बहुत सारी मुश्किलों के बीच दिन बीते। फिर, शादी के बहुत साल बाद, जब मेरे बच्चे कुछ सँभल गए, तब मैं टीचिंग लाईन में आई। मौका मिला और ज़रूरत भी थी– इस तरह मैं टीचर बन गई। मुझे बहुत खुशी हुई कि भाग्य ने मेरा साथ दिया पर यह आसान नहीं था। बहुत कोशिश करने के बाद टीचरशिप में चयन हुआ– जहाँ तक याद पड़ता है 1982 में। इसके पहले मैंने घर से बाहर कोई काम नहीं किया था। शिक्षा क्षेत्र में काम मिलने पर मैंने भगवान को बहुत धन्यवाद दिया। मेरे जीवन में अचानक बड़ा परिवर्तन आया।

सवाल : स्कूल में पढ़ाने के कुछ खट्टे-मीठे अनुभव याद आते हैं क्या?

प्रमिला जी– शिक्षा विभाग ज्वाइन करने के बाद 82 से 84 मेरी ट्रेनिंग हुई। 85 में मेरा अपाइंटमेंट हुआ– नीलबड़ में। पहले कुछ साल मैंने नीलबड़ के आगे एक गाँव में पढ़ाया। यहाँ प्राथमिक और माध्यमिक दोनों विभाग थे। शुरू में मुझे बहुत दिक्कतें आईं। कुछ सालों बाद मेरी कठिनाइयाँ दूर हुईं।

सिक्युरिटी लाइन वाले स्कूल में आई मैं 85 में– या 86 में। वहाँ मुझे मिडिल स्कूल मिला। मिडिल स्कूल में मैंने कक्षा छह और कक्षा सात को पढ़ाया। उस समय मुझे सामाजिक अध्ययन और हिन्दी मिला। मैंने ये दोनों विषय पढ़ाए। आठवीं नहीं लिया था, सिर्फ कक्षा छह और कक्षा सात ली। वहाँ के स्टुडेंट्स का डिसिप्लिन बहुत अच्छा था। हमारी हेड-मिस्ट्रेस बहुत अच्छी थीं। बहुत डिसिप्लिन वाली थीं। टाइम पर आना, टाइम पर जाना। वो हमेशा राउण्ड लेती थीं और चेक करती थीं।

हमारी एक मैडम थीं– इंग्लिश की। वो रिटायर हो गईं– जोशी मैडम। रिटायर होने के बाद वो विषय मुझे मिला। सर्विस शुरू होने के कोई दस साल बाद मुझे अंग्रेजी पढ़ाने का अवसर मिला। क्योंकि मैं महाराष्ट्र से पढ़ी थी,तो मेरी इंग्लिश अच्छी थी। और बच्चे मुझसे थोड़ा डरते थे क्योंकि मैं उनसे स्ट्रिक्ट रहती थी।

हमारे स्कूल में अच्छे, पढ़े-लिखे घर के बच्चे, क्वार्टर्स के बच्चे और अन्नानगर झुग्गी-झोपड़ी के बच्चे आते थे। उनको इंग्लिश बहुत मुश्किल पड़ती थी। ये बच्चे अँग्रेज़ी के प्रश्नोत्तर, स्पेलिंग वगैरह याद नहीं कर पाते थे। फिर मैंने देखा कि बच्चे कहाँ गलती करते हैं। मेरे मन में एक सुझाव आया क्यों न इन्हें शार्टकट समझाया

जाए। मैंने पहले हू, वॉट, वेन, वेयर का अर्थ समझाया– कि ये चीजें कब लगती हैं। इनके प्रश्नों के उत्तर सरल होते थे। तो जैसे, वेयर यानी कहाँ– तो स्थान का नाम लिख देना। वेन यानी कब, तो समय लिख देना। वाय यानी क्यों। तो इसमें जवाब मुश्किल पड़ जाता था। इसलिए वो नहीं कर पाते थे। और वॉट में क्या। तो क्या का जवाब लिखना। हू यानी कौन, तो जवाब में नाम लिखना। सबसे पहले नाम लिखना और फिर बाकी का संटेन्स वही रहेगा। ऐसी तीन-चार चीज़ों में मैंने बहुत ध्यान दिया। तो बच्चों ने भी बहुत ध्यान दिया और उन्हें समझ में भी आया। धीरे-धीरे वे प्रश्नोत्तर याद करना सीख गए।

बाद में मैंने निबन्ध जो सरल होते थे वे याद कराना सिखाया। इसके बाद पत्र लिखना एवं सरल ग्रामर सिखाई। बच्चों के पीछे पड़कर उनको सिखाया। मैं तीन निबन्ध उनको कम्पलसरी याद करा देती थी। लेटर, जैसे सिकनेस का, या मैरिज का, ऐसे तीन तरह के। और फिर ग्रामर में जैसे प्रीपोजीशन, जोड़ने के लिए इस्तेमाल होता है– कंजेक्सन और भी चीज़ें– ये सब मैं याद करा देती थी।

इस तरह बच्चों में कॉनफिडेंस आया। मेरा रिज़ल्ट इतना अच्छा आया कि बहुत सारे बच्चे 100 में से 80 बच्चे पास हो गए। तो हमारे हेड-मास्टर को बहुत अच्छा लगा। वो कहते थे– मैडम आप बहुत अच्छा इंग्लिश पढ़ाती हैं। अनायस मेरा एक्सीडेंट हुआ। शाला मेरे घर से दूर थी और इस कारण मैंने घर के पास यहाँ ट्रांसफर करा लिया। मेरे हेडमास्टर ने मुझे जाने से बहुत रोका पर मेरी मज़बूरी थी। 2003, में मैं शासकीय संजय गॉंधी में आई। यहाँ मुझे प्राइमरी विभाग मिला। शुरू में मैंने पाँचवीं कक्षा पढ़ाई। मैंने बच्चों को अनुशासित किया। बच्चे मेरा कहना मानते थे, डरते भी थे। रिज़ल्ट अच्छा आया। इस तरह मेरी टीचिंग के 33 साल काफी अच्छे रहे।

सवाल : तो सिक्युरिटी लाइन के बच्चे जो आपको याद आते हैं, कौन से बच्चे याद आते हैं और क्यों याद आते हैं ?

इसलिए याद आते हैं क्योंकि उन बच्चों का मुझसे बहुत लगाव हो गया था। लगाव के साथ-साथ वो बहुत प्रोत्साहित होते थे और प्रोत्साहित करते भी थे मुझे कि मैडम आपने बहुत अच्छा पढ़ाया, और आपकी बहुत याद आती रहेगी। अभी भी वो बच्चे कभी कहीं न कहीं मिलते हैं, तो पैर छूते हैं, याद करते हैं।

एक्सीडेंट के बाद जब मैं यहाँ आई तो हेडमास्टर साहब बहुत कहते थे कि नहीं मैडम, हम आपको जाने नहीं देंगे। मैंने कहा कि सर मैं मजबूरी से जा रही हूँ क्योंकि दो मिनी बस बदलकर आना और बीच में चलना अब मुझसे होता नहीं है।

इसलिए जब मेरा ट्रांसफर यहाँ इस स्कूल में हो गया, तो यह घर के पास था। तो मैंने यहाँ जॉइन कर लिया। आखिरी दिन सब लोग बहुत भावुक हो गए थे– पूरा स्टाफ। आज भी वहाँ का पूरा स्टाफ मुझे याद करता है।

सवाल : कक्षा में अनुशासन की आप क्या ज़रूरत समझती हैं ? और शिक्षा से इसका क्या सम्बन्ध है ? आजकल जो बच्चों की पिटाई पर रोक लगी है, उसके बारे में आप क्या सोचती हैं ?

प्रमिला जी– पहले के बच्चे अनुशासित थे। शिक्षकों का आदर करते थे। अनुशासन में रहते थे। पढ़ाई पर अधिक ध्यान देते थे। समय पर शाला आते-जाते थे।

बच्चों को मारने पर गवर्मेंट ने जो बैन लगाया है– वो, मैं समझती हूँ कि सही भी है, और नहीं भी। क्योंकि बच्चों के साथ थोड़ा-सा अनुशासन तो होना चाहिए। क्योंकि बच्चे ना...थोड़ा डर से, टीचर के डर से थोड़ा अनुशासित होते हैं। अब क्या है– डर बिल्कुल नहीं है। सोचते हैं कि टीचर हमारा क्या कर लेंगे। हम शिकायत कर देंगे। तो इनके दिमाग में वो बात आ गई है कि मुझे मैडम मारेगी, कुछ करेगी या दण्ड देगी तो हम डाइरेक्ट शिकायत कर देंगे। तो आज के बच्चों के मन में यह भर गया है। मैडम लोग डरते हैं। अगर बच्चे उधमकर रहे हैं तो टीचर कुछ नहीं कर सकते। इतना ही बोल सकते हैं कि चुपचाप जाओ, बैठो। कई बच्चे तो इतने उद्दण्ड होते हैं कि डाँटने से भी नहीं मानते। उनका क्या करें। मतलब दोनों तरफ मैडम लोगों

के लिए मुश्किल हो गई है न। बन्धन हो गया है कि करें तो क्या करें। आप देखते ही हो कि आए दिन पेपरों में आ रहा है। तो इसके अन्दर हम क्या करें। कुछ नहीं कर सकते। टीचर तो सरकार के अंडर में हैं। इसलिए बच्चे उद्दण्ड होते जा रहे हैं।

सवाल : अपने साथी शिक्षकों के साथ हुए किसी अनुभव के बारे में बताइए।

प्रमिला जी– उस समय मैं मिडिल शाला सिक्युरिटी लाईन में शिक्षिका थी। मुझे छठवीं एवं सातवीं कक्षा में पढ़ाने का अवसर मिला। मैं गणित एवं सामाजिक अध्ययन पढ़ाती थी। मुझे गणित नहीं आता था। अपने पुराने समय में मैंने तोला-माशा-रत्ती में पढ़ा था तो गणित विषय मुझे बहुत कठिन लगता था।

एक हमारी मैडम थी... लाल मैडम। साउथ की थीं। वो आठवीं कक्षा की मैथ्स की टीचर थीं। मैंने उनसे छठी का गणित (बीज गणित) सीखा। मैं कहती, मैडम मुझे गणित सिखाओ। मुझे गणित पढ़ाने में बहुत रुचि आ रही है पर कठिन लगती है। वो मुझे एक-एक करके सब बतातीं कि– ऐसा-ऐसा होता है। तो ऐसे पूछ-पूछ के मैं पढ़ाती थी। इस तरह मुझे बहुत अच्छा लगने लगा यह विषय।

सवाल : आपको अपने शिक्षकीय कार्यकाल में किस-किस तरह के प्रशिक्षण मिले? ये प्रशिक्षण कैसे थे? आपके काम के लिए किस तरह से उपयोगी लगे? आपके समय के प्रशिक्षण और अभी आपके पास आने वाले डी.एड. छात्राओं के प्रशिक्षण में आप क्या अन्तर देख पाती हैं?

प्रमिला जी– शिक्षण काल में मैंने कई प्रशिक्षण लिए-अँग्रेज़ी, हिन्दी, सामाजिक अध्ययन आदि। प्रशिक्षण अच्छे लगे। शिक्षण को रोचक और सरल विधि द्वारा समझाने का सुझाव मिलता है। नई-नई बातों को समझने का मौका मिलता है। मेरे समय की पढ़ाई एवं आज की पढ़ाई में बहुत फ़र्क था। पहले की पढ़ाई आसान थी। जल्दी याद कर लेते थे। आज के बच्चों का मन पढ़ाई में कम मोबाइल एवं टीवी में अधिक लगता है। समय के साथ-साथ बहुत बदल गया है– खान-पान, रहन-सहन, घूमना-फिरना आदि...। आजकल डी.एड. अलग हटकर होने लगा है। नये-नये विषयों पर चर्चा होती है। प्रायोगिक विधि पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। पुस्तकें भी प्राइमरी स्तर की प्रायोगिक हो गई हैं। पहले पढ़ने और लिखने पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाता था, जो आजकल कम है। अब सरल विधि से, खेल-खेल में पढ़ाना बताया जाता है। बच्चों को भी यह रोचक लगता है। वे जल्दी सीख जाते हैं। हमारे पास आने वाली डी.एड. की छात्राओं को यही कहूँगी कि वे बच्चों को लगन से, रोचक ढंग से और ईमानदारी से पढ़ाएँ।

सवालः आपको प्रधान पाठिका (HM) के तौर पर कितना प्रशासनिक कार्य करना पड़ता है ? यह काम आपको कैसा लगता है? क्या इस काम के लिए किसी प्रकार के सहयोग की ज़रूरत महसूस करती हैं?

प्रमिला जी– प्रधान पाठिका के तौर पर मुझे ढेर सारा प्रशासनिक काम करना पड़ता है। बैंक के काम, संकुल केन्द्र, जन शिक्षा केन्द्र, डाइट आदि जाना, फॉर्म-प्रपत्र आदि लाना, भरना, छात्रवृत्ति, आधार लिंक करना, मूल्यांकन जैसे कितने ही काम करने पड़ते हैं। समय पर बच्चों की क्लास भी लेती हूँ। बाहर मीटिंग, ट्रेनिंग में जाना पड़ता है। शिक्षा विभाग से आई डाक (प्रपत्र) भरकर जमा करना पड़ता है।

इन सब कामों में यदि कार्यालयीन सहयोग मिलता तो अच्छा होता। काम बहुत ज़्यादा है। मैं प्रधान पाठिका बनी थी क्योंकि वेतन में वृद्धि होती और कोई अन्य था भी नहीं, परन्तु उसकी तुलना में काम बहुत ज़्यादा है। फिलहाल हम सब शिक्षिकाएँ मिलकर ही ये सारे काम सँभाल लेती हैं। सभी शिक्षिकाओं का सहयोग मिलता है।

श्रीमती प्रमिला चौहान शासकीय संजय गाँधी प्राथमिक विद्यालय शिवाजी नगर, भोपाल में प्रधान अध्यापिका हैं।

टुलटुल बिस्वास को बालसाहित्य एवं शिक्षा साहित्य के प्रकाशन एवं सम्पादन का लम्बा अनुभव है। वे वर्तमान में एकलव्य भोपाल में कार्यरत हैं एवं शिक्षक-शिक्षा के काम में जुटी हैं।

समाज निरपेक्ष नहीं है भाषा

अपूर्वानंद से भाषा के मसलों पर फ़ैयाज़ की बातचीत

फ़ैयाज़ : प्राथमिक स्तर की पाठ्यपुस्तकों के सन्दर्भ में अगर बात करें तो आपके लिए भाषा के मानकीकरण का क्या अर्थ है?

अपूर्वानंद : पाठ्यपुस्तक के बारे में हमेशा इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि वह एक विशेष सन्दर्भ में शिक्षक और छात्रा के पास उपलब्ध एक उपकरण है। यानी वह एकमात्र सामग्री नहीं है जिससे शिक्षा का कारोबार चले। इससे अगर आप एक तिकड़ी बनाना चाहें तो वह तिकड़ी बनती है शिक्षक, पाठ्यपुस्तक और छात्रा की। आप उसके साथ परिवेश रख सकते हैं, जिसमें ये तीनों शामिल हैं– पाठ्यपुस्तक, छात्रा और शिक्षक। इसलिए, जिस तरह शिक्षक अपने परिवेश से निरपेक्ष नहीं है और छात्रा अपने परिवेश से निरपेक्ष नहीं है, पाठ्यपुस्तक भी उस परिवेश से निरपेक्ष नहीं है। अब परिवेश के कई स्तर हो सकते हैं। अगर हम वृत्तों में कल्पना करें तो परिवेश का जो बिल्कुल समीपी वृत्त होगा, उसमें बच्चे जहाँ हैं, जिस जगह पर हैं, उनका जो सामुदायिक परिवेश है, वह होगा। लेकिन, वह सामुदायिक परिवेश भी एक वृहत्तर वृत्त से घिरा हुआ है। आप कह सकते हैं, उसका जो सन्दर्भ होगा वो राज्य का, राष्ट्र का या अंतर्राष्ट्रीय सन्दर्भ होगा। ये तीनों सन्दर्भ एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इनमें एक का दूसरे से हल्का रिश्ता, और एक तरह का तनाव का रिश्ता होता है क्योंकि आप स्थानीयता और सार्वभौमिकता के बीच सन्तुलन कैसे कायम करेंगे इसको लेकर हमेशा एक द्वंद्व चलता रहता है। इसीलिए तनाव तो है। क्योंकि सन्तुलन का कोई एक बिन्दु आप नहीं कह सकते हैं कि हासिल कर लिया गया हो। वह हमेशा बदलता रह सकता है।

> पाठ्यपुस्तक के बारे में हमेशा इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि वह एक विशेष सन्दर्भ में शिक्षक और छात्रा के पास उपलब्ध एक उपकरण है। यानी वह एकमात्र सामग्री नहीं है जिससे शिक्षा का कारोबार चले। इससे अगर आप एक तिकड़ी बनाना चाहें तो वह तिकड़ी बनती है शिक्षक, पाठ्यपुस्तक और छात्रा की।

पाठ्यपुस्तक बनाने की प्रक्रिया, अपने आप में बहुत पेचीदा प्रक्रिया है। यह एक शैक्षिक या शिक्षाशास्त्रीय प्रश्न है। इसीलिए विशुद्ध शिक्षाशास्त्रीय प्रश्न खोजना भी मुश्किल होता है। ऐसे आधार जिन पर आप पाठ्यपुस्तक बनाते हैं, खोजने भी मुश्किल होते हैं। जिन आधारों को आप जानते हैं कि उसमें राजनीतिक निर्णय शामिल होते हैं, उनमें सांस्कृतिक संवेदनाएँ शामिल होती हैं, उनमें हमारी धारणाएँ भी शामिल होती हैं। भाषा की जब हम बात करते हैं तो अभी हमने जो चर्चा की है वह उनके लिए प्रासंगिक हो जाती है, क्योंकि, भाषा का बहुत गहरा रिश्ता उनके परिवेश से है यह तथ्य अब भाषा वैज्ञानिक शोध से भी सिद्ध हो चुका है।

भारत की स्कूली पाठ्यचर्या की रूपरेखा में भी इसे दर्ज किया गया है। हालाँकि अब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी यह बात स्थापित हो चुकी है कि पाँच वर्ष की बच्ची जब कक्षा में प्रवेश करती है तो अपने साथ तैयार भाषा लेकर आती है। इसका अर्थ यह है कि हमारी जो पहले की समझ थी कि हम बच्चे को भाषा देते हैं उसमें बदलाव की ज़रूरत है, क्योंकि कक्षा

बच्चे को भाषा नहीं देती है या शिक्षक बच्चे को भाषा नहीं देता है या देती है बल्कि बच्चे के पास भाषा का अपना एक संसार है। उसके पास भाषा की एक दुनिया है और वह खासी जटिल दुनिया है जो उसके पास है। आप कह सकते हैं कि वह अचेतन रूप में उन नियमों से भी परिचित है जिनसे भाषा का व्यापार संचालित होता है, और शायद ही वह उन नियमों में कभी घालमेल करता हो। यहाँ तक कि भाषा की जो अलग-अलग युक्तियाँ होती हैं उन युक्तियों में भी फर्क करना एक बच्चे को आता है। मसलन अपनी माँ से उसे कैसे बात करनी है और अपने छोटे भाई से कैसे बात करनी है, अपने शिक्षक से कैसे बात करनी है या अपनी कक्षा में अन्य लोगों से कैसे बात करनी है, यह उसको पता है। इसलिए जब हम इस बात को ध्यान में रखते हैं कि बच्चों के पास भाषा की अपनी एक दुनिया होती है और अगर हम उसे कबूल करते हैं तो फिर भाषा की पूरी शिक्षा को लेकर हमारा नज़रिया बदल जाता है। दूसरी बात भाषा शिक्षण को लेकर लम्बे शोध और अध्ययन के बाद, खासकर भाषा वैज्ञानिकों और अन्य शिक्षाशास्त्रियों ने भी माना है कि बच्चे की भाषा की इस दुनिया को या भाषा के उस लोक को इज्ज़त देना किसी भी भाषा के शिक्षक के लिए आवश्यक है। यह भी कि न सिर्फ़ भाषा के शिक्षक के लिए बल्कि किसी भी विषय के शिक्षक के लिए आवश्यक है। इसके साथ जो तीसरी बात जुड़ी हुई है वह यह है कि भाषा की शिक्षा सिर्फ़ भाषा की कक्षा में नहीं होती है। शायद यह एकमात्र ऐसा विषय है जो अपनी कक्षा में नहीं पढ़ाया जाता है। जब आप विज्ञान पढ़ाते हैं तब भी आप भाषा पढ़ाते हैं।

फ़ैयाज़ : जब गणित पढ़ाते हैं उसमें भी भाषा है। बिना भाषा के तो आप गणित भी नहीं पढ़ा सकते हैं!

अपूर्वानंद : इसका मतलब भाषा पूरे पाठ्यचर्या में फैली हुई है और पूरे पाठ्यक्रम में उसका फैलाव है। वह सिर्फ़ भाषा की कक्षा में सीमित नहीं है। इसीलिए भाषा की कक्षा और भाषा की किताबें ये जो मानती हैं कि उनकी ज़िम्मेदारी सिर्फ़ भाषा की पूरी तालीम ही बच्चे को देनी है, बाकी विषयों में क्या हो रहा है, इससे वे अपनी कक्षा को अंजान बनाने की कोशिश करती हैं, उससे जो शिक्षा का संसार बनता है वह बहुत विचित्र-सा बनता है। अगर किताबों को देखा जाए, उनका विश्लेषण किया जाए कि विज्ञान की कक्षा में क्या हो रहा है तो आप बच्चे को किसी जटिल अवधारणा से जूझते हुए या सुलझाते हुए पाएँगे। लेकिन भाषा की कक्षा में उसे इस लायक नहीं माना जाता है कि वह एक जटिल भाषाई संवेदना से गुज़र सके। हमारी भाषा की कक्षाएँ या पाठ्यपुस्तकें अक्सर एक ही दायित्व अपने ऊपर लेकर चलती हैं, वह है शैक्षिक दायित्व। जिस पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। लेकिन इस बारे में नहीं विचार किया जाता कि इन सब बातों का मतलब क्या है? जब आप भाषा की प्राथमिक कक्षाओं की बात करते हैं तो भाषा शिक्षा से हमारा तात्पर्य क्या है? अगर हम इस बात को मान लेते हैं कि बच्चे की भाषा की अपनी एक दुनिया है और अगर हम इस बात को भी मान लेते हैं कि स्कूल को बच्चे की भाषा की उस दुनिया की इज़्ज़त करनी है, इसका मतलब यह हुआ कि कक्षा में उन शब्दों का भी प्रवेश है, उनको इज़ाज़त है, जिनका इस्तेमाल बच्ची अपने घर में बातचीत के दौरान करती है। अगर वह 'चूहा' नहीं कह कर 'मूसा' कह रही है तो आप कक्षा में उसे जगह देंगे। आप उसे ऐसा नहीं कहेंगे कि 'मूसा' ग़लत है और लाल

अगर हम इस बात को मान लेते हैं कि बच्चे की भाषा की अपनी एक दुनिया है और अगर हम इस बात को भी मान लेते हैं कि स्कूल को बच्चे की भाषा की उस दुनिया की इज्ज़त करनी है, इसका मतलब यह हुआ कि कक्षा में उन शब्दों का भी प्रवेश है, उनको इज़ाज़त है, जिनका इस्तेमाल बच्ची अपने घर में बातचीत के दौरान करती है।

रंग से उस पर ग़लत का निशान लगाएँगे। आप ऐसा नहीं करेंगे इस बात को हमने मान लिया।

इसके अलावा यदि आप राष्ट्रीय सन्दर्भ में भी यह सोचते हैं और आप यह मानते हैं कि शिक्षा एक राष्ट्रीय दायित्व है जिसको पूरा किया जाना चाहिए। तब इसका सीधा-सीधा मतलब यह है कि हिन्दुस्तान में करोड़ों-करोड़ बच्चे-बच्चियाँ ऐसे हैं जो अपने समुदायों से पहली बार कक्षाओं में जाएँगे। ऐसे में शिक्षा के वे कौन– से तरीके होंगे जिनसे उनको, जब वे पहली कक्षा में दाखिल हो रहे हैं, वहाँ से लेकर पूरी स्कूली शिक्षा तक कामयाबी के एक एहसास के साथ इत्मीनान का माहौल दिया जाए।

यदि आप राष्ट्रीय सन्दर्भ में भी यह सोचते हैं और आप यह मानते हैं कि शिक्षा एक राष्ट्रीय दायित्व है जिसको पूरा किया जाना चाहिए। तब इसका सीधा–सीधा मतलब यह है कि हिन्दुस्तान में करोड़ों–करोड़ बच्चे–बच्चियाँ ऐसे हैं जो अपने समुदायों से पहली बार कक्षाओं में जाएँगे। ऐसे में शिक्षा के वे कौन से तरीके होंगे जिनसे उनको, जब वे पहली कक्षा में दाखिल हो रहे हैं, वहाँ से लेकर पूरी स्कूली शिक्षा तक कामयाबी के एक एहसास के साथ इत्मीनान का माहौल दिया जाए।

क्योंकि आप यह ख़्याल रखिए कि वे अपने समुदाय की पहली पीढ़ी के स्कूल जाने वाले बच्चे-बच्चियाँ हैं। इसका अर्थ यह है कि आपके जो उपकरण हैं, आपकी जो भाषा है, जो समझ है वो सब बदल जाएगी। क्योंकि आप फिर यह नहीं कह सकते कि आपकी अपनी एक शिक्षा की समझ है और भाषा की समझ है, जिससे आपकी उम्मीदें हैं । और आप अपनी उन सारी उम्मीदों को, उन अपेक्षाओं को, समझ को, पहली पीढ़ी के इन बच्चों-बच्चियों पर लागू करने की कोशिश कर रहे हैं। जिसका नतीजा यह हो सकता है कि दूसरी कक्षा या तीसरी कक्षा तक जाते-जाते इनमें से ज़्यादातर बच्चे-बच्चियाँ स्कूलों से बाहर हो जाएँगे। क्योंकि वो, आपकी भाषा की समझ और उस समझ से उपजी उम्मीदों, अपेक्षाओं से तालमेल बिठाने में खुद को अक्षम महसूस करेंगे। हमें यहाँ भी अपनी भूमिका तय करनी है कि हम करना क्या चाहते हैं, क्या हम इन्हें कामयाबी का अहसास दिलाना चाहते हैं? कामयाबी का अहसास दिलाने का मतलब यह है कि इनको यह विश्वास दिलाना कि ये जो बोल रहे हैं उसका मूल्य है कक्षा में, उसकी क़ीमत है, उसे कबूल किया जा रहा है।

एक अन्य पहलू यह भी है कि इनकी जो दुनिया है और कक्षा की जो दुनिया है उसमें एक जुड़ाव है। यानी वे जिस स्कूल में घुसते हैं, उसकी दीवार इतनी मोटी और इतनी ऊँची नहीं है कि वहाँ घुसते ही अपना घर, अपना रास्ता ये देख ही न पाएँ। वहाँ से वे अपना घर और घर जाने का रास्ता और घर से आने का रास्ता भी देख सकें। आपको ऐसा स्कूल बनाना है जो सिर्फ ईंट पत्थर से नहीं बना हो। स्कूल बनाने का मतलब है स्कूल में चलने वाली गतिविधियाँ। आप उनको कैसे नियोजित करते हैं? उन गतिविधियों की भाषा क्या है? अगर भाषा ऐसी है, जो उस बच्चे से पूरी तरह से अजनबी है, तब यह तय मानिए कि वह स्कूल में घुसेगी और तीसरे साल बाहर हो जाएगी या फिर वह उसके साथ कोई रिश्ता नहीं बनाएगी। इसका अर्थ क्या हुआ? इसका अर्थ यह हुआ कि हम दो चीज़ों पर ज़ोर नहीं देंगे, एक शुद्धता और दूसरा मानकीकरण। यानी जिन शिक्षकों का सबसे ज़्यादा ज़ोर इस बात पर रहता है कि वे शुद्ध भाषा सिखाकर रहेंगे तो यह शुद्ध भाषा सिखाना आपका मक़सद नहीं है क्योंकि भाषा सिखाने वाले तो आप हैं ही नहीं।

फ़ैयाज़ : मगर कुछ लोग यह कहते हैं कि जब हिन्दी पढ़ा रहे हैं तो हिन्दी होनी चाहिए शुद्ध हिन्दी। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा में एक जगह लिखा है– ''यह आवश्यक है कि शुरुआती वर्षों की शिक्षा में वही भाषा प्रयोग में लाई जाए, जिससे बच्चा अपने परिवेश से

परिचित हो।'' इसका मतलब है कि उनके आम जीवन में, जो घर में बोली जा रही हो, उसके आसपास में, दोस्तों के जरिए बोली जा रही हो, वही भाषा वे बोलेंगे। अगर वहाँ वे शुद्ध बोलेंगे या शुद्ध को परिभाषित करने की बात करेंगे या मानकीकरण की बात होने लगेगी तो ऐसे में बच्चे की शिक्षा का क्या हाल होगा, बच्चे कहाँ तक समझ पाएँगे।

अपूर्वानंद : मानकीकरण की बात को लेकर बहुत बहस चल रही है। आप कहाँ-कहाँ मानकीकरण करते हैं? जब आप साहित्य की बात करते हैं तो मानकीकरण की बात बेमानी हो जाती है, क्योंकि कोई मानकीकृत भाषा नहीं है जिसमें साहित्य रचा जाए। कृष्णा सोबती की हिन्दी, कृष्णा सोबती की हिन्दी है, श्रीलाल शुक्ल की हिन्दी, श्रीलाल शुक्ल की है। राही मासूम रज़ा की हिन्दी, राही मासूम रजा की हिन्दी है। फणीश्वर नाथ रेणु की हिन्दी, फणीश्वरनाथ रेणु की हिन्दी है।

अगर हम यह कहते हैं कि प्रेमचंद की हिन्दी मानकीकृत हिन्दी है, तब सारा साहित्य ख़ारिज हो जाता है। फणीश्वर नाथ रेणु की कोई जगह नहीं होगी। नागार्जुन की कोई जगह नहीं होगी। अमृतलाल नागर की कोई जगह नहीं होगी। श्रीलाल शुक्ल की कोई जगह नहीं होगी। कृष्णा सोबती की तो बात ही आप छोड़ दें। क्योंकि कृष्णा सोबती की हिन्दी पंजाबी के रंग में रंगी हुई है।

अब अगर आप भाषा विज्ञान के लिहाज़ से देखें तो जो मानी गई बात है वह यह है कि आप जिसे मातृभाषा कहते हैं या हम उसे मातृभाषा न कहें, यह कहें कि वह घर की भाषा है या पास-पड़ोस की भाषा है तो उसका हस्तक्षेप, अगर कोई भी भाषा आप सीख रहे हैं, तो उसमें अनिवार्यतः होता है। पहले तो इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए। उसे शुद्धता और अशुद्धता के दायरे से बाहर रखा जाना चाहिए। मैंने कहा कि अगर आप साहित्य की बात कर रहे हैं तो मानकीकरण की बात बेमानी है और बेतुकी है। दो लेखकों की भाषा एक जैसी नहीं होती है। कोई यह माँग नहीं करता श्रीलाल शुक्ल से या मनोहर श्याम जोशी से कहें कि आप प्रेमचंद की हिन्दी में लिखिए। उन्हें बेवकूफ माना जाएगा। यह माना जाएगा कि उनको पता नहीं कि साहित्य क्या चीज़ है। उसी तरह क्या आप गणित एक ही प्रकार की हिन्दी में पढ़ाएँगे? मसलन अगर आपका मकसद यह है कि आप झारखण्ड के उस इलाके में जहाँ बच्चों ने कभी शिक्षा नहीं प्राप्त की, वहाँ आप शिक्षा का काम करें, तब क्या आप इस बात की ज़िद करेंगे कि गणित उनको संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में पढ़ाएँगे? या आप गणित पढ़ाने के लिए एक ऐसी भाषा ईजाद करेंगे जो उनके स्थानीय शब्दों और न सिर्फ़ शब्दों बल्कि उनके स्थानीय रूपकों और स्थानीय कल्पनाओं से जुड़ी हुई भाषा हो।

अब अगर आप भाषा विज्ञान के लिहाज से देखें तो जो मानी गई बात है वह यह है कि आप जिसे मातृभाषा कहते हैं या हम उसे मातृभाषा ना कहें, यह कहें कि वह घर की भाषा है या पास-पड़ोस की भाषा है तो उसका हस्तक्षेप, अगर कोई भी भाषा आप सीख रहे हैं, तो उसमें अनिवार्यतः होता है। पहले तो इस बात को स्वीकार किया जाना चाहिए। उसे शुद्धता और अशुद्धता के दायरे से बाहर रखा जाना चाहिए।

जब एनसीएफ - 2005 प्रकाशित हुआ, उसके बाद शिक्षा पर काम करने वाले कुछ लोगों ने इसकी खूब आलोचना की। फिर विनती पाण्डा ने एक लेख लिखा। जिसमें उन्होंने कहा कि ''गणित की शिक्षा भी समरूपी नहीं हो सकती।'' अगर आप पूरे भारत में गणित की भी एकरूपी शिक्षा लागू करेंगे तो यह तय मानिए कि उस गणित में आदिवासी बच्चे फेल हो जाएँगे। इसलिए अगर गणित की मानकीकृत शिक्षा पर भी सवाल है तो भाषा एक अत्यन्त ही स्थानीय क्रिया है। पिछले दो साल से यह बहस देखी जा रही है जिसमें शिक्षामंत्री यह कहते हैं कि पूरे भारत में विज्ञान

और गणित का समरूप पाठ्यक्रम लगाया जाना चाहिए। इसे लेकर शिक्षाशास्त्री भिन्न मत रखते हैं। तो फिर भाषा, जैसा कि मैंने कहा वो तो अत्यन्त स्थानीय सन्दर्भों में गुंथी हुई होती है, उसके किसी एक मानकीकृत रूप की कल्पना भी आप कैसे कर सकते हैं। हाँ, जब आप आगे बढ़ जाते हैं, जब वैज्ञानिक शब्दों की बात कहने लगते हैं, दूसरे तकनीकी शब्दों की बात करने लगते हैं, उनमें ज़रूर कुछ मानकीकृत शब्द खोजने का प्रयास किया जाए। यह कोशिश की जा रही है और यह हिन्दी में भी हुआ है। यह कितना सफल या असफल हुआ है, यह अलग बात है। मसलन अगर लैटिन शब्दों को अंग्रेज़ी में मान लिया गया कि वे हैं या अन्य जगहों पर भी मान लिया गया है।

फ़ैयाज़ : जैसे 'लाठी चार्ज' अब अंग्रेज़ी के शब्द-कोश में शामिल हो गया है।

अपूर्वानंद : हाँ, तो 'लाठी चार्ज' आ गया है। 'पण्डित' बहुत पहले से है। 'जंगल' बहुत पहले से है। 'बाज़ार' बहुत पहले से है, क्योंकि हमारा सवाल यह था कि मानकीकृत भाषा कब से आए? यहाँ इस बिन्दु पर, कम से कम मेरा यह मानना है कि प्राथमिक शिक्षा में आप मानकीकृत भाषा की चर्चा ही नहीं कीजिए। भाषा की कक्षा का जो काम है, वह यह है कि आप भाषा के अलग-अलग रूपों से, उसके अलग-अलग शब्दों से और उसकी अलग-अलग छटाओं से छात्रों को परिचित कराएँ, यह आपका काम है।

मेरे एक मित्र हैं प्रोफेसर रमाकांत अग्निहोत्री, वह भाषाशास्त्री हैं। वह एक बहुत अच्छा रूपक प्रस्तुत करते हैं। वह कहते हैं कि भाषा की शिक्षा एक तरह से, अगर आप उसको पर्वतारोहण के रूपक में समझने की कोशिश करें तो जब आप ज़मीन के आसपास होते हैं तो ऑक्सीजन काफ़ी होती है। यानी जब आप प्राथमिक स्तर पर हैं तो आपकी जो भाषा की कक्षा होगी वह स्थानीय सन्दर्भों से भरी होगी। लेकिन जैसे-जैसे आप ऊपर चढ़ते जाते हैं, वे स्थानीय सन्दर्भ कम होते जाते हैं। क्यों? क्योंकि आपका क्षितिज विस्तृत होता चला जाता है। ऐसा नहीं है कि आप स्थानीय सन्दर्भ से हट गए, लेकिन आप एक तरह से ऊपर चढ़ रहे हैं तो आपका क्षितिज विस्तृत हो रहा है। यानी (जिसको मैंने कहा था सार्वभौमिकता और स्थानीयता का एक द्वंद्व या एक तनाव) आप जब ऊपर चढ़ते हैं तो आप तनाव का अनुभव करते हैं। आपके पूरे स्नायुतंत्र पर उसका असर पड़ता है और आप महसूस करते हैं कि ऑक्सीजन कम हो गई है। ऑक्सीजन कम हो रही है का मतलब कि स्थानीय सन्दर्भ अब आपके पास कम हो गए हैं। तब आप उन स्थानीय सन्दर्भों की कमी को पूरा कैसे करते हैं? तब आप दूसरी चीज़ें लाते हैं। यानी आप किताबें लाते हैं, पुस्तकालय लाते हैं, सन्दर्भ ग्रन्थ लाते हैं, जिस तरह आप ऑक्सीजन का एक सिलेण्डर अपने मुँह पर लगाते हैं। अब आप उस पर चढ़ते चले जाते हैं। बिना ऑक्सीजन के आप उस बिन्दु तक नहीं पहुँच सकते जहाँ ऑक्सीजन की बहुत कमी है।

> अगर आप साहित्य की बात कर रहे हैं तो मानकीकरण की बात बेमानी है और बेतुकी है। दो लेखकों की भाषा एक जैसी नहीं होती है। कोई यह माँग नहीं करता। श्रीलाल शुक्ल से या मनोहर श्याम जोशी से कहें कि आप प्रेमचंद की हिन्दी में लिखिए। उन्हें बेवकूफ माना जाएगा। यह माना जाएगा कि उसको पता नहीं कि साहित्य क्या चीज़ है। उसी तरह क्या आप गणित एक ही प्रकार की हिन्दी में पढ़ाएँगे?

इसका मतलब कि बिना सन्दर्भ ग्रन्थों के, बिना किताबों के, बिना सहायक सामग्री के आप शिक्षा के दूसरे स्तर या तीसरे स्तर तक नहीं पहुँच सकते। मैं उच्चतर, निम्नतर की बात नहीं कर रहा हूँ। लेकिन मुझे यह रूपक इसलिए पसन्द है क्योंकि इसमें आप इस यात्रा को देख सकते हैं और इसमें धीरे-धीरे सन्दर्भ जो पहले आपके पास आसानी से हासिल थे, मुहैया कराना भी नहीं कहेंगे, जो आपके पास थे, वे अब नहीं रह जाते हैं और आप उनकी कमी को

पूरा करते हैं। इसीलिए प्राथमिक स्तर पर आप इन स्थानीय सन्दर्भों और संसाधनों का कितना सृजनात्मक इस्तेमाल करते हैं, इसमें शिक्षक की सृजनात्मकता भी देखी जाएगी, उसकी रचनात्मकता भी देखी जाएगी। और उसी में यह तय होगा कि बच्चे कितना आश्वस्त हैं और कक्षा में कितना इत्मीनान महसूस कर रहे हैं।

अगर आप आरम्भिक कक्षा में एक बच्चे की उत्तर पुस्तिका को लाल रंगों से भर देते हैं या जब कोई बच्ची बोलने के लिए खड़ी होती है और मान लीजिए जैसे ही वह बोलती है, ''मास्टर साहब वह भाग गया।'' अगर उसकी जगह वह कहे कि ''मास्टर साहब वह पड़ा गया'' और आप कहें ग़लत है। अगर आप वैसा करने की जगह ब्लैक बोर्ड पर ''पड़ा गया'' लिखते हैं और उसकी जगह ''भाग गया'' लिखते हैं, तो यह एक औसत हिन्दुस्तानी कक्षा होगी। फर्ज़ कीजिए, दिल्ली की एक कक्षा है और इस कक्षा में भागलपुर से आया हुआ बच्चा बैठा हुआ है। वह इस शब्द का इस्तेमाल करता है। यह शब्द ज़ाहिर है कि पंजाबी बोलने वाले को नहीं मालूम है। उसे इस शब्द पर हँसी भी आ सकती है। लेकिन ऐसे शब्द से खुद उसके शब्द भण्डार में इज़ाफ़ा हो सकता है। यहाँ प्रश्न यह है कि अगर आप हिन्दी पढ़ा रहे हैं तो बच्चा उस हिन्दी को जिसे आप पढ़ा रहे हैं, उसके संसार में दाखिल हो पा रहा है कि नहीं? वह बच्चा, भागलपुर से आया हुआ ''अंगिका'' बोलने वाला बच्चा है या अवध क्षेत्र से आई हुई अवधी बोलने वाली बच्ची है या पंजाबी बोलने वाला कोई बच्चा है, ये सब बच्चे हिन्दी की संरचना में साथ-साथ प्रवेश कर रहें हैं। और जिनको हम 'हिन्दी भाषी' कहते हैं वे सब भी किसी न किसी अन्य भाषा के साथ ही कक्षा में आते है।

> मेरी यह समझ है, जो राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 में भी व्यक्त की गई है कि आदर्श स्थिति यह है कि पाठ्यपुस्तकें स्थानीय स्तर पर तैयार हों। आदर्श स्थिति तो यह है कि हर स्कूल अपनी पाठ्यपुस्तकें तैयार करे। लेकिन आप जानते हैं कि यह कई कारणों से व्यावहारिक नहीं है। परन्तु ऐसा किया जा सकता है, चूँकि भारत इतना बड़ा देश है यहाँ आप कुछ क्षेत्र बना लें और उन क्षेत्रों के आधार पर आप पाठ्यपुस्तक तैयार करने का काम करें।

इस तथ्य से इंकार नहीं कर सकते कि हम में से प्रायः सभी द्विभाषी हैं। आप घर में या तो मैथिली बोलते हैं या भोजपुरी या कुछ और बोलते हैं। मान लीजिए आप इतने सभ्य हो चुके हैं कि घर में आप अपने माँ-बाप से भोजपुरी वग़ैरह में बात नहीं करते हैं। जब आप गाँव जाते हैं तो आप चाहें या न चाहें आप दो भाषाओं या बोलियों का प्रयोग करते हैं। इसका मतलब कि आप दो संसारों में एक साथ रहते हैं।

फ़ैयाज़ : पाठ्यपुस्तक तैयार करते समय भाषा सम्बन्धी किसी नीति की ज़रूरत है? और इस दिशा में सरकार द्वारा कोई निर्देश दिया जाना चाहिए या नहीं?

अपूर्वानंद : यह बहुत पेचीदा सवाल है, जैसा मैंने कहा कि यह जितना शिक्षा-शास्त्रीय प्रश्न है उतना ही राजनीतिक भी है, इसलिए यह पेचीदा है। आप भारत के बारे में जानते हैं। यहाँ शिक्षा समवर्ती सूची में है, इसलिए भारत में कोई केन्द्रीय दिशा निर्देश नहीं दिया जा सकता जिसे मानने के लिए राज्य बाध्य हो। जिस रूप में भारत का संघीय ढाँचा बना हुआ है, उसमें एक केन्द्रीय विभाग है जो शिक्षा देखता है, और एक संस्थान भी है जो प्राथमिक शिक्षा और माध्यमिक शिक्षा में शोध का काम करता है और शिक्षक प्रशिक्षण का भी काम करता है, वह है राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी)। एनसीईआरटी से हर पाँच साल में पाठ्यचर्या की एक रूपरेखा प्रस्तुत करने की उम्मीद की जाती है लेकिन आप यह भी जानते हैं कि वह बाध्य नहीं है। यह सिर्फ एक सुझाव है। आप कह सकते हैं कि वह एक शिक्षाशास्त्रीय ढाँचा है। प्रस्तावित किया जाता है कि इस ढाँचे में आप शिक्षा का

कारोबार चला सकते हैं। उसके आधार पर आप पाठ्यक्रम बनाते हैं और फिर पाठ्यक्रमों में आप जो लक्ष्य निर्धारित करते हैं, उनके आधार पर आप पाठ्यपुस्तक बनाते हैं।

एनसीईआरटी चार भाषाओं में संभवतः पाठ्यपुस्तकें बनाता है। उन पाठ्यपुस्तकों को राज्य सरकार अपने यहाँ लागू करेंगी या नहीं, यह पूरी तरह उन राज्यों का निर्णय है। उसी तरह राज्य सरकारों में राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एससीईआरटी) हैं। कई जगह माध्यमिक शिक्षा मण्डल है जैसे राजस्थान में, जो पाठ्यपुस्तकें तैयार करने का काम करते हैं। पाठ्यपुस्तकों के सन्दर्भ में मेरा जो सीमित अध्ययन है, वह यह है कि पाठ्यपुस्तक निर्माण को एक साथ एक राष्ट्रीय दायित्व और एक अत्यन्त ही गम्भीर काम माना जाता है, और साथ ही उसे शिक्षाशास्त्रीय नहीं माना जाता है। यानी उसमें पेशेवर दृष्टि नहीं रहती है और दूसरी तरफ वह इतना गम्भीर होता है कि उस पर सबकी निगाहें लगी होती हैं। जहाँ तक नीति का प्रश्न है वह शायद अनिवार्य नीति नहीं है। मुझे इसमें भी शक है कि पाठ्यपुस्तक को लेकर कभी किसी नीति के बारे में सोचा गया हो।

पाठ्यपुस्तक को जैसे ही आप एक केन्द्रीकृत सत्ता के द्वारा प्रदत्त किसी एक सामग्री के रूप में पेश करते हैं, वैसे ही बहुत सारे तनाव पैदा हो जाते हैं। इससे वह जितना शिक्षाशास्त्रीय मसला नहीं रहता उतना वह शक्ति से जुड़ा हुआ मसला बन जाता है। इसलिए हमारे यहाँ पाठ्यपुस्तकों को लेकर जो बहसें होती हैं, वह बहसें शिक्षाशास्त्रीय कम होती हैं, उनमें दूसरे संदर्भ ज़्यादा होते हैं। राजनीतिक संदर्भ ज़्यादा होते हैं।

मैं हमेशा यही कहता हूँ कि एक बहुत बड़ी कमी जो भारत की स्कूली शिक्षा की है वह यही है कि आप पीछे की बात छोड़ देते हैं। पिछले साठ सालों में इतनी बार पाठ्यपुस्तकें बनीं और बदली गईं, लेकिन उनके पीछे जो बहस है, हम नहीं जानते कि वे बहसें क्या हैं। मसलन पाठ्यपुस्तक समितियाँ बनती हैं, उनके बनने का आधार क्या है? पाठ्यपुस्तक समितियों में कौन–सी बहसें होती हैं? क्या बहसें होती हैं? किन सिद्धान्तों की चर्चा की जाती है? वे शिक्षाशास्त्रीय सिद्धान्त क्या हैं? हमें उनके बारे में कोई सूचना नहीं है क्योंकि किसी भी तरह का दस्तावेजीकरण हमारे यहाँ नहीं है। इस बात को मैं कई बार कह चुका हूँ कि इसके चलते शोध का काम बहुत कठिन होता है और आप किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते हैं। आप हमेशा कुछ ख़्याल ज़ाहिर कर सकते हैं।

मेरी यह समझ है, जो राष्ट्रीय पाठ्यचर्या 2005 में भी व्यक्त की गई है कि आदर्श स्थिति यह है कि पाठ्यपुस्तकें स्थानीय स्तर पर तैयार हों। आदर्श स्थिति तो यह है कि हर स्कूल अपनी पाठ्यपुस्तकें तैयार करे। लेकिन आप जानते हैं कि यह कई कारणों से व्यावहारिक नहीं है। परन्तु ऐसा किया जा सकता है, चूँकि भारत इतना बड़ा देश है यहाँ आप कुछ क्षेत्र बना लें और उन क्षेत्रों के आधार पर आप पाठ्यपुस्तक तैयार करने का काम करें। उसमें निश्चितता भी आएगी क्योंकि दिल्ली में बैठकर भागलपुर के बच्चे की दुनिया को समझना आपके लिए बहुत मुश्किल है। या मणिपुर के बच्चे की दुनिया को समझना बहुत मुश्किल है। इसलिए बेहतर होगा कि उस परिवेश के निकट पाठ्यपुस्तक बनाने का काम करें। पाठ्यपुस्तक को जैसे ही आप एक केन्द्रीकृत सत्ता के द्वारा प्रदत्त किसी एक सामग्री के रूप में पेश करते हैं, वैसे ही बहुत सारे तनाव पैदा हो जाते हैं। इससे वह जितना शिक्षाशास्त्रीय मसला नहीं रहता उतना वह शक्ति से जुड़ा हुआ मसला बन जाता है। इसलिए हमारे यहाँ पाठ्यपुस्तकों को लेकर जो बहसें होती हैं, वह बहसें शिक्षाशास्त्रीय कम होती हैं, उनमें दूसरे सन्दर्भ ज़्यादा होते हैं। राजनीतिक सन्दर्भ ज़्यादा होते हैं।

फ़ैयाज़ : तब यहाँ किसी नीति की क्या भूमिका रह जाती है। 1986 में जो राष्ट्रीय शिक्षा नीति लागू हुई थी उसकी भूमिका क्या है?

अपूर्वानंद : देखिए उसमें एक मुख्य तत्व की बात कही गई थी। वह हर पाठ्यपुस्तक में होना चाहिए। जब कोई भी राष्ट्र-राज्य जब बनता है, तब वह राष्ट्र राज्य, (क्योंकि वह राष्ट्र राज्य मेरे सामने कैसे मूर्त है या आपके मामले में कैसे मूर्त हैं) उसके पास जहाँ-जहाँ भी मौका होता है, वहाँ वह तरह-तरह से अपने आपको मूर्त करता रहता है। किसी भी राष्ट्र-राज्य के लिए पाठ्यपुस्तक अपनी अभिव्यक्ति का एक बहुत उपयोगी ज़रिया है, इसलिए वह उसके ज़रिए अपनी एक तस्वीर पेश करना चाहता है। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति को भी इसी नज़रिए से देखा जाना चाहिए कि उसमें जिन मुख्य तत्वों की बात की गई है वह हैं क्या? आप उन मुख्य तत्वों को देखिए तो आप समझ जाएँगे कि जब आप धर्मनिरपेक्षता की बात कर रहे हैं या किसी और चीज़ की बात कर रहे हैं तो यह रहना ही रहना चाहिए। इसका मतलब हम अपनी राष्ट्रीय कल्पना इन बिन्दुओं के आधार पर कर रहे हैं और हम चाहते हैं कि वह हर जगह शामिल रहें और उन सिद्धान्तों से हम विचलित न हों। तब ये आपके राष्ट्रीय उद्देश्य हैं जिन्हें शिक्षा के असल उद्देश्यों के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है और जब आप शिक्षा के उद्देश्यों की बात करते हैं तो उनको इन राष्ट्रीय उद्देश्यों से अलग रखना नामुमकिन है। आप उनको अलग कर नहीं सकते। इसलिए आप 1986 की शिक्षा नीति देख लें या उसके पहले की नीतियाँ देख लें, वे हमेशा राष्ट्र-राज्य की एक विशेष कल्पना को प्रस्तुत करती हैं। ये कुछ अनिवार्य सिद्धान्तों की, कुछ अनिवार्य बिन्दुओं की बात करती हैं, जो पाठ्यचर्या में और पाठ्यपुस्तकों में होने ही चाहिए। इसलिए आप यह ध्यान देंगे कि जब किताबें बनती हैं, मैं कई पाठ्यपुस्तकों की संरचना में शामिल रहा हूँ, तो देखता हूँ कि समितियाँ राष्ट्रभक्ति की कुछ कविताएँ उसमें देना ही चाहेंगी। फिर देखते हैं कि अच्छी-अच्छी तस्वीरें आनी चाहिए, उन तस्वीरों में मुसलमान चेहरे भी होने चाहिए, लड़कियाँ भी होनी चाहिए और अब चूँकि संवेदनशीलता बढ़ी है तो कहते हैं कि अलग-अलग शारीरिक क्षमताओं वाले लोगों के चित्र भी होने चाहिए। तो किताब बनाने वाले वहाँ उसको डालना चाहते हैं। यानी अगर पाठ्यपुस्तक दिखे तो उसमें एक तरह से आप जिनको शामिल कर रहें है, उन सबको राष्ट्र के अंग के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। इसलिए अब चेहरे भी बनाते हैं। आप देख लीजिए कि पहले चेहरे के नाक नक्शे क्या होते थे ? आँखें कैसे होती थीं? उनका रंग क्या होता था? उनका पहनावा क्या होता था? अब क्या कोई फर्क आया है पिछले 20 साल की किताबों में? आपको फर्क बहुत साफ दिखलाई पड़ता है। अब आदिवासी बच्चों को भी शामिल किया जाता है, क्योंकि राष्ट्र-राज्य इसको लेकर बहुत बेचैन है कि उनको यह अहसास दिलाया जा सके कि वो यहाँ हैं। यह प्रक्रिया आपको बाकी जगहों पर भी दिखलाई देगी। जैसे अब आपको टेलीविज़न पर उत्तर पूर्व के चेहरे बहुत दिखलाई पड़ेंगे। जो आज से बीस साल पहले नहीं थे। उसी तरह आप जब विमानों में जाएँगे तो देखेंगे कि एयर होस्टैस या जो होस्ट हैं, उनमें उत्तर पूर्व के भी चेहरे दिखलाई पड़ेंगे। उसमें आदिवासी भी अब दिखलाई पड़ रहे हैं। तो यह प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। इसमें आप सबको शामिल करते हैं। जब आप सबको शामिल कर रहे हैं तो यह कैसे कह सकते हैं कि भाषा की दुनिया से आप इन सब की अभिव्यक्तियों को हटा दें, और कहें कि नहीं यह भाषा इन सबकी है।

आप देख लीजिए कि पहले चेहरे के नाक नक्शे क्या होते थे ? आँखें कैसे होती थीं ? उनका रंग क्या होता था ? उनका पहनावा क्या होता था ? अब क्या कोई फर्क आया है पिछले 20 साल की किताबों में ? आपको फर्क बहुत साफ दिखलाई पड़ता है। अब आदिवासी बच्चों को भी शामिल किया जाता है, क्योंकि राष्ट्र-राज्य इसको लेकर बहुत बेचैन है कि उनको यह अहसास दिलाया जा सके कि वो यहाँ हैं।

फ़ैयाज़ : अकादमिक भाषा और बोलचाल की भाषा को आप किस नज़रिए से देखते हैं?

अपूर्वानंद : यह तय है कि आप किसी भी ऐसी जगह प्रवेश करते हैं जो औपचारिक स्थान है, तो आपका व्यवहार करने का तरीका वह नहीं रह जाता है, जो अनौपचारिक जगह पर होता है। मसलन अपने घर में आप पालथी जमाकर बैठ सकते हैं या टाँग फैलाकर टेबल पर बैठ सकते हैं। लेकिन आप अपने दफ्तर में वैसे नहीं बैठते। यहाँ तक कि हम यह जानते हैं कि जब हम एक दूसरे के साथ बैठे होते हैं तो हम एक पाँव के ऊपर दूसरा पाँव डालकर नहीं बैठते यह भी ख़्याल रखते हैं कि हमारा जूता किस तरफ़ है। आप जब एक औपचारिक स्थान में प्रवेश करते हैं तो आपका सारा लहज़ा बदल जाता है। भाषा भी एक लहज़ा है। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है। लेकिन भाषा एक अन्दाज़ भी है। कब लहज़ा बदल जाता है, यह हमें पता भी नहीं चलता कि वह कैसे बदला। वह, जो इस चीज़ को लेकर संवेदनशील हैं उनमें अनायास आते हैं क्योंकि वह भाषा के अलग-अलग स्तरों से बहुत अच्छी तरह से परिचित हैं। इसलिए उन्हें बहुत कठिनाई नहीं होती। लेकिन जो परिचित ही नहीं हैं उनके लिए कठिनाई ज़रूर है।

इसलिए भाषा की शिक्षा का काम यह है कि भाषा के जो विविध रंग हैं उनको आप छात्रों के सामने कितना ज़्यादा खोलते हैं। अगर आप इसे अपना दायित्व मान लेते हैं तो आप एक बहुरंगी दुनिया उनके सामने खोलने में मेहनत करेंगे यानी आप भाषा के अनेक प्रकार के अनुभवों से उन्हें परिचित कराएँगे, जिनसे वे अपने आप परिचित नहीं हो पाए हैं। इसलिए हम जब किताब बनाते हैं तो उसमें हम तरह-तरह के नमूने रखते हैं। मसलन मैं हिन्दी का अध्यापक हूँ, हिन्दी का पाठक हूँ। मैं अगर एक किताब बनाऊँगा तो उसमें फणीश्वर नाथ रेणु की भाषा भी रखूँगा, मैं उसमें कृष्णा सोबती की भाषा भी रखूँगा, मैं उसमें प्रेमचंद की भाषा भी रखूँगा, मैं उसमें अज्ञेय की भाषा भी रखूँगा। जिससे भाषाओं के अलग-अलग अन्दाज़, अलग-अलग छटाएँ और अलग-अलग रंग से बच्चे परिचित हो सकें।

हम जब किताब बनाते हैं तो उसमें हम तरह-तरह के नमूने रखते हैं। मसलन मैं हिन्दी का अध्यापक हूँ, हिन्दी का पाठक हूँ। मैं अगर एक किताब बनाऊँगा तो उसमें फणीश्वर नाथ रेणु की भाषा भी रखूँगा, मैं उसमें कृष्णा सोबती की भाषा भी रखूँगा, मैं उसमें प्रेमचंद की भाषा भी रखूंगा, मैं उसमें अज्ञेय की भाषा भी रखूँगा। जिससे भाषाओं के अलग-अलग अंदाज, अलग-अलग छटाएँ और अलग-अलग रंग से बच्चे परिचित हो सकें।

इस तरह आप यह कह सकते हैं कि पाठ्यपुस्तक एक तरह की खिड़की है या आप यह भी कह सकते हैं कि पाठ्यपुस्तक एक ऐसी चीज़ है जिसमें आप बहुत सारे संकेत छोड़ते हैं और आप यह अपेक्षा करते हैं कि बच्चों में इसको लेकर दिलचस्पी पैदा होगी। आपने जो सूत्र वहाँ छोड़े हैं, जिनका सिरा वहाँ पाया है, उसको पकड़कर वे आगे बढ़ जाएँगे। हो सकता है किसी ने पाठ्यपुस्तक में रेणु की रचना पढ़ी हो और उसकी वज़ह से अब वह रेणु का पूरा साहित्य ही पढ़ ले। मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय में पीएचडी की एक छात्रा को रेणु की भाषा से जूझते हुए देखा है। इसका मतलब यह है कि पीएचडी तक रेणु की भाषा से उसका सामना नहीं हुआ। जब अचानक वह रेणु पर पीएचडी करने लगती है तो उनका एक उपन्यास भी नहीं पढ़ पाती है। इसका अर्थ यह कि स्कूली शिक्षा में उसको रेणु से रूबरू नहीं कराया गया। यहाँ यह उस स्कूली शिक्षक की असफलता है।

फ़ैयाज़ : बोली जाने वाली भाषा की एक संरचना होती है और लिखित भाषा की एक अलग संरचना होती है। इन असमानताओं का समाधान कैसे किया जा सकता है?

अपूर्वानंद : देखिए मैं भाषा या शिक्षण का

विशेषज्ञ तो हूँ नहीं। इसलिए मैं इसके तकनीकी पहलू पर बात करने में असमर्थ हूँ। लेकिन अगर हम अपने अनुभवों को ताज़ा करने की कोशिश करें, उनको देखने की कोशिश करें तो, हम कैसे लिखते थे? लिखा कैसे जाता है? तो पाते हैं कि लिखना एक औपचारिक प्रक्रिया है। लेकिन जिसको आप लिखना कहते हैं वह है क्या?

भारत में यही दिक्कत है कि पढ़ना और लिखना, इन दो दक्षताओं पर स्कूली शिक्षा में बहुत कम ध्यान दिया जाता है। आप पढ़ते हैं तो पढ़ने का मतलब क्या होता है? और जब आप लिखने लगते हैं, तो लिखने का क्या मतलब होता है? अक्सर पढ़ने में यह माना गया है कि एक चीज़ है जो पहले से मौजूद है और हमारा काम है उसको सिर्फ़ दोहरा देना। जबकि जब आप लिखते हैं तो उसमें आप शामिल होते हैं। खुद आपके ख़यालात शामिल होते हैं। इसलिए आप लिखने में दूसरों के विचारों को तो शामिल करते ही हैं, साथ ही साथ आप बहस भी करते हैं। व्यवस्था देना, तर्क करना, ये सारे ऐसे कौशल हैं जो आप लिखने के दौरान सीखते हैं। इसलिए जब अलग-अलग प्रकार का लेखन होता है तो हमारी भाषा अलग-अलग तरह की होती है। इसीलिए जब हम भाषा शिक्षण कहते हैं तो उसमें पत्र लेखन आता है, आवेदन लिखना आता है। उस समय आप यह नहीं कहते कि म्युनिसिपैलिटी के अधिकारी को आवेदन आप वैसे ही लिखेंगे जैसे दोस्त को ख़त लिखते हैं। आप ऐसा नहीं करते हैं। यही तो आपको सिखाना है। आपको उसे भाषा नहीं सिखाना है। भाषा के जो अलग-अलग रूप हैं, ये जो औपचारिक अवकाश है, जो औपचारिक जगह है, इन औपचारिक जगहों में अन्दाज़ कैसे बदल जाते हैं, यह सिखाना है।

अक्सर पढ़ने में यह माना गया है कि एक चीज़ है जो पहले से मौजूद है और हमारा काम है उसको सिर्फ़ दोहरा देना। जबकि जब आप लिखते हैं तो उसमें आप शामिल होते हैं। खुद आपके ख़यालात शामिल होते हैं। इसलिए आप लिखने में दूसरों के विचारों को तो शामिल करते ही हैं, साथ ही साथ आप बहस भी करते हैं। व्यवस्था देना, तर्क करना, ये सारे ऐसे कौशल हैं जो आप लिखने के दौरान सीखते हैं।

फ़ैयाज़ : चूँकि आप पाठ्यपुस्तक के निर्माण से जुड़े रहे हैं तो सवाल यह है कि यह कैसे तय किया जा सकता है कि किसी पाठ्यपुस्तक की कौन-सी भाषा एक विशेष आयु के बच्चे के लिए उचित या उपयुक्त है?

अपूर्वानंद : सामान्यतः यह कहना बहुत कठिन है। अगर आपने आयु विशेष और परिवेश विशेष का अध्ययन किया है तो आप जानते होंगे कि कौन-सी भाषा उपयुक्त है। यह बहुत कुछ अनुभव से भी जाना गया है। मसलन आप किन शब्दों का प्रयोग करेंगे, जिससे पाठ को समझने में बच्चे को परेशानी न हो। लेकिन क्या आप सिर्फ़ उन्हीं शब्दों का प्रयोग करेंगे जो बच्चे के पास पहले से मौजूद हैं या आप बच्चे को एक चुनौती भी देंगे? बच्चे हमेशा चुनौती पसन्द करते हैं। खेलने में भी और बाकी चीज़ों में भी। अगर आप उनको आसान समस्याएँ दे रहे हैं तो वे ऊब जाते हैं। अगर आप सिर्फ़ एक चीज़ को दोहरा रहे हैं तो दोहराना भी एक प्रक्रिया है सीखने की। सीखने की प्रक्रिया का एक हिस्सा है। मगर आप हमेशा एक ही चीज़ बच्चों के साथ करते हैं तो वह बच्चा बहुत जल्दी थक जाता है और ऊब जाता है। बच्चे को एक चुनौती महसूस नहीं होती। यही बात भाषा शिक्षण के साथ है। आप उसे हमेशा चुनौती के नए स्तर पर ले जाने की कोशिश करते हैं। पाठ्यपुस्तक बनाने वाले को अब इस चीज़ का समाधान करना है कि वह चुनौती के स्तर का निर्धारण कैसे करे? जो शिक्षक पाठ्यपुस्तक और बच्चे के साथ काम कर रहा है, उसको तय करना है कि बच्चा इस पाठ्यपुस्तक की दुनिया के साथ रिश्ता कैसे बनाएगा, वह उस रिश्ते को आसान कैसे करेगा, पहली बात तो यह है कि वह पाठ्यपुस्तक प्रारम्भिक है भी या नहीं?

मैंने अपनी बच्ची के स्कूल में किताब देखी, निहायत ही घटिया किताब थी। लेकिन स्कूल के सारे शिक्षकों का मानना था कि वह एक बहुत अच्छी किताब है। यानी वह किताब एनसीईआरटी की किताब से भी बेहतर है। उसमें जो भाषा थी वह ज़ाहिर है बहुत ही संस्कृतनिष्ठ भाषा थी। शायद इसलिए उसको बेहतर माना जा रहा था। लेकिन उसके पाठ बहुत घटिया थे।

तो मैं बात कर रहा था कि आप चुनौती की कल्पना कैसे कर रहे हैं? यह भी एक प्रश्न है। इसका एक सम्बन्ध तो इसमें है कि भाषा की हमारी समझ क्या है? सारा कुछ इससे ही जाकर जुड़ जाता है। अगर हमारी भाषा की समझ यह है कि हिन्दी वह है जिसमें बाहरी शब्द नहीं आने चाहिए, बाहरी अभिव्यक्तियाँ नहीं आनी चाहिए, तो फिर इसके लिए बाहर कहाँ से आया? बाहर और भीतर यह कहाँ से आए?

मैंने अपनी बच्ची के स्कूल में किताब देखी, निहायत ही घटिया किताब थी। लेकिन स्कूल के सारे शिक्षकों का मानना था कि वह एक बहुत अच्छी किताब है। यानी वह किताब एनसीईआरटी की किताब से भी बेहतर है। उसमें जो भाषा थी वह ज़ाहिर है बहुत ही संस्कृतनिष्ठ भाषा थी। शायद इसलिए उसको बेहतर माना जा रहा था। लेकिन उसके पाठ बहुत घटिया थे।

पिछली बार जब राष्ट्रीय पाठ्यक्रम बनने लगा और व्याकरण की बात होने लगी तो नामवर सिंह ने प्रस्तावित किया कि अब तक व्याकरण में हम लोग जो विभाजन करते रहे हैं, वो शब्दों का विभाजन कैसे आया है? तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशज। यह एक बाकायदा श्रेणी है। इसमें आप कुछ शब्दों को हमेशा के लिए बाहर का कहते हैं। कुछ शब्दों को आप देशज कहते हैं। जन्म के आधार पर आप शब्दों की श्रेणी निर्धारित कर रहे हैं। इस तरह भाषा में भी एक तरह का जाति-विभाजन कर देते हैं। तत्सम् तो है वह जो ब्राह्मण है। यह जो जाति विभाजन है, इसको नामवर सिंह ने कहा कि व्याकरण से हटा देना चाहिए और अभी जो पाठ्यक्रम है, एनसीईआरटी के द्वारा प्रस्तावित, उसमें यह वर्गीकरण नहीं है। तत्सम्, तद्भव, देशज, विदेशज। कमीज़ हिन्दी का शब्द है या नहीं? मेज़ हिन्दी का शब्द है या नहीं? टेबल हिन्दी का शब्द है या नहीं? तो क्या सारा झगड़ा शब्दों पर है? ''मैं टेबल पर रखे एक सादे कागज़ को उठाता हूँ और क़लम से उस पर लिखना शुरू करता हूँ।'' इसमें कौन-सा शब्द है जो शुद्ध हिन्दी का है?

फ़ैयाज़ : मेरे ख़्याल से तो कोई नहीं?

अपूर्वानंद : तो यह हिन्दी का वाक्य है कि नहीं है?

फ़ैयाज़ : सवाल तो यही है।

अपूर्वानंद : ''तुमने हरे रंग की कमीज़ पहन रखी है।'' कमीज़ कहाँ से आई? ''तुम बस से उतरकर रिक्शे पर बैठकर चले आ रहे हो।'' न तो रिक्शा शुद्ध हिन्दी है, न बस है। तो आप क्या करेंगे? हिन्दी का वाक्य इसको कैसे बनाएँगे?

फ़ैयाज़ : मैं इस सन्दर्भ में फिर से एनसीएफ-05 को उद्धृत करना चाहूँगा। उसमें एक वाक्य लिखा है– ''चिड़ियों की चोंच का आकार अनुकूलन में किस प्रकार से सहायता देता है?'' एनसीएफ के अनुसार यह होना चाहिए; ''अपने पड़ोस में दिखने वाली साधारण चिड़ियों की चोंच का चित्र बनाओ। उसकी चोंच के आधार पर वर्णित करो कि उसकी भोजन की आदतें क्या होंगी? और तुम्हारे पड़ोस में उसे वैसा भोजन कहाँ से मिल पाएगा?'' इससे नहीं लगता कि भाषा वैसी हो जो आसानी से समझ में आए? हाँ ये भी ज़रूरी है कि एक समय के बाद बच्चों को नए-नए शब्दों से परिचित कराना चाहिए। लेकिन जो उन्हें समझ ही में नहीं आए वैसी भाषा का प्रयोग कहाँ तक उचित है?

अपूर्वानंद : दो सवाल हैं, आप चाहते क्या हैं? आप ''अनुकूलन'' की प्रक्रिया को समझाना चाहते हैं? अगर आपकी दिलचस्पी इसमें है तब तो आप वह करेंगे जो यहाँ सुझाया गया है कि

आप चिड़िया की चोंच को देखिए उसके आकार को देखिए और यह देखिए कि उसकी चोंच के चलते उसके खाने-पीने के तरीके प्रभावित कैसे होते हैं और इसी को अनुकूलन कहते हैं। यह जो चोंच है यह अनुकूलित कर रही है, यहाँ इस शब्द में पूरी अवधारणा है। शब्द का मतलब खाली शब्द नहीं है, जिसको उसे पढ़ना है। शब्द का मतलब है पूरी अवधारणा और अवधारणा काफी जटिल है।

''बैठना'' ही अपने आप में एक जटिल अवधारणा है। अगर ''बैठना'' को आप खोलना शुरू करें कि बैठना है क्या? या खड़ा होना क्या है? तो यह ख़ासी पेचीदा प्रक्रिया है। खड़ा होना या चलना या बैठना जिन पर आप घंटों बात कर सकते हैं। आप बैठते कैसे हैं? किसको आप बैठना कहेंगे? इसी तरह अनुकूलन में एक पूरी अवधारणा छिपी है। उस अवधारणा को खोल कर ही आप ''अनुकूलन'' शब्द को बच्चे का शब्द बना सकते हैं। वरना अगर आप यह ज़िद करेंगे कि तुम उस वाक्य को पढ़ो। तो बच्चा रट लेगा क्योंकि उसको पता है कि शिक्षक बहुत जिद्दी हैं। शिक्षक इसके बिना मानेंगे नहीं तो वह शिक्षक को बेवकूफ बनाना जानता है। मेरी बेटी भी बोलती है कि रट्टा मारना है, रट्टा मार लिया। जिस तरह वह बोलती है कि रट्टा मारना है, उसी से मालूम होता है कि वह बहुत मारती है। वह उसको एक अर्थपूर्ण गतिविधि नहीं मानती। लेकिन जो एनसीएफ प्रस्तावित कर रहा है, उसका अर्थ यह है कि आपको एक इत्मीनान की जगह बनानी है। उसमें थोड़ी मेहनत लगती है। 'अनुकूलन' लिखने में उतनी मेहनत नहीं लगती है जितना यह सोचने में कि अनुकूलन अवधारणा को हम कैसे समझाएँ? कैसे स्पष्ट करें? एक शब्द पूरी अवधारणा है, पूरी कल्पना है। जब तक आप उस कल्पना की दुनिया में उस बच्चे को नहीं ले जाते हैं वह शब्द उसके लिए अज़नबी है। आप कितना ही रटा दें, वह भूल जाएगा। दस दिन बाद उस शब्द को वह भूल जाएगा।

> जब हम हिन्दी की किताब बनाते हैं तो हम ज़रूरी मानते हैं कि उसमें कुछ लेखक हों ही, जैसे सूरदास, तुलसीदास, रहीम खानखाना। परेशानी क्या है ? परेशानी यह है कि अब यह भाषाएँ हमसे काफी दूर हो चुकी हैं। इनके ज़्यादातर पढ़ने वाले बच्चे-बच्चियां इनसे काफी दूर हैं। इससे जुड़ी हुई दूसरी परेशानी यह है कि अब ऐसे शिक्षक भी धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं जो इन भाषाओं को अच्छी तरह से जानते हों।

फ़ैयाज़ : हमें कई चीज़ें बहुत परेशान करती हैं, जब हम अलग-अलग राज्यों के पाठ्यक्रम देखते हैं, मसलन, कक्षा 4 की किताब लेते हैं जो भाषा उत्तराखण्ड की पाठ्यपुस्तक में है, वो राजस्थान से अलग है। बिहार की पाठ्यपुस्तक से अलग है। उत्तर प्रदेश की पाठ्यपुस्तक से अलग है। सबके अलग-अलग स्तर हैं। प्रस्तावना में लिखा जाता है कि भाषा का इस्तेमाल क्रमानुक्रम पैटर्न (Incremental pattern) में आगे बढ़ता है। लेकिन जब खोल कर देखते हैं तो बहुत अज़ीब सी चीज़ें दिखाई देती हैं। अगर हम भारतवर्ष की बात करें तो बिहार में कक्षा 4 के बच्चे की जो आयु है, वही लगभग 2 से 4 महीने आगे पीछे राजस्थान में है। बिहार के मुकाबले राजस्थान की कक्षा चार की भाषा ज़्यादा क्लिष्ट है। एक दूसरा उदाहरण है, उत्तराखण्ड की किताब से, उसमें 29 वाँ पाठ एक साधारण, बहुत ही आम-सी कविता है। लेकिन 9 वाँ पाठ में कबीर के दोहे हैं। मैं यहाँ यह नहीं कहता कि कबीर के दोहे इस्तेमाल करना ग़लत है। लेकिन क्या वो क्रमानुक्रम पैटर्न के अनुसार है? क्या इस तरह की कोई नीति है या पाठ्यपुस्तक बनाते समय इस तरह की बातों को ध्यान में नहीं रखना चाहिए?

अपूर्वानंद : उसमें दुविधाएँ कई प्रकार की हैं। इस पर बहस अभी तक खत्म नहीं हुई है। खुद मैं इस समय बहुत ज़्यादा कहने की स्थिति में नहीं हूँ, क्योंकि इनके पीछे कौन-से सिद्धान्त काम कर रहे हैं, इसका मेरे पास कोई अध्ययन

नहीं है। जब हम हिन्दी की किताब बनाते हैं तो हम ज़रूरी मानते हैं कि उसमें कुछ लेखक हों ही, जैसे सूरदास, तुलसीदास, रहीम खानखाना। परेशानी क्या है? परेशानी यह है कि अब यह भाषाएँ हमसे काफी दूर हो चुकी हैं। इनके ज़्यादातर पढ़ने वाले बच्चे-बच्चियाँ इनसे काफी दूर हैं। इससे जुड़ी हुई दूसरी परेशानी यह है कि अब ऐसे शिक्षक भी धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं जो इन भाषाओं को अच्छी तरह से जानते हों। मैं जब छोटा था तब रामचरितमानस और पूरे तुलसी जिनको कण्ठस्थ थे, ऐसे शिक्षक बहुत थे। अब ऐसे इक्का-दुक्का हैं। लेकिन हिन्दी की जो आत्मछवि है, उसके लिए यह अनिवार्य है। जैसा मैंने कहा कि एक राष्ट्र अपनी जो छवि बनाता है, उसमें धर्मनिरपेक्षता एक अनिवार्य तत्त्व है। उसी तरह हिन्दी की एक आत्मछवि है, उसकी कल्पना आप तुलसी या मीरा या कबीर के बिना नहीं करते हैं।

पाठ्यपुस्तक बनाने वाले की यह चिन्ता रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि जो बच्ची पाँचवीं कक्षा तक या छठी कक्षा तक हिन्दी पढ़ के निकले, उसके सामने हिन्दी की पूरी शक्ल ही न हो। इसलिए वे कबीर, तुलसी सबको उसमें देने की कोशिश करते हैं, ताकि, हिन्दी की पूरी एक दुनिया, हिन्दी की पूरी एक शक्ल उसके सामने हो और उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ वह आ जाए।

यह माना जाता है कि अगर एक बच्ची हिन्दी पढ़ के निकल रही है, क्योंकि बाहर निकलने के अलग-अलग स्तर हैं, मसलन एक स्तर माना जाता है कि पाँचवीं कक्षा में कुछ बच्चे निकल जाते हैं। कुछ आठवीं कक्षा तक निकल जाते हैं। कुछ दसवीं कक्षा में निकल जाते हैं। पाठ्यपुस्तक बनाने वाले की यह चिन्ता रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि जो बच्ची पाँचवीं कक्षा तक या छठी कक्षा तक हिन्दी पढ़ के निकले, उसके सामने हिन्दी की पूरी शक्ल ही न हो। इसलिए वे कबीर, तुलसी सबको उसमें देने की कोशिश करते हैं, ताकि, हिन्दी की पूरी एक दुनिया, हिन्दी की पूरी एक शक्ल उसके सामने हो और उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ के साथ वह आ जाए।

अब यह भी बहुत दिलचस्प है और कहें कि यह एक ऐसा क्षेत्र है जिस पर अध्ययन नहीं हुआ है जबकि इस पर अध्ययन होना चाहिए कि पाठ्यपुस्तक की संरचना कैसी हो? पहले आप कौन-से पाठ दे रहे हैं। बीच में आप कौन-से पाठ रखते हैं। अन्त में आप कौन-से पाठ रखते हैं। अगर पाठ्यपुस्तक की कल्पना एक भवन के रूप में की जाए या एक स्थापत्य के रूप में की जाए तो उसकी बनावट (architecture) क्या है? हम कब ये तय करते हैं कि कौन-से 1,2,3 पाठ होने चाहिए? 4, 5, 6, 7 आदि पाठ कौन होंगे? किताब खत्म कहाँ होगी? किस बिन्दु पर खत्म होगी? आप नाटक करते हैं, आप जानते हैं कि शुरुआत और अन्त दोनों का अपना-अपना महत्त्व होता है। रंगकर्मी बी.वी. कारन्त तो हमेशा कहते थे कि किसी नाटक की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह ख़त्म कहाँ होगा। निर्देशक को यह मालूम होना चाहिए कि नाटक ख़त्म कहाँ होगा? ख़त्म होने का मतलब पूरा हो जाना नहीं है। दर्शक को एक ऐसी स्थिति में लाकर छोड़ना कि उसे कलात्मक पूर्णता का एहसास करा दे। क्या यह दृष्टि पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में है? अक्सर नहीं रही है इसलिए पाठ्यपुस्तकें एक वैचारिक गड्डमड्ड पन की शिकार रहती है, जिसमें आपको जो आपकी दृष्टि में बहुत ही आसान है एकदम अन्त में दिखलाई पड़ेगा और एकदम शुरु में आपको दिखलाई पड़ेगा एक ऐसा पाठ जो मुश्किल है या उसकी दुनिया से बहुत दूर है। ऐसी हालत में स्कूल अलग-अलग तरीके अपनाते हैं। कुछ पाठों को वे बाद में पढ़ाते हैं और कुछ पाठों को वह पहले पढ़ाते हैं। आप अगर पाठ योजना देखें तो आप देखेंगे कि ज़रूरी नहीं कि वह उसी क्रम में पढ़ाया जाए जिस क्रम में वो पाठ्यपुस्तक में है। पहले तिमाही में कुछ और, दूसरी तिमाही में कुछ और, तीसरी तिमाही में कुछ और। पूरे साल यह आगे-पीछे चलता रहता है। ऐसा हिन्दी में ही

नहीं, अंग्रेजी में भी मैंने देखा है। यह कई चीज़ों पर निर्भर है, इसमें शिक्षक का भी निर्णय होता है। क्योंकि हमारे यहाँ पाठ्यपुस्तक बनाने को लेकर बहुत ज़्यादा पेशेवर रवैया नहीं अख़्तियार किया गया है और उसमें बहुत ध्यान नहीं दिया गया है इसलिए उसके स्थापत्य पर भी ध्यान नहीं दिया जाता है। इसलिए आपको हैरानी होती है। जब आप हिन्दी की किताब बना रहे हैं तो क्या आपके सामने अन्य राज्यों की किताबें रहती है? मुझे शक है इस पर।

फ़ैयाज़ : नहीं रहती हैं।

अपूर्वानंद : तो एक तुलनात्मक दृष्टि नहीं आ पाती है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि अन्य राज्यों की पुस्तकों से प्रभावित होकर वही डाला जाए इन सब पाठ्यपुस्तकों में भी। हर चीज़ एक शून्य में हो रही है। उसके बाद भी कहा जाता है कि नहीं साहब हम राष्ट्रीय परियोजना में शामिल नहीं होंगे। जब तक पाठ्यपुस्तक निर्माण की प्रक्रिया को ही ज़्यादा गम्भीरता से न लिया जाए तब तक आप इसका समाधान कैसे करेंगे।

> हमारे एक दोस्त खुर्शीद अनवर कहते हैं कि ''भई 'आवश्यकता' भी एक शब्द है और 'ज़रूरत' भी एक शब्द है। हमेशा हम 'ज़रूरत' नहीं बोलेंगे। जहाँ 'आवश्यकता' की ज़रूरत होगी वहाँ 'आवश्यकता' बोलेंगे और जहाँ 'ज़रूरत' की आवश्यकता होगी वहाँ हम 'ज़रूरत' बोलेंगे।'' यह आज़ादी मुझे रखनी चाहिए। मुझे जकड़ न दिया जाए या मुझे सीमित न कर दिया जाए कि मैं ज़रूरत ही बोलूँगा, आवश्यकता कभी नहीं बोलूँगा।

फैयाज : थोड़ा-सा अलग, लेकिन आजकल यह शब्द बहुत प्रचलित है– हिन्दुस्तानी। आजकल कुछ ज़्यादा ही इस्तेमाल करने लगे हैं। गाँधीजी ने नाम दिया हिन्दुस्तानी। नाटक की बात करें तो अगर उर्दू के ज़्यादा शब्द होते हैं तो उर्दू न लिख करके, हिन्दुस्तानी कर दिया जाता है तो क्या हिन्दुस्तानी भाषा कहना उचित है?

अपूर्वानंद : जैसा कि मैंने कहा कि यह सारा कुछ इस पर तय होगा कि समाज किसमें ज़्यादा इत्मीनान महसूस करता है। मुझे कोई एतराज़ नहीं है अगर हिन्दुस्तानी कहने से उसकी स्वीकार्यता बढ़ जाती है और वह ज़्यादा इत्मीनान महसूस करने लगते हैं। मसलन मैंने यह देखा है कि बैठकों में अक्सर यह कहा जाता है कि आप हिन्दुस्तानी में बात करें इसके पीछे शायद कहने का उद्देश्य यह है कि आप संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में न बात करें।

हमारे एक दोस्त खुर्शीद अनवर कहते हैं कि ''भई 'आवश्यकता' भी एक शब्द है और 'ज़रूरत' भी एक शब्द है। हमेशा हम 'ज़रूरत' नहीं बोलेंगे। जहाँ 'आवश्यकता' की ज़रूरत होगी वहाँ 'आवश्यकता' बोलेंगे और जहाँ 'ज़रूरत' की आवश्यकता होगी वहाँ हम 'ज़रूरत' बोलेंगे।'' यह आज़ादी मुझे रखनी चाहिए। मुझे जकड़ न दिया जाए या मुझे सीमित न कर दिया जाए कि मैं ज़रूरत ही बोलूँगा, आवश्यकता कभी नहीं बोलूँगा।

इसका मतलब यह है कि हम भाषा में विविधता नहीं रहने देना चाहते हैं। आपने ठीक कहा कि अगर उर्दू के शब्द आप ज़्यादा डाल दें तो हिन्दुस्तानी मान लिया जाता है। उर्दू के शब्द का मतलब कुछ अरबी या फारसी शब्द, जिनको आप कहते हैं कि उर्दू के शब्द हैं। लेकिन आप उनको हिन्दी शब्द क्यों नहीं कहते हैं? मसलन 'दरख़्त' अभी तक हिन्दी शब्द क्यों नहीं हुआ? अगर 'कुर्सी' हिन्दी शब्द है तो 'कुर्सी' कहाँ से आई? अगर 'कुर्सी' कहते हुए आपको हिचकिचाहट नहीं होती है तो 'दरख़्त' कहते हुए हिचकिचाहट क्यों है? मैं तो जानता हूँ कि हिन्दी कोश में 'दरख़्त' को जगह है लेकिन हिन्दी कोश इतने संकुचित क्यों है कि वो हर साल अपने शब्द भंडार में चार सौ पाँच सौ शब्द जोड़ नहीं पाते हैं। इसलिए हिन्दी शब्दकोश एक स्थिर चीज़ है, जो बन गया एक बार उसमें फेर बदल मुमकिन नहीं। जबकि ऑक्सफ़ोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी हर दो साल में

नवीकृत होती रहती है। ऑक्सफ़ोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी का नवीकरण एक तरह की घटना होती है, क्योंकि उसमें बताया जाता है कि साहब अब 'पराठा' भी शामिल हो गया है। इसका मतलब यह है कि हिन्दी अब तक बहुत आश्वस्त भाषा नहीं है और हिन्दी को एक भय जैसा लगा रहता है कि कहीं उसको कुछ नुकसान न हो जाए। लेकिन दूसरी तरफ़ जो हिन्दुस्तानी भाषा के आग्रही हैं, वे भी भाषा के प्रति ज़्यादा संवेदनशील नहीं हैं क्योंकि भाषा पर वह एक दूसरी परियोजना सोच रहे हैं। इसलिए वे भाषा का अपना जो प्रवाह है, उसको एक तरह से बाधित कर देते हैं।

यह अक्सर हम देखते हैं कि हिन्दी की किताबें जब लिखवाई जाती हैं या हिन्दी में अनुवाद कराए जाते हैं, तब अनुवाद करवाने वाले यह निर्देश देते हैं कि आप फलाँ शब्दों का इस्तेमाल नहीं करेंगे। संस्कृत मूल के जो शब्द हैं क्या उनको जानना अब बिल्कुल ही ज़रूरी नहीं है?

मैं जानता हूँ कि जिस प्रकार की प्राथमिक शिक्षा हिन्दी की रही है या माध्यमिक शिक्षा रही है वो प्रायः एक ऐसी भाषा संस्कार, मैं यहाँ संस्कार शब्द का इस्तेमाल नहीं करना चाहूँगा, एक ऐसी भाषा संवेदना का निर्माण करती है कि उसमें कुछ शब्दों को मान लिया जाता है कि वे परदेशी, विदेशी हैं। लेकिन ऐसी भाषा संवेदना का भी इस्तेमाल नहीं करना चाहिए कि संवेदना शब्द आते ही लोग यह पूछने लगें कि कहाँ से यह शब्द आ गया और आप इतना कठिन शब्द इस्तेमाल क्यों कर रहे हैं?

फ़ैयाज़ : आपने अभी एक शब्द इस्तेमाल किया 'संस्कार', लोग कहते है कि भाषा संस्कार की ही देन है।

अपूर्वानंद : ठीक है। मैंने कहा कि जैसे मैं संस्कार शब्द का इस्तेमाल नहीं करूँगा क्योंकि संस्कार शब्द बहुत सारे सांस्कृतिक शब्दों से जुड़ा हुआ है। इसलिए मुझे संस्कार देना, इस नाम पर भी आपत्ति है। आप कहते हैं कि आप संस्कारित हैं। संस्कार हिन्दुओं की परम्परा में स्वयं बहुत सारे सन्दर्भों से जुड़ा हुआ है। उसमें फिर जाति का सन्दर्भ आ जाता है, जिनको आप संस्कारित नहीं मानते। आप कहते हैं कि भाषा कुछ संस्कारों से आती है। लेकिन वह संस्कार तो आखिर राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सन्दर्भों से जुड़े हुए हैं, इनसे कौन इंकार कर सकता है। अगर आप किसी एक समुदाय को लम्बे समय तक न संस्कृत सुनने देंगे, न संस्कृत बोलने देंगे तो आप कैसे यह उम्मीद करते हैं कि वह 'अपेक्षा' शब्द बोलेगा। फिर आप कहेंगे कि उसे भाषा का संस्कार नहीं है। वह संस्कार जो आपने अपने लिए सुरक्षित करके रखा हुआ है, आप किसी और को उसकी हवा नहीं लगने देते हैं।

> आप दलितों से कैसे अपेक्षा करते हैं कि वह संस्कृत का संस्कार हासिल करे। उनके पास संस्कृत नहीं है तो वह संस्कारित नहीं है या संस्कृत नहीं है, तो वह शिक्षित नहीं है । उनके पास एक भाषा है भोजपुरी या तेलुगू या तमिल। अगर ब्राह्मण टोले की भाषा अलग है और मुसहर टोले की भाषा अलग है तो इस पर भी विचार करना होगा। न कि क्यों यह भाषा अलग है ?

अगर वह वंचित है, जैसाकि कांचा एलैया कुछ दिन पहले दिल्ली विश्वविद्यालय में अपने एक भाषण में कह रहे थे, हमारे यहाँ संस्कार होते रहते थे और उसमें पण्डित संस्कृत में श्लोक पढ़ता था तो हमें पता भी नहीं चलता था कि वह देवता से क्या कह रहा है? क्या वह यह कह रहा है कि इसको मारो या वह यह कह रहा है कि इसको जिलाओ। वह एक बिल्कुल अपरिचित भाषा थी, जिस तक पहुँचने का कोई माध्यम नहीं था, रास्ता नहीं था दलितों के लिए। तो आप दलितों से कैसे अपेक्षा करते हैं कि वह संस्कृत का संस्कार हासिल करें। उनके पास संस्कृत नहीं है तो वह संस्कारित नहीं है या संस्कृत नहीं है, तो वह शिक्षित नहीं हैं। उनके पास एक भाषा है भोजपुरी या तेलुगू या तमिल। अगर ब्राह्मण टोले

की भाषा अलग है और मुसहर टोले की भाषा अलग है तो इस पर भी विचार करना होगा। न कि क्यों यह भाषा अलग है? इसका मतलब यह है कि इसका रिश्ता सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक संदर्भों में है और यह राजनीतिक प्रश्न है तथा यह शक्ति का प्रश्न है। समाज में शक्ति का बँटवारा जिस तरह से है भाषा का उससे सीधा रिश्ता है। भाषा उससे अलग नहीं है। उससे निरपेक्ष नहीं है।

फ़ैयाज़ : आपने अपनी बात में इसका जिक्र तो किया ही है, लेकिन मैं थोड़ा और विस्तार से जानना चाहूँगा कि कुछ लोग मानते हैं कि यह भाषा का मानक रूप है, मॉडल है। तो ऐसी सूरत में उन्हें कैसे समझाया जाए कि अगर एक विशेष मॉडल को मानक मान लेते हैं तो जो बाकी लेखक हैं उनको कहाँ रखेंगे। मुंशी प्रेमचंद की कहानी ही अगर ले लें तो अलग हैं। ईदगाह की जो भाषा है और गोदान की जो भाषा है वह अलग है। वहीं पर जायसी की भाषा हो या फिर कबीर की या तुलसीदास की, इन सबकी भाषा अलग है। कृष्णा सोबती की भाषा अलग है, अज्ञेय की भाषा अलग है। सबकी भाषा अलग है तो किसी एक को तो मॉडल नहीं माना जा सकता है?

अपूर्वानंद : बिल्कुल नहीं माना जा सकता है। मैंने कहा कि कोई भी मॉडल नहीं, कोई भी आदर्श नहीं। इसलिए मॉडल की खोज करना ही व्यर्थ है। किसी आदर्श की खोज करना व्यर्थ है।

फ़ैयाज़ : तब तो यह कहा जाए कि जो कोई मॉडल या मानक मानते हैं, तो यह उनकी प्यूरिटन प्रवृत्ति को दर्शाता है?

अपूर्वानंद : हाँ, आप यह कह सकते हैं कि यह उनका परिशुद्धतावादी नज़रिया है और जिसमें वे एक मॉडल निर्धारित कर देते हैं और हर किसी को कहते हैं कि इसका पालन करो।

अपूर्वानंद समसामयिक विषयों पर अपने लेखन एवं वक्तव्य के लिए जाने जाते हैं। वर्तमान में दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक हैं।

फ़ैयाज़ साहित्य के अध्येता है। वर्तमान में गैर सरकारी संस्था 'प्रथम एजुकेशन फॉउण्डेशन' से जुड़कर कार्य कर रहे है।

उम्मीद की राजनीति और शिक्षणशास्त्र

मनोज कुमार

पेडागॉजी एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ होप : थियरी, कल्चर एण्ड स्कूलिंग. जीरु, हेनरी ए. (1997). वेस्टव्यू प्रेस, बोल्डर, कोलोराडो, यू.एस.ए.

हेनरी जीरु की पुस्तक पर चर्चा आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र क्या है, इसमें आलोचनात्मक का क्या अर्थ है, विवेकशीलता का क्या तात्पर्य है, उसके अन्यान्य पहलू क्या हैं, जैसे मुख्य मसलों को उठाती है। इसमें प्रत्यक्षवाद और आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के टकराव आदि पर संक्षिप्त चर्चा है व साथ ही यह भी कि कक्षा शिक्षण में यह किस तरह फलित होता दिखाई देता है। सं.

सामाजिक तथ्य अलग-थलग रखी कोई स्थिर वस्तु नहीं है जिसे शिक्षक या अभिभावक अपनी हथेली में उठाकर विद्यार्थियों की हथेली पर ज्यों-का-त्यों धर दें। जिन तथ्यों, व्याख्याओं और विवेचनों को हम शिक्षा की प्रक्रिया में शामिल करते हैं वे अगर सर्वथा निरपेक्ष-हस्तामलकवत हों तो शायद शिक्षणशास्त्र की तमाम चुनौतियाँ नैतिक या राजनीतिक नहीं होंगी, वे महज तकनीकी चुनौतियाँ होंगी। लेकिन सामाजिक तथ्य निरन्तर सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के बीच बनते और विघटित होते रहते हैं, वे गतिशील और ऐतिहासिक होते हैं।

चूँकि सामाजिक तथ्यों को गढ़ने में मानवीय समूहों की सक्रिय, ऐतिहासिक भूमिका होती है इसलिए उन्हें नियति की तरह पढ़ाना विद्यार्थी की निष्क्रिय आत्मछवि गढ़ना है। अगर इस इतिहास को गढ़ने में विद्यार्थी और शिक्षक की भी सक्रिय भूमिका है तो प्रदत्त सामाजिक तथ्यों से उन्हें सिर्फ तालमेल नहीं बिठाना है, बल्कि उन्हें रूपान्तरित भी करना है। कुल मिलाकर सामाजिक तथ्य नियत नहीं हैं, अतः उन्हें अटल नियति की तरह पढ़ना या पढ़ाना यथास्थिति के पक्ष में खड़ा होना है और इस तरह के शिक्षणशास्त्र को लागू करना यथास्थिति के पक्ष की राजनीति करना है।

हेनरी जीरू अपनी किताब *'पेडागॉजी एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ होप : थियरी, कल्चर एण्ड स्कूलिंग'* में इन्हीं मुद्दों को उठाते हैं और इनके ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक विवेचनों में जाते हैं। तीन खण्डों में विभाजित इस किताब में

जीरू आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के सैद्धान्तिक आधारों की तलाश भी करते हैं और कक्षा के स्तर पर इस तरह के शिक्षणशास्त्र की सम्भावनाओं को भी परखते हैं। यह किताब 1997 में एक पुस्तक श्रृंखला–'द एज : क्रिटिकल स्टडीज इन एजुकेशन थियरी' के अन्तर्गत छपकर आई। श्रृंखला–सम्पादकों ने जीरु से आग्रह किया था कि वे उनके कुछ चुनिन्दा लेखों को संग्रहित कर एक ऐसी किताब छापना चाहते हैं जिसमें उनकी बौद्धिक यात्रा के विभिन्न पड़ाव समेटे जा सकें। लेकिन आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र (क्रिटिकल पेडागॉजी) की कुछ बुनियादी मान्यताओं और पश्चिमी चिन्तन में उन मान्यताओं के बनने के इतिहास को समझने में इस किताब से मदद मिलती है।

किताब के पहले खण्ड के चार अध्यायों में आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की सैद्धान्तिक आधारभूमि की पड़ताल है| पहला लेख स्कूली शिक्षण में गोचरवाद या प्रत्यक्षवाद (positivism) की संस्कृति के हावी होते जाने और ऐतिहासिक विवेचनों के पीछे छूटते चले जाने को लेकर है| अंग्रेजी में इसका शीर्षक है–''स्कूलिंग एंड द कल्चर ऑफ़ पॉजिटिविज्म : नोटस ऑन डेथ ऑफ़ हिस्ट्री|'' पहले खण्ड का दूसरा अध्याय फ्रैंकफर्ट स्कूल और विवेकशीलता पर है| इस परम्परा के विद्वानों ने विवेकशीलता की समग्र धारणा के विघटित होते जाने पर जो विचार किया है उसका व्यवस्थित विवेचन इस अध्याय में है। अंग्रेजी में इसका शीर्षक है 'कल्चर एंड रैशनिलिटी इन फ्रैंकफर्ट स्कूल थॉट: आइडियोलॉजिकल फाउण्डेशनस फॉर अ थियरी ऑफ सोशल एजुकेशन|' इस खण्ड का तीसरा अध्याय स्कूली प्रक्रिया में विचारधारात्मक जकड़नों के बावजूद और उसके बरक्स शिक्षक और शिक्षार्थी की सक्रियता और सकर्मकता की संभावना पर है| चौथा अध्याय सीखने-सिखाने के व्यवहारिक उपक्रम में बौद्धिक की स्वायत्तता और प्राधिकार के सवालों को उठाता है| तीसरे और चौथे अध्याय के शीर्षक अंग्रेजी में इस प्रकार है- 'आइडियोलॉजी एंड एजेंसी इन द प्रोसेस ऑफ़ स्कूलिंग' और 'अथॉरिटी, इंटेलेक्चुअलस, एंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ प्रैक्टिकल लर्निंग'।

किताब का पहला खण्ड जहाँ आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि को खँगालने पर केन्द्रित है वहीं दूसरा खण्ड आलोचनात्मक शिक्षण शास्त्र के व्यवहार पर है| समग्रता में इस खण्ड का शीर्षक है – 'क्रिटिकल पेडागॉजी इन द क्लासरूम|' इस खण्ड में तीन अध्याय हैं जिनमें कक्षा में विद्यार्थियों की हर प्रकार की आवाजों को जगह देने से लेकर स्कूली ज्ञान की बंधी–बंधाई सीमा के अतिक्रमण तक पर चर्चा है| तीसरा खण्ड कुछ समसायिक मसलों पर है| समग्रता में तीसरे खण्ड का शीर्षक है—'कंटेम्पररी कंसर्न्स|' इस तीसरे खण्ड में बहुसंस्कृतिवाद और विविधता की वजह से कक्षा–शिक्षण में उभर आई नई सम्भावनाओं से लेकर रीगन–थैचर के दौर में पब्लिक इंटेलेक्चुअलस के सामने मौजूद चुनौतियों तक की चर्चा है। इस समीक्षा लेख में किताब के पहले खण्ड के बहाने कुछ ज़रूरी सैद्धान्तिक मुद्दों पर अपेक्षाकृत विस्तार से विचार करने कोशिश है| इसके आगे लेख में किताब के दूसरे और तीसरे खण्ड को संक्षेप में समेटते हुए कक्षा–शिक्षण से जुड़े कुछ मुद्दों को भी रेखांकित करने का भी प्रयास है।

आलोचनात्मक शिक्षण शास्त्र की 'आलोचनात्मकता' के क्या मायने हैं?

प्रकट तौर पर कई बार ऐसा लगता है कि आलोचनात्मकता एक प्रकार की नकारात्मकता है। लोकप्रिय सहजबोध में आलोचनात्मकता को नकारात्मकता के पर्यायवाची पद के तौर पर ग्रहण किया जाता है। इस किताब के लेख इस चालू समझ को खारिज़ करते हैं और इस समझ को पुख़्ता करते हैं कि आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्रीय अभ्यास के मूल में सकर्मक आलोचनात्मकता या विवेचनशीलता है। यह चालू शैक्षिक प्रक्रिया में शिक्षक या विद्यार्थी के द्वारा तथ्य को निष्क्रिय और अकर्मक ढंग से स्वीकार करने की प्रवृत्ति को प्रश्नांकित करता है। उदाहरण के लिए तथ्य यह हो सकता है

कि बेल्जियम के नागरिकों की औसत आयु 81.29 वर्ष है जबकि कांगो के नागरिकों की औसत आयु 59.02 वर्ष है। अब इस तथ्य को क्या शिक्षक निष्क्रिय ढंग से विद्यार्थियों को सुपुर्द कर दे और क्या विद्यार्थी इसे निष्क्रिय ढंग से स्वीकार कर लें? क्रिटिकल थियरी या सामाजिक सिद्धान्त की आलोचनात्मक धारा पूरी शिद्दत से इस सवाल को उठाती है। दरअसल ये तथ्य न तो किसी शून्य में पैदा हुए हैं और न ही किसी प्राकृतिक नियम के प्रतिफल हैं। ये तथ्य किन्हीं ऐतिहासिक, राजनीतिक प्रक्रियाओं के प्रतिफल हैं। आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र यह सवाल उठाने को प्रेरित करता है कि आख़िर बेल्जियम और कांगो में औसत आयु में इतना बड़ा फासला कैसे है? जब तक बौद्धिक व नैतिक निष्क्रियता या शिथिलता होगी तब तक परोसे गए तथ्य पर ऐसे सवाल नहीं उठेंगे। नैतिक सक्रियता आलोचनात्मक विवेचन की पूर्व शर्त है। ऐसी नैतिक सक्रियता सवाल उठाने वाले विद्यार्थियों और शिक्षकों को सकर्मक बनाती है, अकर्मक नहीं।

जो तथ्य ऊपर उद्धृत किए गए हैं उनकी अगर आलोचनात्मक पड़ताल करें तो पता चलेगा कि लम्बी अवधि तक छोटे से यूरोपीय देश बेल्जियम ने कांगो के एक विशाल भूभाग को अपना उपनिवेश बनाकर रखा। अब ऐतिहासिक विवेचन से सिर्फ यह नहीं पता चलता कि कांगो बेल्जियम का उपनिवेश था, बल्कि यह भी अहसास होता है कि इतिहास प्राकृतिक नियमों से परिचालित नहीं है, बल्कि मनुष्य निर्मित है और इस निर्मिति में सत्ता के बँटवारे में भेदभाव है। यह बोध कि मनुष्य सामूहिक रूप से इतिहास का निर्माता है और इस भेदभाव को मिटाया जा सकता है, शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षार्थी को सकर्मक बनाता है। यही आलोचनात्मक कर्मशीलता क्रिटिकल पेडागॉजी के मूल में है।

इस दृष्टि से देखें तो शिक्षा का उद्यम नैतिक प्रश्नों से और इसलिए राजनैतिक प्रश्नों से तटस्थ या निरपेक्ष नहीं रह सकता जबकि शिक्षणशास्त्र की चालू प्रभुत्वशाली परम्पराएँ उसे राजनीति से निरपेक्ष और महज तकनीकी कार्यकुशलता का विषय मानती है।

विवेकशीलता के दो पहलू : न्यायसंगतता और युक्तिसंगतता

आधुनिकता की अग्रगामी बौद्धिक-यात्रा के एक खास पड़ाव पर विवेक को नैतिकता से निरपेक्ष और बौद्धिक सक्षमता के रूप में घटाकर देखा जाने लगा। इस तथ्य को पूरी शिद्दत से फ्रैंकफर्ट स्कूल के सिद्धान्तकारों ने रेखांकित किया है। आलोचनात्मक सामाजिक शिक्षण की ऐतिहासिक परम्परा को खंगालते हुए जीरु अपनी इस किताब में फ्रैंकफर्ट स्कूल तक पहुँचते हैं।[1] किताब के पहले खण्ड का दूसरा अध्याय फ्रैंकफर्ट स्कूल द्वारा रेखांकित समस्याओं पर है।

यूरोपीय ज्ञानोदय की परम्परा ने मानवीय विवेकशीलता की धारणा को मानव कल्याण के लिए एक बड़ी उम्मीद के तौर पर देखा। ग्रीक दर्शन में मौजूद मानवीय विवेकशीलता की धारणा को नए सन्दर्भों में पुनर्जीवित करने की कोशिश की गई। ज्ञानोदय की परम्परा में प्रस्तावित मानवीय विवेकशीलता की यह धारणा बहुआयामी थी। इस विवेकशीलता का अगर एक पक्ष यह था कि मनुष्य के सामूहिक प्रयत्नों को अधिक से अधिक युक्तिसंगत बनाकर उत्तरोत्तर कार्यकुशलता हासिल की जा सकती है और विकास को अनवरत कायम रखा जा सकता है, तो दूसरा पक्ष यह भी था कि जो प्रयत्न हम कर रहे हैं उसके नैतिक औचित्य को हम किसी धार्मिक आदेश के आधार पर नहीं, बल्कि मानवीय विवेकशीलता यानी नैतिक तर्क-वितर्क से सिद्ध कर सकते हैं। हम स्वयं विचार कर सकते हैं कि हम जो कार्य कर रहे हैं वह नैतिक दृष्टि से उचित है या नहीं। इस धारणा ने कि मनुष्य अपने लिए और अपने समाज के लिए स्वयं नैतिक निर्णय ले सकने में सक्षम है, मानव समाज के संचालन को लौकिक बुनियाद पर ला खड़ा किया। ईश्वरीय और पारलौकिक से इहलौकिक जमीन पर जब मनुष्य के पाँव

टिके तब लोकतन्त्र की धारणा का विकास हुआ, जिसकी बुनियाद में यह विचार है कि प्रत्येक मनुष्य नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से सक्षम और स्वायत्त है।

विवेकशीलता की संश्लिष्ट धारणा को समझने के लिए हिन्दी की क्रिया 'सोचना' और इसके अलग-अलग प्रयोगों पर गौर करना उपयोगी होगा। इन दो प्रयोगों पर गौर करें:

1. सोचो अगर देश भर की ट्रेनों को ड्राइवर के बदले रोबोट चलाने लगें तो भारतीय रेल का घाटा कितना कम हो पाएगा।
2. सोचो साथ क्या जाएगा।

पहले प्रयोग में आए शब्द 'सोचो' का अर्थ है एक प्रकार का संज्ञानात्मक अभ्यास करना। गणना करके देखा जा सकता है कि इस समय रेलवे का घाटा कितना है, रेलवे अपने ड्राइवरों के वेतन और अन्य मद में कितना खर्च करता है और नए रोबोट लगाने में कितने पैसे लगेंगे। दूसरे प्रयोग में सम्बोधित किए जा रहे व्यक्ति को नैतिक विवेचन के लिए प्रेरित किया जा रहा है। अकसर विवाद सुलझाने के लिए हम किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति से कहते हैं कि आप तो विचारवान व्यक्ति हैं, आप खुद उचित-अनुचित का फैसला कर सकते हैं।

इस तरह के प्रयोगों में हम उस व्यक्ति को महज उसकी संज्ञानात्मक क्षमता का ध्यान नहीं दिला रहे होते हैं, बल्कि उससे एक नैतिक अपील भी कर रहे होते हैं। पढ़े-लिखे व्यक्ति से समाज की महज यह अपेक्षा नहीं है कि उसमें बुद्धि-चातुर्य होगा, बल्कि यह भी अपेक्षा है कि व्यक्ति नैतिक दृष्टि से विचारवान होगा।

आधुनिक समाज की बुनियाद में विवेकशीलता की यह जो संश्लिष्ट धारणा थी वह क्रमशः छीजती चली गई और विवेकशील होने का अर्थ अपने हित-अहित की गणना करना मात्र रह गया। इस छीजन के अनेक पड़ाव हैं, लेकिन शुरुआती तौर पर इसका एक स्रोत एडम स्मिथ की 'बाजार के अदृश्य हाथ' की अवधारणा में है। अन्य उदारवादी चिन्तकों की तरह एडम स्मिथ भी मानते थे कि व्यक्ति स्वयं के बारे में निर्णय लेने के मामले में सक्षम है और व्यक्ति को राज्य और राजा के अभिभावकत्व की ज़रूरत नहीं है। इस दृष्टि से व्यक्ति स्वायत्त है। लेकिन एडम स्मिथ इस मामले में एक कदम आगे बढ़ते हैं कि व्यक्ति को दूसरों की भलाई के बारे में सोचने की ज़रूरत नहीं है। अगर प्रत्येक व्यक्ति सिर्फ अपनी भलाई के बारे में बिना किसी लाग-लपेट के तार्किक ढंग से सोचे और पूर्णतः मुक्त और प्रतियोगी बाज़ार में एक दूसरे के साथ विनिमय करे तो इससे पूरे समाज का भला होगा। विनिमय, व्यक्ति को उस काम में ध्यान लगाने का अवसर देगा जिस काम को वह बेहतर तरीके से कर सकता है और इससे कुल मिलाकर समाज में कार्यकुशलता बढ़ेगी। जो व्यक्ति या समूह जिस कार्य में सबसे अधिक कुशल है वही बाजार की प्रतियोगिता में उस व्यवसाय में टिक पाएगा और इस तरह बाज़ार सबसे कुशल हाथों में, सीमित संसाधनों को पहुँचाने में सक्षम है। ऐसी स्थिति में सीमित संसाधनों के बँटवारे के लिए किसी राज्य जैसी संस्था की आवश्यकता बहुत नहीं रह जाती है। इसे ही एडम स्मिथ ने 'बाज़ार का अदृश्य हाथ' (इनविजीबल हैण्ड ऑफ मार्केट) कहा है। कुल मिलाकर एडम स्मिथ वहाँ पहुँचे जहाँ विवेकशील होने का अर्थ रह गया बिना किसी भावनात्मक व नैतिक उलझनों के निपट तार्किक तरीके से अपने हित के बारे में सोचना। इस सन्दर्भ में तार्किक ढंग से सोचने का मतलब रह जाता है कि व्यक्ति के पास सीमित संसाधन हैं और उसे यह सोचना है कि कैसे इन संसाधनों का सबसे कुशल तरीके से इस्तेमाल कर के अपने जीवन को सुखी बनाया जा सकता है। इस प्रकार विवेकशीलता, चिन्तनशीलता और तर्कशीलता के दायरे से नैतिक विवेचन का पक्ष पीछे छूटता गया। एडम स्मिथ तो फिर भी शिक्षा, स्वास्थ्य आदि को ऐसे सार्वजनिक हित का विषय मानते थे जिसे निजी हितों के योगफल के रूप में नहीं देखा जा सकता है और इनके संचालन में राज्य की भूमिका देखते थे, लेकिन आगे चलकर बीसवीं सदी में फ्रेडरिक

वॉन हायक जैसे नव उदारवादियों ने जीवन के सभी पहलुओं को बाजार के हवाले करने की सिफारिश की। एडम स्मिथ के लिए समाज फिर भी बड़ी इकाई थी और बाजार समाज के भीतर मौजूद एक सक्षम प्रक्रिया, जबकि नव उदारवादियों के लिए सामाजिक तन्त्र को बाजार के तन्त्र के अधीन होना चाहिए। हायक के नजरिए से देखें तो बिना किसी भावनात्मक लाग-लपेट के 'माँग और पूर्ति' के वस्तुनिष्ठ नियमों से चलने वाला बाजार सर्वाधिक तार्किक और सक्षम अन्तर्वैयक्तिक व्यवस्था है।[2] परोपकार, लोक कल्याण आदि नैतिक मूल्य भावनात्मक, आत्मपरक और गैर-भरोसेमन्द मूल्य हैं। तार्किक मानवीय समाज बाज़ार के वस्तुनिष्ठ नियमों से निर्धारित मूल्यों से संचालित होना चाहिए। विवेकशीलता की संश्लिष्ट धारणा यहाँ तक आते-आते तर्कसंगतता की वस्तुनिष्ठ धारणा में सीमित हो गई। ज्ञानोदय की परम्परा में विवेकशीलता के साथ नैतिक विवेचन का जो पहलू विन्यस्त था, वह पीछे छूट गया। विवेकशीलता की समग्र धारणा के इस विघटन को जीरु और फ्रैंकफर्ट स्कूल के सिद्धान्तकार आधुनिकता की विचार-यात्रा में टेक्नोक्रेटिक रैशनैलिटी या यान्त्रिक तार्किकता के विजय का क्षण मानते हैं।

मानवीय कर्तृत्व का सवाल

एक ऐसा समाज जो मानवेतर, वस्तुनिष्ठ नियमों से परिचालित होगा उसमें मनुष्य की क्या भूमिका होगी? उस समाज में क्या वह कर्त्ता के रूप में सक्रिय होगा– अगर व्यक्तिगत तौर पर नहीं तो कम से कम सामूहिक रूप से? या उसकी भूमिका कुल इतनी होगी कि वह 'अटल' नियमों और सामाजिक जीवन के प्रदत्त और अपरिहार्य तथ्यों के साथ तालमेल बिठाए? क्या शिक्षा की कुल भूमिका यह होगी कि वह आने वाली पीढ़ी को इस समाज के साथ तालमेल बिठाकर जीवनयापन करना सिखाए ताकि समाज में भी स्थिरता बनी रहे और शिक्षार्थी का जीवन भी चलता रहे?

जीरु और फ्रैंकफर्ट स्कूल के सिद्धान्तकार विराट पूँजी और शक्तिशाली राष्ट्र-राज्य के गठजोड़ को संचालित करने वाली भारी भरकम नौकरशाही की टेक्नो-मैनेजेरियल, यान्त्रिक विवेकशीलता के आगे व्यक्ति के कर्तृत्व को विघटित होता हुआ देखते हैं। मानवीय विवेकशीलता की जो यात्रा ज्ञानोदय के साथ शुरू हुई थी उसकी भूमिका औद्योगिक पूँजीवाद के अगले चरण में बस इतनी रह गई कि उसने श्रम-विभाजन को युक्तिसंगत बनाते हुए नौकरशाही का विराट तन्त्र खड़ा किया। आम मेहनतकश इन्सान का अपने जीवन पर नियन्त्रण ही नहीं रह गया। श्रम की प्रक्रिया ऐसी हो गई कि योजना बनाने का काम एक छोटे से तबके के हाथ में सिमट कर रह गया और उसे छोटे-छोटे टास्क के रूप में लागू करने की जिम्मेवारी आम मजदूर के हिस्से आयी। ऐसी स्थिति में आम मजदूर के हाथ में न तो नैतिक विवेचन के अवसर रह गए और न ही जटिल संज्ञानात्मक अभ्यास के। इस स्थिति को मार्क्स ने श्रम और श्रमिकों की अलगाव (एलियनेशन) की धारणा के रूप में समझने की कोशिश की और आगे चलकर जार्ज लुकाच ने इसे मानवीय सम्बन्धों के जड़ हो जाने के रूप में समझा। श्रम और श्रमिक के मनुष्य से 'जड़ वस्तु' में तब्दील हो जाने को जार्ज लुकाच ने 'रेइफीकेशन' (Reification) कहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अनेक सामजिक चिन्तकों ने इस प्रक्रिया को अलग-अलग तरीके से पहचानने की कोशिश की।

आधुनिकता की यात्रा शुरू हुई थी धर्म और ईश्वर को अपदस्थ करते हुए मनुष्य को नियन्ता मानने के साथ; आगे चलकर यह यात्रा उस पड़ाव पर पहुँची कि मनुष्य का अपने जीवन पर नियन्त्रण ही नहीं रह गया।

बीसवीं शताब्दी में यान्त्रिक विवेकशीलता ने मानवीय सम्बन्धों को भले ही शिथिल और निष्क्रिय कर दिया हो, परन्तु आर्थिक और प्रशासनिक क्षेत्र की कार्यकुशलता में अभूतपूर्व

वृद्धि हुई। यह कार्यकुशलता नैतिकता से निरपेक्ष थी। इस का एक प्रतिफलन फासीवाद के रूप में हुआ जिसके मनहूस साये में फ्रैंकफर्ट स्कूल के दार्शनिक लिख रहे थे। मानवीय कर्तृत्व का संकट अपने चरम रूप में तब प्रकट हुआ जब नाजी शासन की पराजय के बाद हिटलर के एक वरिष्ठ कर्मचारी पर न्यूरेमबर्ग में ट्रायल चला। उस कर्मचारी पर जनसंहार आयोजित करने के आरोप थे। कर्मचारी अडोल्फ आइखमैन ने ट्रायल कोर्ट से कहा कि उसके किसी भी कार्य के लिए उसे नैतिक दृष्टि से ज़िम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता है। उसने तो पूरी ईमानदारी और लगन से अपने वरिष्ठ अधिकारियों के आदेश का पालन किया। फ्रैंकफर्ट स्कूल के चिन्तक जब लिख रहे थे तो उनकी पृष्ठभूमि में यह सब चल रहा था। इसलिए उन्होंने नैतिक कर्तत्व के विघटन को सभ्यता के संकट के रूप में देखा।

प्रत्यक्षवाद और सतही, गोचर तथ्यों के प्रति अनालोचनात्मक नज़रिया

शिक्षा में नैतिकता निरपेक्ष यान्त्रिक तार्किकता का प्रतिफलन कई रूपों में हुआ। ज्ञानोदयकालीन बहुआयामी विवेकशीलता से क्रमशः यान्त्रिक तर्कशीलता में संक्रमण ने मानविकी और समाज अध्ययनों में प्रत्यक्षवादी या गोचरवादी प्रवृत्तियों को जन्म दिया। अध्ययन की इस पद्धति में वैज्ञानिक अध्ययन और वस्तुनिष्ठता के नाम पर गोचर तथ्यों को जुटाने, उन्हें वर्गीकृत करने और उसके आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालने पर जोर था। इस प्रकार की अध्ययन-पद्धति में ऐतिहासिक और आलोचनात्मक चेतना का अभाव था। प्रकट तथ्यों के पीछे ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ होती हैं और उन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में सत्ता और संसाधन का जिस प्रकार से बँटवारा होता है उसकी झलक उन तथ्यों में होती है। प्रत्यक्षवाद या गोचरवाद इतिहास में मौजूद सत्ता और संसाधन के बँटवारे के प्रश्न को अगोचर कर देता है।

जीरु और उनकी धारा के लोग मानते हैं कि सामजिक तथ्यों के वर्गीकरण का काम भी शुद्ध बौद्धिक, नैतिक और राजनीतिक दृष्टि से निरपेक्ष काम नहीं है। जब हम विश्लेषण के लिए वर्ग बनाते हैं और उसमें किसी तथ्य को डालते हैं तो उस गतिविधि में नैतिक और राजनीतिक निर्णय निहित होते हैं। उदाहरण के लिए हम यह सोचें कि किस प्रकार की यौन हिंसा को हम 'बलात्कार' के वर्ग में डालेंगे। जाहिर है कि अलग-अलग समाज यह अलग-अलग ढंग से तय करता है। इस तय करने में समाज में मौजूद सत्ता के समीकरण प्रभावी होते हैं। भारत में शादीशुदा जीवन में पति-पत्नी के बीच हुई यौन हिंसा को अभी 'बलात्कार' मानने में न्यायविदों में थोड़ी हिचकिचाहट है, जबकि ठीक उसी प्रकार की हिंसा को शादीशुदा ज़िन्दगी के बाहर बलात्कार माना जाता है। कई अन्य देशों में शादी के भीतर भी बिना सहमति के जबरन यौन सम्बन्ध बनाने को कानूनी तौर पर 'बलात्कार' माना जाता है।

तो कुल मिलकर यह कि तथ्यों के वर्गीकरण का काम भी राजनीति से निरपेक्ष नहीं है। जिन देशों में शादी के भीतर भी बिना सहमति के जबरन यौन सम्बन्ध थोपने को अपराध माना जाता है, उन देशों में शायद स्त्री आन्दोलन अधिक सशक्त होगा जबकि भारत जैसे अनेक देशों में अब भी पुरुष वर्चस्व और पितृसत्ता की पकड़ मजबूत है। जब ऐतिहासिक तथ्य वस्तुनिष्ठ, मानवेतर और सार्वभौमिक मान लिया जाता है तब मौजूदा सत्ता सम्बन्धों को भी सार्वभौमिक, सार्वकालिक और स्वाभाविक मानने की तरफ हम बढ़ते हैं। ऐसी स्थिति में मौजूदा सत्ता-सम्बन्धों पर सवाल उठाने और आलोचना करने की गुंजाइश नहीं बचती है। मुश्किल यह है कि मौजूदा सत्ता-समीकरण ने बहुसंख्यक जनता को नैतिक कर्तत्व से वंचित और अकर्मक बना दिया है। इस सत्ता-समीकरण और उससे जुड़े तथ्यों को प्रश्नांकित करना और उन्हें आलोचनात्मक दृष्टि से देखना सकर्मक होने की पूर्व-शर्त है। आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र इसी आलोचनात्मक सकर्मकता के लक्ष्य को हासिल करना चाहता है।

शिक्षा यानी जीवन स्थितियों का सचेत, आलोचनात्मक विवेचन

शिक्षा की प्रक्रिया मौजूदा सत्ता-तन्त्र के अनुरूप विद्यार्थियों को समाजीकृत और अनुकूलित करती है– इस बात को शिक्षा के समाजशास्त्र में एकाधिक मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी विचारकों ने रेखांकित किया है। अपने विश्लेषण के आधार पर बावल्स (Bowles), गिण्टिस (Gintis) और काफी हद तक अल्थूसर ने भी यह दर्शाने की कोशिश की है कि स्कूल और अन्य शैक्षिक संस्थान पूँजीवादी आर्थिक, राजनीतिक सम्बन्धों को पुनरुत्पादित करने में सहायक हैं। इस धारा के विद्वानों को पुनरुत्पादनवादी कहा गया। पुनरुत्पादनवादियों से जीरु इस मामले में अलग हैं कि वे मानते हैं कि स्कूल प्रभुत्वशाली वर्ग के आइडियोलॉजिकल एपरेटस के तौर पर काम करने के लिए अभिशप्त नहीं है। स्कूल को काउण्टर पब्लिक स्फीयर (सार्वजनिक प्रतिरोध के क्षेत्र) के तौर पर भी देखा जाना चाहिए और इस क्षेत्र को बनाए रखने के लिए संघर्ष जारी रखना चाहिए। शिक्षक की संकल्पना जीरु ने एक परिवर्तनकामी पब्लिक इण्टेलैक्चुअल के रूप में की है। आधुनिक औद्योगिक समाज और खासकर नवउदारवादी आर्थिक प्रणाली ने शिक्षण को कौशलरहित, दोहराव वाले रोजमर्रा के काम में तब्दील करने की वैसी ही कोशिश की है जैसी कोशिश असेम्बली लाइन प्रोडक्शन शुरू होने के बाद हस्तशिल्प के साथ की गई थी। मुश्किल यह है कि शिक्षक एक जीते-जगाते इन्सान और इन्सानों के समूह से रूबरू होता है। इन समूहों के अपने-अपने जीवन-इतिहास होते हैं। शिक्षक परिवर्तनकामी बौद्धिक की भूमिका निभा सकता है बशर्ते वह अपनी कक्षा में मौजूद अलग-अलग जीवन-इतिहासों और जीवन स्थितियों को मुखर होने दे।

कक्षा में विद्यार्थियों को अपनी जीवन-स्थितियों पर विचार करने का अवसर मिले-इस बात को जीरु ने एक शिक्षक के तौर पर भी अनुभव किया और बाद में पाउलो फ्रेरे और बाख्तिन के सिद्धान्तों से अपनी इस समझ की पुष्टि भी की। फ्रेरे ने ऐसे शिक्षणशास्त्र को अपनाने पर बल दिया जो शिक्षार्थियों के समूह में मौजूद किन्हीं सदस्यों की वास्तविक समस्या से शुरू हो। उन्होंने इसे 'प्रॉब्लम पोजिंग' एजुकेशन (सवाल उठाने वाली शिक्षा) कहा। दूसरी तरफ बाख्तिन ने ऐसे संवाद और विमर्श को रेखांकित करने की कोशिश की जिसमें कोई एक मूल या आधिकारिक स्वर नहीं होता है बल्कि एक साथ कई स्वरों की गुंजाइश होती है। वास्तविक विमर्श में एक आवाज़ की गूँज नहीं होती है, बल्कि विविध स्वर संगति (पॉलिफोनी) की सम्भावना बनी रहती है। जीरु यहाँ से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बावजूद इसके कि समाज में पूँजी और बाज़ार की विचारधारा प्रभुत्वशाली विचारधारा है, अगर विद्यार्थियों की विविध आवाज़ों को शिक्षण की प्रक्रिया में शामिल किया जाए तो स्कूल के काउण्टर पब्लिक स्फीयर के तौर पर बने रहने की सम्भावना बनी रहेगी। बाख्तिन का मानना था कि भाषा और संवाद की प्रकृति ही ऐसी है कि उसपर किसी एक के लिए वैसा एकाधिकार जमा लेना आसान नहीं है जैसा निजी एकाधिकार भूमि, कोयला आदि अन्य संसाधनों पर जमा लिया जाता है। वे लिखते हैं :

> "भाषा तटस्थ माध्यम नहीं है जिसे वक्ता अपने इरादों की अभिव्यक्ति के लिए आसानी से निजी सम्पत्ति में तब्दील कर ले; भाषा का संसार सघन-जनाकीर्ण संसार है जिसमें दूसरों के इरादे भी विन्यस्त हैं| इसे अपने अनुकूल बनाने की प्रक्रिया, इसमें अपनी आवाज को गढ़ने की प्रकिया एक जटिल और मुश्किल प्रक्रिया है|"
> (बाख्तिन, 1981, पृष्ठ-294. अनुवाद मेरा)[3]

विमर्श और संवाद की इस जटिल प्रक्रिया को समझते हुए यह कहना उचित लगता है कि वर्चस्व की कोई प्रक्रिया कभी समग्र और पूर्ण नहीं होती है और इस अपूर्णता से ही आलोचनात्मक शिक्षणशास्त्र के लिए रास्ते निकलते हैं।

अन्त में

पिछले डेढ़-दो दशकों में भारत में स्कूल से

लेकर कॉलेज और विश्वविद्यालय तक कक्षा-कक्ष बहुभाषिक और बहु सांस्कृतिक होते गए हैं। इस बदलाव को विविधता के उदारवादी फ्रेमवर्क में भी देखने की कोशिश की जा सकती है, लेकिन संस्कृतियों और भाषाओं के बीच सत्ता के वितरण में असमानता है। कक्षा–कक्ष में वर्चस्वशाली संस्कृतियाँ और भाषाएँ भी हैं और उपेक्षित, दमित हाशियाकृत आवाजें भी। ऐसी स्थिति में शिक्षक ज्ञान की जिन स्थापित परम्पराओं से अपने सभी विद्यार्थियों को अवगत करवाना चाहता है, वे परम्पराएँ अक्सर वर्चस्वशाली संस्कृतियों और भाषाओं के पक्ष में झुकी होती हैं। इस स्थिति में चाहे भी तो शिक्षक निःस्पृह और तटस्थ नहीं रह सकता है। उसे नैतिक और राजनीतिक दुविधाओं से जूझना पड़ता है। इस सन्दर्भ में जीरु जैसे शिक्षाशास्त्रियों को पढ़ने से कई सारी दुविधाओं को समझने में मदद मिलती है, भले ही जीरु ने अपनी शिक्षाशास्त्रीय मान्यताएँ पश्चिमी परिवेश में और पश्चिम की विचार परम्परा से जूझते हुए गढ़ीं हों।

सन्दर्भ

1. फ्रैंकफर्ट स्कूल की विस्तृत जानकारी के लिए देखें– समाज विज्ञान विश्वकोश, सम्पादक- अभय कुमार दुबे, प्रकाशक- राजकमल प्रकाशन(2013). प्रविष्टि लेखक- वैभवसिंह, पृष्ठसंख्या- 980-982. http://www.hindisamay.com/e-content/kosh/937_985_ph.pdf
2. देखें–Neoliberalism-the-idea-that-changed-the-world,Stephen Metcalf- The Guardian, Friday, 18 Aug. 2017. https://www.theguardian.com/news/2017/aug/18/neoliberalism-the-idea-that-changed-the-world.
3. The Dialogic Imagination, Four Essays, M.M. Bakthin (1981), Editor- Michael Holquit, university of Texas Press.

मनोज कुमार पिछले दो दशकों से शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय में कार्यरत हैं। सम्पर्कः manoj_maee@yahoo.in

नवजागरण के दौर में भाषाई ज़मीन की तलाश...

(महावीर प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक - हिन्दी भाषा की उत्पत्ति)

दीनानाथ मौर्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास में 1900 से 1920 तक के दौर को 'द्विवेदी युग' के नाम से जाना जाता है। यह हिन्दी साहित्येतिहास का वह दौर था जब खड़ी बोली हिन्दी अपना स्वरूप तैयार कर रही थी। इस दौरान भाषा और बोली के अनेक विमर्श चर्चा में आए। हिन्दी भाषा की शब्द सम्पदा, लिपि और कहन के विविध तरीकों को लेकर एक लम्बी बहस चली। हम सब जानते हैं कि हिन्दी भाषा के इतिहास में बोलियों को बखूबी पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया गया है। आज हिन्दी भाषा और साहित्य का विद्यार्थी इस बात को भूलकर अपनी भाषिक परम्परा को नहीं टटोल सकता कि ब्रज, अवधी और बुन्देली आदि बोलियाँ दरअसल भाषाओं का ही एक रूप हैं– *हिन्दी भाषा की उत्पत्ति* पुस्तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा ऐसे समय (1907) में लिखी गई जब 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' के तथाकथित राष्ट्रवादी नज़रिए भाषा और साहित्य प्रगति के एजेंडे को स्पष्ट करने और प्रसारित करने का साधन थे। साथ ही वे अपने आप में जाति/राष्ट्र के रूपक भी थे। यह इस पुस्तक का दूसरा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पक्ष है। द्विवेदी जी 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक थे जिस ने इतिहास के उस दौर के भाषिक लोकवृत्त के निर्माण में अपनी अहम भूमिका निभाई थी।

35 पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण पुस्तक *हिन्दी भाषा की उत्पत्ति* की भूमिका इस बात से शुरू होती है कि "कुछ समय से विचारशील जनों के मन में यह बात आने लगी है कि देश में एक भाषा और लिपि होने की बड़ी जरूरत है, और हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि ही इस योग्य है।" भूमिका के अन्त में हिन्दुस्तानी भाषा के नामकरण को उस की समावेशी भाषिक-सांस्कृतिक पहचान से जोड़कर देखते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि 'हिन्दुस्तानी' नाम यद्यपि अंग्रेजों का दिया हुआ है तथापि है बहुत सार्थक। इस से हिन्दुस्तान भर में बोली जाने वाली भाषा का बोध होता है। यह बहुत अच्छी बात है। इस नाम के अन्तर्गत साहित्य की हिन्दी, सर्वसाधारण हिन्दी, दक्षिणी हिन्दी और उर्दू सब का समावेश हो सकता है।

पुस्तक की विषयवस्तु लेखक के इस विचार के अनुरूप ही विकसित हुई है– "इस में वर्तमान हिन्दी की बातों की अपेक्षा उस की पूर्ववर्ती भाषाओं की ही बातें अधिक हैं। हिन्दी की उत्पत्ति के वर्णन में इस बात की ज़रूरत थी। बंगाले में भागीरथी के किनारे रहने वालों से यह कह देना काफी नहीं कि गंगा हरिद्वार से आई है या वहाँ उत्पन्न हुई है। नहीं, ठेठ गंगोत्री तक जाना होगा, और वहाँ से गंगा की उत्पत्ति का वर्णन करके क्रम-क्रम से हरिद्वार, कानपुर, प्रयाग, काशी, पटना होते हुए बंगाले के आखात में पहुँचना होगा। इसी से हिन्दी की उत्पत्ति लिखने में आदिम आर्यों की पुरानी से पुरानी भाषाओं का उल्लेख कर के उन के क्रमविकास का हाल लिखना पड़ा है।" (भूमिका)

पाँच अध्यायों में विभाजित यह पुस्तक हिन्दी भाषा की उत्पत्ति की तलाश के लिए 1901 की जनगणना की रिपोर्ट के एक अध्याय (जो देश की भाषाओं के विषय में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा लिखा गया है) का सहारा लेती है। भाषा के विकास क्रम को आदिम आर्यों के स्थान, आर्य

भाषा की दो शाखाओं– ईरानी और पराजिक भाषा, मीदिक भाषा, आसुरी भाषा से दिखाते हुए विशुद्ध संस्कृत की उत्पत्ति तक आती है। विशुद्ध संस्कृत तक पहुँचते-पहुँचते लेखक ने भाषाई निर्माण की प्रक्रिया की तलाश में आर्य भाषा के अनेक संस्करणों पर भी विस्तारपूर्वक लिखा है। इसी भेद के क्रम में ही असंस्कृत आर्य भाषा और संस्कृतोत्पन्न आर्य भाषाओं की चर्चा भी पुस्तक में की गई है। पूर्वागत और नवागत आर्य संस्कृतियों के भौगोलिक विस्तार और प्रसार को आधार बनाते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है कि –"उस समय के आर्य जो भाषाएँ बोलते थे उस के नमूने वेदों में विद्यमान हैं। वेदों का मंत्र भाग एक ही समय में नहीं बना। कुछ कभी बना है, कुछ कभी। उस की रचना के समय में बड़ा अन्तर है फिर एक ही जगह उन की रचना नहीं हुई।"

प्राकृत के भेद का जिक्र करते हुए पुस्तक के लेखक की मान्यता है कि पुरानी संस्कृत जो वैदिक ज़माने में बोली जाती थी उसी से यह नई भाषा पैदा हुई थी। इस भाषा के साथ-साथ एक परिमार्जित भाषा की भी उत्पत्ति हुई। यह परिमार्जित भाषा भी पुरानी संस्कृत की किसी उपशाखा या बोली से निकली थी। इसी परिमार्जित भाषा का नाम हुआ संस्कृत अर्थात् 'संस्कार की गई'- 'बनावटी' और उस नई भाषा का नाम हुआ 'प्राकृत' अर्थात् स्वभावसिद्ध या स्वाभाविक। द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा की विकास यात्रा को ऐतिहासिक विकास के अनुसार देखा है। प्राकृत के विकास और उस के विभिन्न रूपों का ज़िक्र करते हुए वे अपभ्रंश भाषा के विकास तक आते हैं। इस सम्बन्ध में उन का विचार है कि –'हिन्दुस्तान की वर्तमान संस्कृतोत्पन्न भाषाओं का जन्म लगभग दसवीं सदी के अन्त में हुआ।' अपभ्रंश के विविध रूपों के साथ ही विभिन्न बोलियों के निर्माण की प्रक्रिया चलती रही इसी निर्माण के साथ ही सिन्धी, लहन्दा, मागधी, बांग्ला, असमी, पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी की अनेक बोलियों का विकास हुआ है।

प्राकृत के भेद का जिक्र करते हुए पुस्तक के लेखक की मान्यता है कि पुरानी संस्कृत जो वैदिक जमाने में बोली जाती थी उसी से यह नई भाषा पैदा हुई थी। इस भाषा के साथ-साथ एक परिमार्जित भाषा की भी उत्पत्ति हुई। यह परिमार्जित भाषा भी पुरानी संस्कृत की किसी उपशाखा या बोली से निकली थी। इसी परिमार्जित भाषा का नाम हुआ संस्कृत अर्थात् 'संस्कार की गई'- 'बनावटी' और उस नई भाषा का नाम हुआ 'प्राकृत' अर्थात् स्वभावसिद्ध या स्वाभाविक।

अपभ्रंश के भेद और उस के भाषाई रूपों के भौगोलिक विस्तार का जिक्र करते हुए उन्होंने पुस्तक में लिखा है कि- "गंगा-यमुना के बीच का जो मध्यवर्ती भाग है उस में नागर अपभ्रंश का एक रूप शौरसैनी प्रचलित था। वर्तमान पश्चिमी हिन्दी और पंजाबी उसी से निकली है। नागर अपभ्रंश का एक और भी रूपान्तर था उस का नाम था आवन्ती। यह अपभ्रंश भाषा उज्जैन प्रान्त में बोली जाती थी। राजस्थानी इसी से उत्पन्न है।"

संस्कृत भाषा की जड़ता के मूल में उस के व्याकरणिक नियमों की जटिलता को मुख्य कारक मानते हुए लेखक की यह मान्यता है कि 'हिन्दी पर ही नहीं, किन्तु हिन्दुस्तान की प्रायः सभी भाषाओं पर, आज सैकड़ों वर्ष से संस्कृत का प्रभाव पड़ रहा है। परन्तु उस का प्रभाव सिर्फ वर्तमान भाषाओं के शब्द-समूह पर ही पड़ा है, व्याकरण पर नहीं। इस शब्द समूह के संगठन के अनुसार हिन्दी भी दो तरह की होती गई। एक जिस में संस्कृत के शब्द ज़्यादा थे वह तत्सम समूह की जटिल हिन्दी बनी और दूसरी जिस में सर्वसाधारण की बोली के शब्द थे बोलचाल की सहज हिन्दी।'

यह महत्वपूर्ण है कि जिस दौर में संस्कृत को हिन्दी भाषा की जननी के रूप में मानने का एक आन्दोलन नागरी प्रचारिणी सभा सरीखी संस्थाएँ लगातार चला रही थीं उसी समय हिन्दी का एक प्रमुख सम्पादक यह लिख रहा था कि-

- "हमारी वर्तमान हिन्दी, अर्धमागधी और शौरसैनी अपभ्रंश से निकली है। अतएव जो लोग समझते हैं कि हिन्दी की उत्पत्ति

प्रत्यक्ष संस्कृत से हुई वे डॉक्टर ग्रियर्सन की सम्मति के अनुसार भूल करते हैं। डॉक्टर साहब की राय सयुक्ति जान पड़ती है... एक बात तो बिलकुल साफ है कि हिन्दी में संस्कृत शब्दों की भरमार अभी कल से शुरू हुई है। परिमार्जित संस्कृत चाहे सर्वसाधारण की बोली कभी रही भी हो, पर उस के बाद हजारों वर्ष तक जो भाषाएँ इस देश में बोली गई होंगी उन्हीं से आजकल की भाषाओं और बोलियों की उत्पत्ति मानना अधिक सम्भवनीय जान पड़ता है। जिस परिमार्जित संस्कृत को कुछ ही लोग जानते थे उस से सर्वसाधारण की बोलियों और भाषाओं का उत्पन्न होना बहुत कम सम्भव मालूम होता है।"

- "आज तक कुछ लोगों का ख़्याल था कि हिन्दी की जननी संस्कृत है। यह बात भारत की भाषाओं की खोज से गलत साबित हो गई। जो उद्गम-स्थान परिमार्जित संस्कृत का है, हिन्दी जिन भाषाओं से निकली है उन का भी वही है।"
- "जो संस्कृत भाषा हजारों वर्ष पहले बोली जाती थी उसे मिलाने की कोशिश करके अपनी भाषा के स्वाभाविक विकास को रोकना बुद्धिमानी का काम नहीं। स्वतंत्रता सब के लिए एक-सी लाभदायक है। कौन ऐसा आदमी है जिसे स्वतंत्रता प्यारी न हो? फिर क्यों हिन्दी से संस्कृत की पराधीनता भोग कराई जाए? संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जो शब्द प्रचलित हो गए हैं उन का प्रयोग हिन्दी में होना ही चाहिए। वे सब अब हिन्दी के शब्द बन गए हैं। उन से घृणा करना उचित नहीं।"

हिन्दी और उर्दू का विवाद भी नवजागरण के दौरान चलने वाली भाषिक बहसों का मुख्य मुद्दा रहा था। जो बाद के दिनों में भी हिन्दी समाज के बीच चलता रहा। यह मुद्दा भाषा से ज्यादा उस ऐतिहासिक नज़रिए से जुड़ता है जिस में किसी भी एक भाषा को किसी धर्म से जोड़ने की कवायद बाद के दिनों में की गई। आचार्य द्विवेदी, हिन्दी के साथ ही उर्दू भाषा पर भी विचार रखते हैं जो तत्कालीन परिस्थितियों के साथ ही साथ आज भी काफी प्रगतिशील नज़रिया समझ में आता है। उर्दू भाषा के बारे में द्विवेदी जी लिखते हैं कि "उर्दू कोई जुदा भाषा नहीं। वह हिन्दी ही का भेद है, अथवा यों कहिए कि हिन्दुस्तानी की एक शाखा है। हिन्दी और उर्दू में अन्तर इतना ही है कि हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और संस्कृत के शब्दों की उस में अधिकता रहती है। उर्दू फारसी लिपि में लिखी जाती है और उस में फारसी, अरबी के शब्दों की अधिकता रहती है। उर्दू शब्द 'उर्दू ए मअल्ला' से निकला है जिस का अर्थ है 'शाही फौज का बाज़ार"।

हिन्दी और उर्दू का विवाद भी नवजागरण के दौरान चलने वाली भाषिक बहसों का मुख्य मुद्दा रहा था। जो बाद के दिनों में भी हिन्दी समाज के बीच चलता रहा। यह मुद्दा भाषा से ज्यादा उस ऐतिहासिक नजरिये से जुड़ता है जिस में किसी भी एक भाषा को किसी धर्म से जोड़ने की कवायद बाद के दिनों में की गई। आचार्य द्विवेदी, हिन्दी के साथ ही उर्दू भाषा पर भी विचार रखते हैं जो तत्कालीन परिस्थितियों के साथ ही साथ आज भी काफी प्रगतिशील नजरिया समझ में आता है।

आज के समय में जब कभी-कभी बोलियों और भाषाओं के आपसी रिश्ते के विवाद, राजनीति का हिस्सा बन जाते हैं, लगभग 110 वर्ष पहले लिखी गई यह पुस्तक कई मायनों में हमारे नज़रिये को सही करने वाली साबित हो सकती है। मसलन बोली और भाषा का विवाद दरअसल राजनीतिक मसले से ज़्यादा कुछ भी नहीं है। सभी बोलियाँ भाषाएँ होती हैं। द्विवेदी जी लिखते हैं– "जिसे हम हिन्दी या उच्च हिन्दी कहते हैं वह देवनागरी में लिखी जाती है। इस का प्रचार कोई सवा सौ साल पहले न था। उस के पहले यदि किसी को देवनागरी में गद्य लिखना होता

था तो वह अपने प्रान्त की भाषा– अवध, बघेली, बुन्देली या ब्रज भाषा आदि में लिखता था।"

भाषा का स्वभाव उस का लचीलापन होता है। व्याकरण और शब्दों की अनावश्यक बन्दिशें भाषा के स्वाभाविक विकास में बाधा डालती हैं। हिन्दी में फारसी और अरबी के प्रचलित शब्दों को हिन्दी के अपने शब्द मान लेने की बात करने वाले द्विवेदी जी अनावश्यक रूप से किसी भाषा के शब्दों को हिन्दी में शामिल कर लेना सही नहीं मानते। वह चाहे संस्कृत के शब्द हों या अन्य दूसरी भाषाओं के।

'हिन्दुस्तानी' अर्थात् वर्तमान बोलचाल की भाषा के सब से पुराने नमूने उर्दू की कविता में पाए जाते हैं। उर्दू कोई अलग से भाषा नहीं है। वह हिन्दी के विकासक्रम में किसी खास ऐतिहासिक स्थिति में उत्पन्न भाषा की एक शैली है जिस में अरबी, फारसी शब्दों की बहुलता होती है। जिसे बाद के दिनों में फारसी लिपि में लिखा जाने लगा। जिसे आज हम अपनी दैनिक बोलचाल की भाषा में हिन्दी कहते हैं उस में हम न जाने कितने ऐसे शब्द बोलते और बरतते हैं जो भाषाई विकास के रूप में रेख्ता भाषा के उस रास्ते से आए हैं जिसे हम उर्दू कहते हैं। इस की परम्परा 'दकिनी हिन्दी' के वली दकिनी से लेकर सौदा और मीर तकी मीर तक जाती है।

भाषा का स्वभाव उस का लचीलापन होता है। व्याकरण और शब्दों की अनावश्यक बन्दिशें भाषा के स्वाभाविक विकास में बाधा डालती हैं। हिन्दी में फारसी और अरबी के प्रचलित शब्दों को हिन्दी के अपने शब्द मान लेने की बात करने वाले द्विवेदी जी अनावश्यक रूप से किसी भाषा के शब्दों को हिन्दी में शामिल कर लेना सही नहीं मानते। वह चाहे संस्कृत के शब्द हों या अन्य दूसरी भाषाओं के।

द्विवेदी जी इस पुस्तक में लिपि के रूप में देवनागरी को ही स्वीकारने के पक्ष में दिखाई देते हैं जिस के लिए उन के पास ठोस आधार के रूप में इस लिपि को जानने वालों की संख्या है। वे लिखते हैं –"देवनागरी लिपि के जानने वालों की संख्या फारसी लिपि के जानने वालों की संख्या से कई गुना अधिक है। इस दशा में सारे भारत में फारसी लिपि का प्रचार होना सर्वथा असम्भव और नागरी का सर्वथा सम्भव है।"

पुस्तक के कुछ हिस्सों को पढ़ते समय यह लगता है कि उस दौरान भाषा और लिपि के सवाल (विशेषकर हिन्दी और उर्दू के) दो समुदायों के साथ जोड़कर देखे जा रहे थे। द्विवेदी जी, यह मानने के बावजूद कि हिन्दी और उर्दू कोई जुदा भाषाएँ नहीं हैं कई बार इस धारणा से मुक्त नहीं हो पाते हैं कि मुसलमान इस देश के निवासी नहीं हैं। उन्हें यहाँ की हिन्दी और लिपि को सीखना ही चाहिए। उदाहरण के लिए लिपि के सवाल पर उन का कथन है– "यदि मुसलमान सज्जन हिन्दुस्तान को अपना देश मानते हों, यदि स्वदेश-प्रीति को कोई चीज़ समझते हों, यदि एक लिपि के प्रचार से देश को लाभ पहुँचना सम्भव जानते हों तो हठ, दुराग्रह और कुतर्क छोड़कर उन्हें देवनागरी लिपि सीखनी चाहिए।" कहना न होगा कि पुस्तक में इस तरह के हिस्से आज की परिस्थितियों में तार्किक रूप में काफी कमज़ोर और सतही जान पड़ते हैं विशेषकर तब जब हमने लोकतांत्रिक संविधान के तहत प्रत्येक समुदाय और समाज को भाषा और संस्कृति के संरक्षण के अधिकार को एक तरह से मौलिक अधिकार का दर्ज़ा दे रखा है।

आज खुद इतिहास का हिस्सा बन चुकी यह पुस्तक जिस तरह से हिन्दी भाषा के इतिहास पर बात करती है वह पाठकों को हिन्दी भाषा और समाज को समझने में काफी सहायक साबित होती है। पुस्तक अपने छोटे से कलेवर के बावजूद आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की जिस भाषा नीति और भाषा के उत्पत्ति सम्बन्धी विचार को सामने लाती है वह निश्चित रूप से संस्कृत को हिन्दी भाषा की जननी मानने वाले नज़रिए से सर्वथा भिन्न एक स्वाभाविक और प्रगतिशील राय के साथ जाती है। जहाँ भाषा का सम्बन्ध जीवन संघर्षों से होता है और उस

के विविध रूप जीवन संघर्षों की 'डाड़ा-मेंड़ी' (द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध) के साथ तैयार होते हैं। उस का विकास सभ्यता के साथ ऐतिहासिक रूप में ग्रहण और त्याग की प्रक्रिया के क्रम में होता चलता है। भाषा के इतिहास के बहाने सामाजिक सांस्कृतिक इतिहास पर विचार करना इस का एक अहम पक्ष है। इसे पढ़ते समय ऐतिहासिक स्मृति और युगीन द्वंद्व को ध्यान में रखना जितना ज़रूरी है उतना ही आज के समय में भाषिक विमर्शों के साथ भी इसे जोड़ने की जरूरत जान पड़ती है।

कुल मिलाकर यह कि समाज की गतिशील अवस्था और संस्कृति के प्रवाह को ध्यान में रखकर जिस तरह द्विवेदी जी हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और उस के विकास पर विचार करते हैं उस से यह बात तो साफ हो जाती है कि हिन्दी भाषा का जो रूप आज हमारे सामने है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। इसे पढ़ने पर संस्कृति की एकरूपता का कटघरा निर्मित करने वालों का भ्रम भी जाता रहेगा कि भाषा और संस्कृति में शुद्धता जैसी कोई चीज नहीं हुआ करती है। पुस्तक इस विचार के साथ आगे बढ़ती है कि आज हिन्दी भाषा का जो स्वरूप और उस की जो संरचना है, संस्कृति के अन्य पक्षों की तरह उस में भी मिलावट है और सब कुछ अविशुद्ध है। मानव संस्कृति के विकास पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा कही गई बात से सहमत होते हुए भाषा के सम्बन्ध में भी यह कह देना अनुचित न होगा कि यहाँ भी "शुद्ध है केवल मानव की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। जो गंगा की अबाधित, अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है।"

यह किताब इस बात की बानगी है कि तत्कालीन हिन्दी भाषी समाज के लोकवृत्त में खड़ी बोली हिन्दी की लिपि और मानकता के प्रश्नों पर बखूबी विचार हुआ करता था। इस के ऐतिहासिक सन्दर्भ और इस में लिखी गई बातें कई मायनों में भाषा और समाज के बनते-बिगड़ते रिश्तों के क्रम में काफी मानीखेज हैं। यह पुस्तक हिन्दी भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी विचारों में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'पुरानी हिन्दी' और अयोध्या प्रसाद खत्री की पुस्तक 'खड़ी बोली हिन्दी की कविता' से जुड़ती है तथा बाद के दिनों में हिन्दी भाषा और समाज के आपसी रिश्तों को लेकर किए गए क्रिस्टोफर किंग, वसुधा डालमिया, ज्ञानेद्र पाण्डेय, फ्रेंचेस्का ओरसीनी के वैसे शोध कार्यों का आधार बनती है जो सही मायने में किसी भी भाषा के बनने में उस की स्वभावगत प्रक्रियाओं को सामने लाने वाले हैं। आज के समय में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषा सम्बन्धी विचारों की प्रासंगिकता को महसूस करती हुई 'हिन्दी का लोकवृत्त' पुस्तक में फ्रेंचेस्का ओरसीनी लिखती हैं—

"किसी भी भाषा के बनने में उन राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हलचलों का हाथ होता है जो उस भाषा के बनते समय चल रही होती हैं। अमीर खुसरो के समय से चली आ रही हिन्दी के बारे में जब भारतेन्दु हरिश्चन्द ने 'हिन्दी नई चाल में ढली' की घोषणा की थी तो वे इस सच्चाई को प्रतिध्वनित कर रहे थे। यही 'नई चाल' बीसवीं सदी के शुरू होते-होते एक नया मोड़, एक नया अन्दाज़ अपनाने लगी थी। आज इक्कीसवीं सदी में भी हिन्दी भाषा लगातार विवादों और चर्चा के केन्द्र में है। उस के रूप से लेकर, जिस में वर्तनी और शब्द भण्डार प्रमुख हैं, उस के आन्तरिक तत्त्व तक सभी कुछ सवालों के घेरे में हैं। अंग्रेजी का हमला अगर उसे 'हिंग्लिश' बनाए दे रहा है तो पुरातनपन्थियों की जकड़बन्दी उसे 'हिंस्कृत' करने पर आमादा है। उस में अब उतनी भी सजीवता नहीं बची जितनी हमें आचार्य द्विवेदी में नज़र आती है। आचार्य द्विवेदी के समय से आगे बढ़ने की बजाए कहा जाए कि वह पीछे हो गई है.."

दीनानाथ मौर्य दो दशक से भाषा शिक्षा के क्षेत्र में सक्रिय हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन पौड़ी उत्तराखंड में बतौर हिन्दी भाषा रिसोर्स पर्सन कार्यरत हैं। सम्पर्कः dina.maurya@azimpremjifoundation.org

अध्यापक अनुपस्थिति प्रवृत्ति : एक अध्ययन

रिसर्च ग्रुप । अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन

शिक्षा के क्षेत्र में ज़मीनी अध्ययन मार्च, 2017

1.परिचय

1.1 पृष्ठभूमि एवं सन्दर्भ

पिछले कई वर्षों से शिक्षक अनुपस्थिति की बढ़ती प्रवृत्ति को प्राथमिक स्कूली व्यवस्था में एक गम्भीर चिन्ता के तौर पर देखा जाता रहा है। जन सामान्य में प्रचलित शिक्षक अनुपस्थिति की धारणा यह आभास दिलाती रही है कि प्राथमिक स्कूली व्यवस्था में सब कुछ ठीक नहीं है। शिक्षक गैर-हाजिरी की बढ़ती दर को कुछ इस तरह से रेखांकित किया जाता रहा है मानो शिक्षकों की एक बड़ी संख्या स्कूल से नदारद रहती है। इसकी गम्भीरता का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि कुछ ब्यौरे शिक्षकों की अनुपस्थिति दर 25-50 प्रतिशत तक भी आँकते हैं। जनमानस में भी यह धारणा घर कर गई है कि शिक्षक अनुपस्थिति की बढ़ती प्रवृत्ति सरकारी स्कूली व्यवस्था की कमज़ोरियों के लिए ज़िम्मेदार प्रमुख कारकों में से एक है।

इस मुद्दे की गम्भीरता को समझने के लिए वर्ष 2005 से अब तक कई शोध अध्ययन भी किए गए हैं (क्रेमेर 2005; भारत सरकार 2009; भट्टाचारजी 2011; मुरलीधरन 2016), जो दर्शाते हैं कि सरकारी स्कूल व्यवस्था में किसी भी दिन लगभग 25% शिक्षक अनुपस्थित पाए जाते हैं। इन अध्ययनों ने शिक्षा से जुड़े कई नीतिगत दृष्टिकोणों को भी प्रभावित करने का काम किया है। स्पष्ट रूप से नीतिगत प्रयास इस मुद्दे को हल करने की तरफ रहे हैं, पर मुख्यतः उनका नज़रिया यह रहा है कि अध्यापकों पर पहले से ज़्यादा नियन्त्रण कर के इसे ठीक किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, हाल ही में सरकार ने अपने आर्थिक सर्वेक्षण में अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति पर लगाम कसने के लिए बायोमेट्रिक प्रणाली का सुझाव दिया (भारत सरकार 2017)।

इन प्रचलित ब्यौरों के उलट स्कूल शिक्षा व्यवस्था के साथ अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन का तकरीबन दो दशकों से अधिक समय का ज़मीनी अनुभव यह बताता है कि शिक्षक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति वैसी केन्द्रीय चिन्ता का विषय नहीं है जैसा कि प्रचलित ब्यौरे बताते हैं। स्कूल के ज़्यादातर शिक्षक अपने काम के प्रति समर्पित नज़र आते हैं।

शिक्षक अनुपस्थिति की प्रचलित धारणा एवं फाउण्डेशन के अपने ज़मीनी अनुभवों से उपजे विरोधाभास को और करीब से समझने के लिए वर्ष 2016 में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की फील्ड रिसर्च टीम द्वारा उन क्षेत्रों में ज़मीनी स्तर पर एक अध्ययन किया गया जहाँ फाउण्डेशन सक्रिय रूप से उपस्थित है। इस अध्ययन का उद्देश्य यह समझना था कि किस हद तक और किन कारणों से अध्यापक स्कूलों में 'उपस्थित नहीं' हैं। यह अध्ययन पूर्व में किए गए अध्ययनों से इस मायने में भी अलग है कि इसमें मात्रात्मक (Quantitative) एवं गुणात्मक (Qualitative) दोनों पहलुओं को समाहित किया गया है।

इस अध्ययन के परिणाम यह बताते हैं कि अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति, जिसे 'बिना कारण

के अनुपस्थित रहना' समझा जाता है, वह कुल मिलाकर होने वाली अनुपस्थिति की तुलना में काफी कम है। सामान्यतः अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति 2 से 5 प्रतिशत के दायरे में है, जहाँ कि कुल मिलाकर होने वाली अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति 20 प्रतिशत है। यूँ तो यह आंकड़ा अन्य अध्ययनों के बिलकुल करीब है, परन्तु बहुत से अध्ययन उन विभिन्न कारणों पर पर्याप्त गौर नहीं करते हैं जिनसे स्कूलों में अध्यापक की अनुपस्थिति बनती है। ये कारण सरकारी स्कूल व्यवस्था की वास्तविकता के चलते आधिकारिक दायित्व (अकादमिक एवं प्रशासनिक) और अन्य विभागीय कार्य से लेकर उन स्वीकृत छुट्टियों तक के हैं जिसके लिए वे अपनी सेवा शर्तों के अन्तर्गत पात्र हैं। प्रचलित ब्यौरों में अध्यापक के कक्षा में नहीं होने को सीधे-सीधे 'अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति' में दर्ज किया जाता है। इसी तरह अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति को अक्सर एकमात्र महत्त्वपूर्ण मुद्दे के रूप में देखा जाता है, यह दृष्टिकोण स्कूल सुधार के बाकी कई अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्दों की अनदेखी करता है। उदाहरण के लिए सरकारी स्कूलों में पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित अध्यापकों की नियुक्ति के लिए प्रशासनिक प्रयासों की ज़रूरत, गैर-अकादमिक कार्य के बोझ से अध्यापकों को दूर रखने की जरूरत और मल्टी-ग्रेड मल्टी-लेवल (एमजीएमएल) पेडागॉजी को केवल एक कामचलाऊ अस्थाई उपाय के रूप में (न कि एक प्रभावी या इष्टतम उपाय के रूप में) देखने की ज़रूरत।

मात्रात्मक अध्ययन के निष्कर्ष को और भी बेहतर तरीके से समझने के लिए विभिन्न स्थानों में कुछ चयनित स्कूलों और उनके अध्यापकों का एक विस्तृत गुणात्मक अध्ययन (केस स्टडी) भी किया गया, जो इस तरफ इशारा करता है कि अलग-अलग तरह की विपरीत परिस्थितियों में काम करने के बावजूद शिक्षक साथी अपनी भूमिका का निर्वहन ठीक से कर पा रहे हैं। यह एक ऐसा निष्कर्ष है जो प्रचलित ब्यौरों के ठीक उलट है। पहुँच में कठिनाई, मूलभूत सुविधाओं का इन स्कूलों में अभाव, या कभी-कभी प्रतिकूल छात्र-शिक्षक अनुपात जैसे हालात के बाद भी इन स्कूलों में पाया गया कि अध्यापक अपने काम में जुटे हुए थे। अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति से सम्बन्धित कोई भी चिन्ता न तो निचले स्तर के अधिकारियों ने व्यक्त की और न समुदाय की ओर से कोई शिकायत दिखी। यह विस्तृत अध्ययन सरकारी स्कूल व्यवस्था में अध्यापकों की भूमिका एवं निर्वहन की वास्तविकता को समझने का प्रयास है ताकि अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति को लेकर प्रचलित विमर्शों में नए तर्क जोड़े जा सकें। इस अध्ययन के आधार पर फाउण्डेशन यह भी दलील रखता है कि शिक्षक अनुपस्थिति की प्रचलित धारणा को अलग एवं एकांगी रूप में देखने से जो तस्वीर नज़र आती है वह शिक्षक समुदाय को अपमानित करने के साथ-साथ व्यापक संस्थागत तस्वीर को भी नज़रअंदाज़ करती प्रतीत होती है। उन बातों के लिए अध्यापकों पर उँगली उठाना और दोषारोपण करना, जो कि उनके नियन्त्रण से परे हैं या व्यवस्थागत मसले का परिणाम हैं, नुकसानदायक है और यह सरकारी स्कूली प्रणाली पर विपरीत प्रभाव डालता है। शिक्षक अनुपस्थिति को व्यापक संस्थागत तस्वीर के मध्य में रख कर देखे जाने की आवश्यकता है ताकि इस अहम मुद्दे पर सूक्ष्म नीतिगत विमर्श की शुरुआत हो सके।

2. अध्यापक अनुपस्थिति प्रवृत्ति : एक अध्ययन

2.1 शोध का उद्देश्य

इस अध्ययन की परिकल्पना, शोध के मिश्रित अभिकल्प (mixed design) पर आधारित थी जिसमें मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों पहलुओं को शामिल किया गया था। मात्रात्मक अध्ययन का व्यापक शोध उद्देश्य, अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की मौजूदगी और काम की सम्बद्धता वाले चयनित क्षेत्रों में अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति दर, उसके विभिन्न कारणों, एवं इन दोनों के बीच विभिन्न सह-सम्बन्धों का आकलन करना था। गुणात्मक अध्ययन का व्यापक उद्देश्य, केस स्टडी (case studies)

के माध्यम से कुछ ऐसे शिक्षकों की प्रवृत्तियों का अध्ययन करना था जो कि दूरस्थ विद्यालयों में पदस्थापित हैं एवं विपरीत / अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में काम कर रहे हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि ऐसे विद्यालयों में शिक्षक अनुपस्थिति की दर सामान्य से अधिक होती है।

2.2 प्रतिदर्श चयन (सैम्पलिंग)

ऐसे जिलों और ब्लॉकों में अध्ययन किया गया जिनमें अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की मौजूदगी है; इनमें देश के कुछ अति वंचित क्षेत्र भी शामिल हैं। विद्यालयों का चुनाव सोद्देश्य सैम्पलिंग प्रणाली (purposive sampling method) के आधार पर किया गया और यह उन स्कूलों तक सीमित था जिनसे फील्ड स्तर पर जुड़ने वाली टीम परिचित थी। सैम्पल में शासकीय ग्रामीण निम्न प्राथमिक स्कूल और उच्च प्राथमिक स्कूल का स्पष्ट प्रतिनिधित्व रहा। शहरी स्कूल प्राथमिकता में नहीं थे, वे उच्च शहरी घनत्व वाले ब्लॉक में सिर्फ नमूने के तौर पर शामिल रहे।

तालिका-1 : अध्ययन में लिए गए स्कूल और अध्यापक : राज्य-वार (मात्रात्मक अध्ययन)

राज्य	स्कूलों की संख्या	अध्यापकों की संख्या
छत्तीसगढ़	129	660
राजस्थान	199	1040
उत्तराखण्ड	189	557
अन्य*	102	604
कुल	**619**	**2861**

*बिहार, कर्नाटक और मध्यप्रदेश

प्रथम चरण (मात्रात्मक अध्ययन) में छह राज्यों के 619 स्कूल शामिल थे, जहाँ फाउण्डेशन के सदस्यों द्वारा अध्ययन के लिए अघोषित भ्रमण किया गया। इन विद्यालयों में कुल 2861 अध्यापक पदांकित हैं (तालिका-1)।

अध्ययन के दूसरे चरण (गुणात्मक अध्ययन) में 7 विद्यालयों को शामिल किया गया, जो उन जिलों और राज्यों में स्थित हैं जहाँ अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की उपस्थिति है। शिक्षा विभाग के अधिकारियों से विचार-विमर्श कर, मौजूद अध्ययनों में अध्यापक अनुपस्थिति की दृष्टि से 'हाई रिस्क' के चिह्नित मापदण्ड पर इन्हें चुना गया (जैसे कि दूरदराज़ स्थित होना, पहुँच में कठिनाई होना; स्कूल में मूलभूत सुविधाओं का अभाव; और प्रतिकूल छात्र-शिक्षक अनुपात) – (तालिका-2)।

तालिका-2 : केस स्टडी में शामिल विद्यालय

क्र.	विद्यालय का नाम	गाँव	जिला	राज्य
1	शासकीय कन्या उच्च प्राथमिक विद्यालय	उपरपुर	उत्तरकाशी	उत्तराखण्ड
2	शासकीय प्राथमिक विद्यालय	दूनसागर	देहरादून	उत्तराखण्ड
3	शासकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय	कुफारगीर	यादगीर	कर्नाटक
4	शासकीय प्राथमिक विद्यालय	बसारपुर	टोंक	राजस्थान
5	शासकीय माध्यमिक विद्यालय	मारमतारा	धमतरी	छत्तीसगढ़
6	शासकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय	रूपारपुर	बागेश्वर	उत्तराखण्ड
7	शासकीय निम्न प्राथमिक विद्यालय	माण्डेहल्ली	माण्ड्या	कर्नाटक

2.3 आंकड़ा संग्रहण (Data Collection)

2.3.1 मात्रात्मक अध्ययन (Quantitative Studies)

अघोषित तिथि पर विद्यालय भ्रमण के दौरान आंकड़ों को दर्ज़ करने के लिए तीन अलग-अलग प्रपत्रों का इस्तेमाल किया गया– (1) स्कूल प्रपत्र, स्कूल के बारे में बुनियादी जानकारी के लिए; (2) अध्यापक अनुपस्थिति प्रपत्र, अघोषित तिथि में स्कूल भ्रमण के दौरान अध्यापक अनुपस्थिति से जुड़ी जानकारी दर्ज़ करने के लिए; और (3) अध्यापक प्रपत्र, स्कूल के प्रत्येक अध्यापक के बारे में बुनियादी जानकारी के लिए। ये तीनों प्रपत्र 'अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति' पर पहले हुए अध्ययनों पर आधारित थे।

2.3.2 गुणात्मक अध्ययन (Qualitative Case Studies)

विद्यालय से जुड़े विभिन्न हितग्राहियों (प्रधानाध्यापक, सह-अध्यापक, विद्यालय प्रबन्धन समिति के सदस्य, ब्लॉक स्तरीय शिक्षा अधिकारी) के साथ विस्तृत अर्ध संरचित (semi-structured) साक्षात्कार तथा विद्यालयी / कक्षागत प्रक्रियाओं का अवलोकन इन केस स्टडी के लिए आंकड़ा संग्रहण का मुख्य माध्यम था।

3. विश्लेषण (Analysis):

3.1 मात्रात्मक अध्ययन (Quantitative Study)

अध्ययन के प्रथम हिस्से (मात्रात्मक अध्ययन) के लिए आंकड़ा संग्रहण अगस्त-सितम्बर 2016 में किया गया। अकादमिक सत्र में यह अपेक्षाकृत स्थिर समय होता है जब त्यौहारों, छुट्टियों आदि का व्यवधान कुछ कम होता है। स्कूलों का भ्रमण करने वाली टीमों ने इस प्रकार की योजना बनाई जिससे कि वे हर स्कूल में 2-3 घण्टे (कम से कम) बिता सकें, और वह भी स्कूल समय के बीच। जानकारी इकट्ठी करने के इरादे से किए जाने वाले स्कूल भ्रमण के बारे में कोई भी पूर्व जानकारी स्कूल के साथ साझा नहीं की गई। शोध में शामिल सदस्यों ने तय तिथि एवं समयानुसार स्कूल भ्रमण कर उपलब्ध जानकारी को प्रपत्रवार दर्ज किया। अध्ययन के लिए अध्यापक अनुपस्थिति को इस तरह परिभाषित किया गया– स्कूल भ्रमण की अवधि में और उस दिन अध्यापक का स्कूल में भौतिक रूप से उपस्थित न होना। अध्यापक अनुपस्थिति प्रपत्र भ्रमण के लिए तय दिन पर ही भरा गया, लेकिन कुछ मामलों में दूसरे प्रपत्रों से सम्बन्धित जानकारी बाद में किए गए भ्रमण के समय भरी गईं।

तालिका-3 : कुल अनुपस्थिति दर (प्रतिशत में) - अध्यापक विशिष्टता ब्यौरा सहित

	उपस्थित	अनुपस्थित
कुल अध्यापक	81.1	18.9
पदानुसार		
प्रधानाध्यापक	83.5	16.5
अन्य सहयोगी अध्यापक	80.4	19.6
लैंगिक आधार पर		

महिला अध्यापक	83.8	16.2
पुरुष अध्यापक	78.4	21.6
अकादमिक योग्यतानुसार		
हाई स्कूल या उससे नीचे	77.9	22.1
हायर सेकण्डरी	83.6	16.4
स्नातक	78.9	21.1
स्नातकोत्तर	82.0	18.0
पेशेवर दक्षता के आधार पर		
अप्रशिक्षित	66.1	33.9
बुनियादी अध्यापक प्रशिक्षण में प्रमाणपत्र या डिप्लोमा (डीएड सहित)	81.3	18.7
बीएड (या बीएलएड)	82.1	17.9
कोई अन्य	73.5	26.5
शिक्षक संघ में मौजूदा पदभार एवं हैसियत के आधार पर		
पद में	76.9	23.1
पद में नहीं	81.4	18.6

आंकड़ों के विश्लेषण से जो तस्वीर सामने आई है वह दर्शाती है कि समग्रता में शिक्षक अनुपस्थिति दर तकरीबन 18.9 प्रतिशत है। यह मुरलीधरन (2016) की रिपोर्ट में बताई गई दर से थोड़ा कम है और एनुअल स्टेटस ऑफ एजुकेशन रिपोर्ट (असर) के प्रेक्षणों के काफी नज़दीक है, जो कि सालों-साल यह बताती रही है कि सरकारी स्कूलों में अध्यापक अनुपस्थिति ज़्यादातर राज्यों में 20 प्रतिशत से कम है (प्रथम 2017)। व्यक्तिगत रूप से अध्यापक स्तर की विभिन्न विशिष्टताओं के अनुसार अनुपस्थिति दर में अन्तर देखे गए और इनकी चर्चा तालिका-3 में की गई है। प्रधानाध्यापकों की अनुपस्थिति दर (16.5 प्रतिशत) अन्य अध्यापकों की अनुपस्थिति दर (19.6 प्रतिशत) से कम है। महिला अध्यापकों की अनुपस्थिति दर (16.2 प्रतिशत) पुरुष अध्यापकों की अनुपस्थिति दर (21.6 प्रतिशत) से तकरीबन 5 प्रतिशत तक कम है। अकादमिक योग्यता एवं व्यावसायिक योग्यता दोनों के आधार पर अध्यापक अनुपस्थिति में उल्लेखनीय अन्तर नज़र आया। हाईस्कूल या उससे नीचे की अकादमिक योग्यता वाले अध्यापकों (22.1 प्रतिशत) एवं व्यावसायिक योग्यता के सन्दर्भ में अप्रशिक्षित अध्यापकों (33.9 प्रतिशत) में अनुपस्थिति दर उच्चतम रही। अध्यापक संगठनों में किसी प्रकार का पद रखने वाले अध्यापकों में अनुपस्थित दर (23.1 प्रतिशत), पद न रखने वाले अध्यापकों (18.6 प्रतिशत) की तुलना में ज़्यादा पाई गई। इनमें से कुछ निष्कर्ष प्रचलित अध्ययनों से भिन्न जान पड़ते हैं, जबकि कुछ अन्य निष्कर्ष इन अध्ययनों के अवलोकनों से मेल खाते दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए क्रेमेर का अध्ययन बताता है कि प्रधानाध्यापकों और पुरुष अध्यापकों में अनुपस्थिति दर अन्य अध्यापकों एवं महिला अध्यापकों, दोनों की तुलना में अधिक है। इसके लिए वे निम्नांकित सम्भावित कारण बताते हैं- 'वरिष्ठ, अधिक शिक्षित और अनुभवी अध्यापकों में अनुपस्थिति की उच्च दर को उनकी हैसियत (रुतबे) के तर्क से समझा जा सकता है। इसी तर्क के आधार पर इस निष्कर्ष को देखा जा सकता है कि पुरुष स्पष्ट रूप से महिलाओं की तुलना में ज़्यादा अनुपस्थित रहते हैं' (क्रेमेर 2005 ; 662)। मुरलीधरन और सुंदररामन (2013) के अध्ययन का

यह निष्कर्ष कि ज़्यादा योग्य और प्रशिक्षित नियमित अध्यापक, कम योग्यता वाले और अप्रशिक्षित अध्यापकों (जो कि ज़्यादातर संविदा अध्यापक होते हैं) की तुलना में अधिक अनुपस्थित रहते हैं, फाउण्डेशन द्वारा किए गए अध्ययन से मेल नहीं खाता है।

शिक्षक संघों में पद हैसियत रखने वाले अध्यापकों में अनुपस्थिति की उच्चतर दर दूसरे अध्ययनों के निष्कर्षों जैसी ही है, जिनमें बताया गया कि शिक्षक संघों के जुड़ाव के अर्थ में अध्यापकों की राजनैतिक पहुँच उन्हें आधिकारिक ज़वाबदेही की अवहेलना करने में मदद करती है (किंगडन और मुजामिल 2003; बैटिल 2009)।

तालिका-4 : अनुपस्थिति के लिए बताए गए कारण

	आधिकारिक कार्य			अधिकृत छुट्टी	बिना कारण अनुपस्थिति
	अकादमिक	स्कूल प्रशासनिक	अन्य विभागीय		
समग्र अनुपस्थिति दर (कुल प्रेक्षणों के प्रतिशत रूप में आकलित)	3.8	2.1	0.9	9.1	2.5
पदानुसार : अनुपस्थिति दर कुल अनुपस्थिति के प्रतिशत रूप में आकलित					
प्रधानाध्यापक	24.4	18.9	4.4	35.6	16.7
सहयोगी अध्यापक (प्रधानाध्यापक नहीं)	19.7	9.4	5.3	52.6	13.1
लिंग के आधार पर : अनुपस्थिति दर कुल अनुपस्थिति के प्रतिशत रूप में आकलित					
महिला अध्यापक	15.2	6.5	4.1	61.8	12.4
पुरुष अध्यापक	25.6	15.8	6.0	37.6	15.0

जो अध्यापक स्कूल भ्रमण के दौरान उपस्थित नहीं थे, उनकी अनुपस्थिति के कारणों को चार श्रेणियों में दर्ज किया गया: (1) 'आधिकारिक अकादमिक कार्य', जैसे कि दूसरे स्कूल में पढ़ाने के लिए अस्थायी प्रतिनियुक्ति, प्रशिक्षण, क्लस्टर मीटिंग, और एन.जी.ओ. द्वारा आयोजित प्रशिक्षण; (2) 'आधिकारिक स्कूल प्रशासनिक कार्य', जैसे कि मध्याह्न भोजन से सम्बन्धित रिपोर्ट/आँकड़े जमा करना, विशेष ज़रूरतों वाले बच्चे एवं अन्य प्रोत्साहन योजनाएँ; और स्कूल संचालन सम्बन्धित अन्य नियमित जानकारी एकत्र करना, (3) 'आधिकारिक अन्य विभागीय कार्य', जैसे चुनाव या स्वास्थ्य सम्बन्धी काम, अन्य विभागों की योजनाएँ और पंचायत बैठकें; (4) 'अधिकृत छुट्टी' जैसे कि सीएल एवं मेडिकल लीव; और (5) 'बिना कारण के अनुपस्थिति'। तालिका-4 यह दर्शाती है कि स्कूल भ्रमण के दौरान जो शिक्षक उपस्थित नहीं थे, उनके सन्दर्भ में अनुपस्थिति के दर्ज कारणों में से सबसे ज़्यादा 'अधिकृत छुट्टी' 9.1 प्रतिशत रही, इसके बाद 'आधिकारिक अकादमिक कार्य' 3.8 प्रतिशत और 'बिना कारण के अनुपस्थिति' 2.5 प्रतिशत रही। इस तरह देखें तो अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति– जो कि 'बिना किसी कारण के अनुपस्थित रहना' है– वह महज 2.5 प्रतिशत पाई गई। यह कुल अध्यापक प्रेक्षण के प्रतिशत रूप में आकलित अनुपस्थिति है। कर्तव्य की अवहेलना वाली श्रेणी– जिसे बिना कारण के अनुपस्थित रहना कहा जाता है– उसकी दरें दूसरे अध्ययनों में भी काफी कम देखी गई हैं। मुरलीधरन (2016) के अध्ययन में यह 4 से 5 प्रतिशत बताई गई। फिर भी यह ऐसा पहलू है जो व्यापक अध्यापक ज़वाबदेही विमर्श में कम उभरता जान पड़ता है। हमारे

अध्ययन में अध्यापकों से भी विभिन्न श्रेणियों में होने वाली अनुपस्थिति के विशिष्ट कारण पूछे गए। स्पष्ट रूप से, विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण– डाइट, ब्लॉक एवं क्लस्टर पर होने वाले सेवाकालीन (इन सर्विस) अध्यापक प्रशिक्षण, एसएमसी प्रशिक्षण, गैर–सरकारी संस्थाओं द्वारा आयोजित प्रशिक्षण, यही सब कारण आधिकारिक अकादमिक कार्य की वज़ह से होने वाली अनुपस्थिति में बार-बार दिखाई पड़ते हैं। जानकारी एकत्र कर वरिष्ठ अधिकारियों को भेजना और मध्याह्न भोजन सम्बन्धी कार्य, 'आधिकारिक प्रशासनिक कार्य' श्रेणी में होने वाली अनुपस्थिति के प्रमुख कारण रहे। चुनाव ड्यूटी, विभिन्न जनगणना सर्वे और पंचायत मीटिंग जैसे कार्य 'आधिकारिक अन्य विभागीय कार्य' श्रेणी में होने वाली अनुपस्थिति के प्रमुख कारण के तौर पर देखे गए। उपस्थित अध्यापकों से यह भी पूछा गया कि यदि उनके सहकर्मी अनुपस्थित रहते हैं तो उनका काम और व्यवस्था किस तरह प्रभावित होते हैं। ज़्यादातर ज़वाब जो मिले वे यह इंगित करते हैं कि ऐसी स्थिति में 'अध्यापक संयुक्त कक्षाएँ लगा लेते हैं', 'कक्षाएँ किसी स्थानापन्न अध्यापक द्वारा ली गईं,' या 'अध्यापक ने बच्चों को व्यस्त रखने के लिए कुछ काम दे दिया'।

प्रधानाध्यापकों एवं अन्य अध्यापकों और महिला एवं पुरुष अध्यापकों के बीच अनुपस्थिति के कारणों में स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। 'आधिकारिक प्रशासनिक कार्य' और 'आधिकारिक अकादमिक कार्य', दोनों ही कारणों में प्रधानाध्यापकों एवं अन्य अध्यापकों के बीच अन्तर बिल्कुल स्पष्ट है। इनमें प्रधानाध्यापकों की अनुपस्थिति दर अन्य अध्यापकों की तुलना में क्रमशः 9 और 5 प्रतिशत अधिक रही। बहरहाल 'अधिकृत छुट्टी' वाली श्रेणी में प्रधानाध्यापकों की अनुपस्थिति दर (35.6 प्रतिशत), अन्य अध्यापकों (52.6 प्रतिशत) की तुलना में उल्लेखनीय रूप से कम है। 'आधिकारिक अकादमिक कार्य' की श्रेणी में लिंग के आधार पर स्पष्ट अन्तर देखा गया। पुरुष अध्यापकों में यह दर 25.6 प्रतिशत और महिला अध्यापकों में 15.2 प्रतिशत रही, जो कि 10 प्रतिशत का अन्तर बताती है। इसी तरह से 'आधिकारिक स्कूल प्रशासनिक कार्य' के लिए भी पुरुष अध्यापकों (15.8 प्रतिशत) की अनुपस्थिति दर, महिला अध्यापकों (6.5 प्रतिशत) की तुलना में 10 प्रतिशत अधिक है। हालाँकि 'अधिकृत छुट्टी' के मामले में महिला अध्यापकों (61.8 प्रतिशत) की अनुपस्थिति दर, पुरुष अध्यापकों (37.6 प्रतिशत) की तुलना में लगभग 25 प्रतिशत ज़्यादा है।

यह अध्ययन, अध्यापक स्तर एवं स्कूल स्तर के कई सारे बिन्दुओं के साथ औसत अध्यापक अनुपस्थिति के सह-सम्बन्धों का विश्लेषण भी करता है, जिसमें शिक्षक की उम्र, विद्यालय की भौतिक स्थिति/श्रेणी/सुविधाएँ, एवं प्रशासनिक निगरानी जैसे घटकों को शामिल किया गया है। हालाँकि यह अध्ययन इन सह–सम्बन्धों को मज़बूती से स्थापित होता नहीं पाता है।

3.2 गुणात्मक केस स्टडी (Qualitative Case Studies):

मात्रात्मक अध्ययन के निष्कर्ष को और भी बेहतर तरीके से समझने के लिए विभिन्न राज्यों/जिलों में स्थापित 7 ऐसे विद्यालयों (तालिका–2) का विस्तृत गुणात्मक अध्ययन (केस स्टडी) किया गया, जहाँ शिक्षक विपरीत/अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में काम कर रहे हैं। ये स्कूल उन जिलों और राज्यों के हैं जहाँ अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की उपस्थिति है। शिक्षा विभाग के अधिकारियों से विचार–विमर्श कर, मौजूद अध्ययनों में अध्यापक अनुपस्थिति की दृष्टि से हाई रिस्क के चिह्नित मापदण्ड पर इन्हें चुना गया (जैसे कि दूरदराज़ स्थित होना, पहुँच में कठिनाई होना; स्कूल में मूलभूत सुविधाओं की खराब दशा; और उच्च छात्र–शिक्षक अनुपात)। ये स्कूल वे हैं जहाँ अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति के मुद्दे के इर्द गिर्द किसी भी तरह की कोई ज़ाहिर चिन्ता नहीं दिखी। इस तरह ये केस स्टडी, एक स्तर पर, मात्रात्मक अध्ययन के निष्कर्षों की अनुपूरक हैं, जो बताती हैं कि व्यवस्था में अनाधिकृत रूप से शिक्षकों की अनुपस्थिति यानी कि वास्तविक 'अध्यापक अनुपस्थिति

बॉक्स-1

शासकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय – कुफारगीर, यादगीर, कर्नाटक केस स्टडी के कुछ अंश

कर्नाटक के ग्रामीण इलाके के कुफारगीर गाँव के बीचों-बीच शासकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय है। यह गाँव, सुरपुर ब्लॉक मुख्यालय से 28 किलोमीटर दूर स्थित है। स्कूल को जाने वाली सड़कों की हालत बहुत दयनीय है। जनता के लिए सार्वजनिक परिवहन सुविधाएँ भी बहुत खराब हैं। लोगों को व्यक्तिगत वाहनों एवं निजी आटो (टम-टम) पर निर्भर रहना पड़ता है, जो शायद ही कभी मिलता है।

वर्तमान समय में स्कूल में 321 बच्चे नामांकित हैं। वर्ष 2003 में, स्कूल में 1 से 7 तक की कक्षाओं में 5 अध्यापकों समेत 238 छात्र थे। स्कूल में केवल 4 कमरे थे, जिनकी दशा बहुत ही जीर्ण थी। खासतौर पर बारिश के मौसम में स्कूल के मैदान में पानी भर जाता और कुछ कमरे इस्तेमाल के लायक ही नहीं बचते थे। अध्यापक या तो बच्चों को एक साथ बैठाते और मल्टीग्रेड कक्षाएँ चलाते अथवा मज़बूरन बच्चों को वापस घर भेज देते। अब स्कूल में मूलभूत सुविधाओं के मद्देनजर बहुत अच्छी व्यवस्था है। ऐसा समुदाय के कुछ सदस्यों व कुछ समर्थ अध्यापकों के प्रयासों से सम्भव हो सका है। वे, कई सालों में, समुदाय को लामबन्द करने में सफल हुए।

वर्तमान समय में स्कूल में पाँच नियमित सहायक अध्यापक नियुक्त हैं जो उच्चतर प्राथमिक कक्षाओं के साथ काम करते हैं और तीन पैरा-अध्यापक हैं जो छोटी प्राथमिक कक्षाओं को लेते हैं। दो नियमित अध्यापक काफी दूर – क्रमशः धारवाड़ और बेलगाम – से आते हैं। उन्होंने जान बूझ कर गाँव में रहना चुना है। उनका कहना है कि इस निर्णय के पीछे दूरी और आने-जाने के साधनों का न होना है। दूसरा कारण यह है कि ऐसा करने से वे समुदाय के साथ जुड़ सकेंगे, उन्हें समझ सकेंगे, उनके साथ अच्छा रिश्ता कायम कर सकेंगे और साथ ही स्कूल के बाद के समय में बच्चों के साथ जुड़ सकेंगे। दो अन्य अध्यापक रोज एक तरफ 15 किलोमीटर का सफर तय करते हैं।

इन शिक्षकों के आपसी संवाद में आयु, अनुभव या वरिष्ठता का किसी तरह का कोई पदानुक्रम (hierarchy) बोध नज़र नहीं आता है। पेशेवर भाईचारे की इस भावना की झलक एक अध्यापक के जवाब में बखूबी दिखाई देती है – ''महत्वपूर्ण बात यह है कि हम कभी भी व्यक्तिगत रूप से कोई श्रेय लेने का प्रयास नहीं करते। हम जो भी करते हैं वह बतौर टीम करते हैं। यही हमारी सबसे बड़ी ताकत है, जिसने हमें एकजुट रखने में और यह सब कुछ हासिल करने में मदद की।'' समुदाय के साथ मिल कर किए गए प्रयासों के बारे में उन्होंने बताया कि वर्ष 2014 में पहली बार एसएमसी का गठन किया गया। एसएमसी की शुरुआती निष्क्रियता के बाद गाँव और समुदाय के बीच रह कर किया गया काम आखिर रंग लाया। इतना ही नहीं, ग्रामीण गुटबाजी के बावजूद अध्यापक स्कूल के विकास के लिए कोष जमा करने में सफल हुए। इसमें किताबों, चार्ट व मेज-कुर्सियों समेत एक पुस्तकालय का निर्माण करना शामिल है। स्कूल में सकारात्मक कार्य संस्कृति का निर्माण करने में स्कूल के प्रधानाध्यापक का बहुत बड़ा सहयोग था। वह इस बात के लिए सचेत थे कि उन्हें उदाहरण पेश करते हुए नेतृत्व करना है।

की प्रवृत्ति' उस चिन्ताजनक अनुपात में नहीं है जैसा वर्तमान शिक्षा नीति के विमर्श में उभारा गया है। दूसरे स्तर पर, ये स्टडी उन व्यवस्थागत एवं व्यक्तिगत चुनौतियों के लिए एक अन्तर्दृष्टि भी देती हैं जिनसे अध्यापक, सरकारी स्कूली व्यवस्था के अन्तर्गत रोज जूझते हैं। ये स्टडी बताती हैं कि इन चुनौतियों के बाद भी किस तरह अध्यापक अपने काम के प्रति अनुकरणीय प्रतिबद्धता और संकल्प का परिचय देते हैं।

जैसा कि इन केस स्टडी से दिखता है, स्कूल का दूरदराज़ स्थित होना, पहुँच में कठिनाई, अध्यापकों की कमी, पर्याप्त मूलभूत सुविधाओं की कमी, मल्टीग्रेड कक्षाएँ, और वंचित तबके के बच्चे जिन्हें घर में पर्याप्त सहयोग नहीं मिल पाता, जैसी तमाम तरह की समस्याओं और कठिन परिस्थितियों के बावजूद, सभी सातों स्कूलों में अध्यापकों की उपस्थिति उत्साहवर्धक है। इन स्कूलों में पदस्थापित सभी अध्यापक नियमित व पाबन्दी से स्कूल आना सुनिश्चित करते हैं, और पूरे मनोयोग से अपनी ज़िम्मेदारी निभाते नज़र आते हैं। ये अध्यापक अपने काम में जिस तरह जुटे हुए दिखते हैं वह सरकारी स्कूलों के अध्यापकों के रवैये और व्यवहार के प्रति प्रचलित धारणा या नज़रिए को चुनौती देता है। इन केस स्टडी में ऐसे समर्पित और लगनशील अध्यापकों का उल्लेख है जो विपरीत परिस्थितियों में काम करने के बावजूद अपने प्रयासों में खूब ऊर्जा लगाते हैं। सवाल उठता है कि आखिर ऐसा क्या है जो तमाम मुश्किलों के बाद भी इन अध्यापकों को कर्तव्य निर्वहन के प्रति सजग एवं प्रेरित रखता है?

अपने साक्षात्कार में कई अध्यापकों ने बहुत ही साफतौर पर कहा कि वे किसी आदर्श विचार, जैसे कि पढ़ाने के जुनून, बच्चों से प्यार या समाज सुधार की तड़प के चलते शिक्षण के पेशे में नहीं आए हैं। बल्कि उन्होंने इसे सुविधा, अवसर की उपलब्धता, आर्थिक कारण या इसी तरह के दूसरे अन्य कारणों से चुना। लेकिन जैसा कि अध्यापकों ने यह भी बताया, एक समय के बाद उन्हें अपने ही काम की सार्थकता और महत्त्व समझ में आने लगा और अब वह उनकी लगन और प्रेरणा बन गया है। कुछ लोगों के लिए हो सकता है कि यह बच्चों के साथ या प्रेरणादायी सहकर्मियों के साथ मिले किसी खास अनुभव के कारण हुआ हो; पर शायद यह शिक्षण पेशे की प्रकृति के कारण ही है। दूसरे शब्दों में कहें तो एक सक्षम बनाने वाला और सकारात्मक किस्म का वातावरण दिया जाए, जो साझापन और भरोसा बढ़ाता हो तो अध्यापक खुद से समर्पित एवं अभिप्रेरित होकर काम करते हैं और बिना किसी बाहरी देखरेख या निगरानी के खुद को ज़वाबदेह मानते हैं। ये मानक जो उनके व्यवहारों को प्रेरित करते हैं, वही उन्हें ज़वाबदेह भी बनाते हैं। हालाँकि ये सातों मामले (तालिका-2) पृष्ठभूमि और इनकी अपनी चुनौतियों के लिहाज़ से अपने आप में अनूठे हैं, फिर भी इनके बीच समानता के कुछ सूत्र उभरते हैं।

पहला, पहुँचने की कठिनाई और आने जाने की चुनौतियों के बावजूद अध्यापक पूरी तरह से उपस्थित देखे गए। यहाँ तक कि व्यक्तिगत असुविधा और पर्याप्त मात्रा में खर्च उठाकर भी अध्यापक स्कूल पहुँचे हैं। उदाहरण के लिए कुफारगीर स्कूल (बॉक्स-1) वाले मामले में अध्यापकों ने गाँव में ही ठहरना तय किया ताकि वे समुदाय को बेहतर समझ सकें और स्कूल समय के अलावा भी बच्चों के साथ सीखने-सिखाने की गतिविधियों में लगे रह सकें। बसारपुर स्कूल (बॉक्स-2) में अध्यापक कई साधन बदलकर और काफी समय लगाकर स्कूल पहुँच पाते हैं। उत्तराखण्ड के सभी तीनों स्कूलों में, राज्य के दूसरे स्कूलों की ही तरह, अध्यापकों को किराए की एक टैक्सी साझा करके आना होता है। इस आने-जाने की व्यवस्था में उनके काफी पैसे खर्च होते हैं। फिर भी इन अध्यापकों के बारे में बताया गया और देखा भी गया कि वे समय के पाबन्द और नियमित हैं। उनकी यह लगन सिर्फ स्कूल के भीतर प्रयास करने तक सीमित नहीं है।

समुदाय को स्कूल की प्रक्रियाओं में शामिल करने के प्रयास में भी उनकी यह लगन दिखती है। अक्सर यह बहुत ही कठिनाई वाला काम है क्योंकि गरीबी, निरक्षरता एवं असमर्थता के कारण सामाजिक और आर्थिक रूप से वंचित अभिभावक न तो अपने बच्चों के रोज-ब-रोज के स्कूली मसलों में घुसते हैं और न ही सार्वजनिक संस्थान के रूप में स्कूल से जुड़ पाते हैं। सरकारी स्कूलों में निरन्तर गिरती नामांकन की दर एक गम्भीर चिन्ता के तौर पर दिखाई देती है। परन्तु इन केस स्टडी में कुछ ऐसे भी स्कूल है जहाँ नामांकन में सुधार नज़र आता है। उदाहरण के लिए उत्तराखण्ड के देहारादून जिले में स्थित दूनसागर प्राथमिक स्कूल एवं राजस्थान के टोंक जिले में स्थित बसारपुर प्राथमिक स्कूल।

दूसरा, व्यक्तियों के रूप में इन अध्यापकों और इनके व्यवहारों में इन बच्चों और समुदाय की ज़रूरत और परिवेश (ज़्यादातर वंचित और बहिष्कृत श्रेणी के सन्दर्भ में) के प्रति सहानुभूति झलकती है। साथ ही वे लैंगिकता एवं समता के मुद्दे के प्रति संवेदनशीलता और बच्चों की काबिलियत में भरोसा रखते हैं। उदाहरण के लिए– कर्नाटक के माण्ड्या जिला में स्थित माण्डेहल्ली निम्न प्राथमिक स्कूल के प्रभारी प्राध्यापक का यह कथन, "इस उम्र में बच्चे वह सब कुछ सीखने की क्षमता रखते हैं जो आप उन्हें पढ़ा रहे हो", और रूपारपुर उच्च प्राथमिक विद्यालय (बाक्स 3) के प्राध्यापक का यह कहना, "स्कूल में बच्चे प्रशिक्षण के लिए नहीं आए; वे यहाँ शिक्षा के लिए आते हैं,

बॉक्स-2

शासकीय प्राथमिक विद्यालय – बसारपुर, टोंक, राजस्थान
केस स्टडी के कुछ अंश

टोंक जिला मुख्यालय से 47 किलोमीटर दूर स्थित प्राथमिक विद्यालय की स्थापना वर्ष 2001 में हुई थी। इस स्कूल की स्थापना में वर्तमान प्रधानाध्यापक के अथक प्रयासों का भी योगदान रहा। उस वक्त स्कूल में केवल 1 छात्र था; आज इसमें कुल 82 छात्र हैं जो 1 से 5 तक की कक्षा में पढ़ते हैं। 2007 में भवन आवंटन होने से पूर्व प्रधानाध्यापक खुद अपनी जेब से किराया देते थे। कुल 82 छात्रों में 61 बसारपुर के कंजर जाति के हैं और 21 अन्य जातियों के हैं जो 2 किलोमीटर दूर एक अन्य गाँव के हैं।

स्कूल में मुख्य रूप से कंजर आते हैं। सामाजिक रूप से निर्वासित यह एक स्थानीय समुदाय है, जो मुख्यतः राजस्थान और मध्यप्रदेश में निवास करते हैं, और बस्तियों की परिधि पर रहते हैं। इस समुदाय में शिक्षा को अधिक प्राथमिकता नहीं दी जाती है। परिणामस्वरूप, अक्सर स्कूल में उपस्थिति बहुत ही खराब होती है। ऐसा देखा गया कि जब भी ऐसा होता है, प्रधानाध्यापक समुदाय के पास जाते हैं और बच्चों की अनुपस्थिति के बारे में पूछताछ करते हैं और माता-पिता से बात करने का प्रयास करते हैं।

हालाँकि स्कूल एक सड़क से जुड़ा हुआ है, लेकिन इस पर कोई सार्वजनिक परिवहन की सुविधा नहीं है जिससे लोग नियमित आ-जा सकें। स्कूल के दो अध्यापक कैरी नामक जगह में रहते हैं और उन्हें प्रतिदिन 32 किलोमीटर का सफर तय करना पड़ता है। दूरी के अलावा ये सफर बहुत ही थकाऊ होता है और इसमें लगने वाला समय भी अनिश्चित होता है क्योंकि यह चरणों में पूरा होता है। जिस जगह से उन्हें साधन बदलना पड़ता है उस जगह पर इन्तज़ार का समय वास्तविक यात्रा के समय से कहीं ज़्यादा हो सकता है। कहान से बसारपुर के अन्तिम चरण के सफर को पूरा करने के लिए अध्यापकों को आधे घण्टे पैदल चलना पड़ता है। वापसी यात्रा भी इसी तरह की होती है।

बॉक्स-3

उच्च प्राथमिक विद्यालय रूपारपुर – बागेश्वर, उत्तराखण्ड केस स्टडी के कुछ अंश

उच्च प्राथमिक विद्यालय, रूपारपुर, बागेश्वर जिले के गरुड़ ब्लॉक में आता है। यह ब्लॉक मुख्यालय से तकरीबन 18 किलोमीटर दूर है। यहाँ के लिए कोई भी सार्वजनिक परिवहन की व्यवस्था नहीं है और यहाँ केवल निजी वाहन से या किराए की टैक्सी से ही पहुँचा जा सकता है। स्कूल से कुछ पहले ही वाहनों के चलाने लायक सड़क खत्म हो जाती है, और अन्तिम, लगभग 1.5 किलोमीटर का उबड़खाबड़ रास्ता पैदल तय करके अन्ततः स्कूल पहुँच पाते हैं। बारिश के मौसम में अध्यापकों और छात्रों के लिए यह मार्ग और भी चुनौतीपूर्ण हो जाता है। इसकी दूरी और कठिन रास्ते की वजह से स्थानीय सरकारी अधिकारी भी यहाँ बहुत कम आते हैं। आज स्कूल में 3 अध्यापक हैं। इनमें प्रधानाध्यापक शामिल हैं। उत्तराखण्ड के अधिकांश उन अध्यापकों की तरह, जो सुदूर गाँवों में काम करते हैं और जो आम परिवहन से नहीं जुड़े हैं, ये शिक्षक भी एक टैक्सी किराए पर करते हैं जो उन्हें प्रतिदिन स्कूल लाती है।

स्कूल का चरित्र उस की कुछ प्रक्रियाओं में दिखाई दिया। यह देखा गया कि बच्चे, लैंगिक और जातीय भेदभाव के बिना, बारी-बारी से मध्याह्न भोजन के वितरण की ज़िम्मेदारी ले रहे थे। इसमें भोजन-माता से बर्तन और खाना लेना और सभी बच्चों को बाँटना शामिल है। ज़मीन पर दरी बिछाने में अध्यापकों ने बच्चों की मदद की और मध्याह्न भोजन के लिए उसी दरी पर बच्चों के साथ बैठ गए। बच्चों के बैठने के बाद प्रधानाध्यापक ने बच्चों की जगह बदल दी और यह सुनिश्चित किया कि प्रत्येक लड़की एक लड़के के पास बैठे। उन्होंने कहा कि ऐसा करने के पीछे बच्चों को लैंगिकता के बारे में समझाना और उन्हें जेण्डर के मुद्दों के प्रति संवेदनशील बनाना है ताकि वे इन मुद्दों का सामना करने में असहज न हों। स्कूल में कक्षा की समाप्ति बताने के लिए घण्टी नहीं बजाई जाती। प्रधानाध्यापक के अनुसार, "यहाँ पर बच्चे प्रशिक्षण के लिए नहीं आए, वे यहाँ शिक्षा के लिए आते हैं, जिसे भयमुक्त होना चाहिए।" उन का कहना है कि उन्होंने शिक्षा के बारे में पढ़ते हुए बहुत से विचार ग्रहण किए। वह नियमित रूप से पढ़ते हैं। यहाँ तक कि स्कूल की सुबह की सभा भी यहाँ पर अनोखी है। यह तीन भाषाओं में आयोजित की जाती है– एक-एक दिन के अन्तराल पर हिन्दी, अँग्रेजी और संस्कृत का इस्तेमाल किया जाता था।

यह भी देखा गया कि स्कूल आधारित अन्तःक्रियाओं में भी प्रधानाध्यापक ने भयमुक्त वातावरण का निर्माण करने का प्रयास किया जिससे अध्यापक अपने मत वैभिन्न्य को हल करने के लिए अथवा किसी विषय पर अपनी अज्ञानता को व्यक्त करने में परस्पर ईमानदार बने रहे। जैसा कि एक अध्यापक याद करते हैं, "एक बार हम एक विषय पर चर्चा कर रहे थे। उस दौरान फोटोसिन्थेसिस का सन्दर्भ आया। मैं इसके बारे में सिर्फ इतना ही जानता था कि यह 'पौधों द्वारा खाद्य उत्पादन की एक प्रक्रिया' है। कक्षा के बाद मैंने विज्ञान के अध्यापक से इस विषय पर बात की। उन्होंने पूरी प्रक्रिया को विस्तार से समझाया और अपनी अगली कक्षा में इसी विषय पर चर्चा भी की।"

जिसे भयमुक्त होना चाहिए" – दर्शाते हैं कि वे बालमन की भी समझ रखते हैं।स्कूल की बेहतरी के लिए शिक्षक अपनी सरकारी ज़िम्मेदारी से एक कदम आगे जाकर व्यक्तिगत स्तर पर भी योगदान देते दिखे। माण्डेहल्ली निम्न प्राथमिक स्कूल की बेहतरी के लिए शिक्षकों ने अपनी जेब से पैसे खर्च किए। इस बात की पुष्टि विद्यालय प्रबन्धन समिति (एसएमसी) के सदस्यों ने भी की।

रूपारपुर स्कूल (बॉक्स–3) में देखा गया कि अध्यापक मध्याह्न भोजन जैसी स्कूली गतिविधियों में सामाजिक समता के वातावरण को बढ़ावा देने में जुटे रहते हैं और आपस में व बच्चों से बातचीत में बराबरी का रिश्ता बनाए रखते हैं। मारमतारा उच्च प्राथमिक विद्यालय (बॉक्स-4) में अवलोकन के दौरान बच्चों के प्रति गहन संवेदनशीलता देखी गई। अध्यापक, कमजोर एवं विशेष आवश्यकता

बॉक्स–4

शासकीय माध्यमिक विद्यालय, मारमतारा – धमतरी, छत्तीसगढ़ केस स्टडी के कुछ अंश

यह विद्यालय धमतरी जिला मुख्यालय से लगभग 17 किलोमीटर दूर है। यहाँ प्रधानाध्यापक एवं सहायक अध्यापकों ने स्कूल की बेहतरी के लिए बच्चों और समुदाय के साथ गहराई के साथ काम किया है, जिसमें बच्चों से बातचीत और उन के घर जा कर माता-पिता को समझाना शामिल रहा। नियमित बैठक कर और महिलाओं को शामिल कर के एसएमसी को सक्रिय और सशक्त बनाने के लिए भी प्रयास किए गए। प्रधानाध्यापक के शब्दों में, "हमने महसूस किया कि अगर हम महिलाओं को सचेत कर सकें, तो शायद इससे फर्क पड़े। हमने उनसे यह भी कहा कि यह हमारा नहीं, आपका स्कूल है।" अध्यापक न केवल नियमित हैं बल्कि वे वक्त के बहुत पाबन्द भी हैं। प्रधानाध्यापक ने बताया, "हमने एक साथ यह तय किया कि हम स्कूल में सुबह की सभा शुरू होने से दस मिनट पहले पहुँचेंगे।" ऐसा पाया भी गया कि वे एक साथ बेहतर काम करते थे और प्रतिदिन आपस में संवाद करते थे– खास तौर से छात्रों से सम्बन्धित मामलों में। ऐसी ही एक घटना घटी जब अध्यापकों ने ध्यान दिया कि कक्षा 8 के एक छात्र का ध्यान पढ़ाई पर नहीं लग रहा था। जबकि वह कक्षा 6 व 7 में अच्छा छात्र रहा था। उन्होंने पहले आपस में मामले पर चर्चा की, उसके बाद ही उसके माता-पिता से और फिर बच्चे से बात की।

अध्यापकों का सरोकार एक बच्ची की खास ज़रूरत पर दिखाई दिया जो बधिरता की वज़ह से स्कूल में काफी संघर्ष कर रही थी। उन्होंने उसे कान की मशीन दिलवाई और साथ ही उसके मामले को पंचायत में और स्कूल शिक्षा विभाग में उठाया। यह देखा गया कि प्रधानाध्यापक ने बच्चों के सीखने के लिए कई तरह के अन्य मंचों को भी निर्मित करने की कोशिश की। उदाहरण के लिए, बाल सभा एक ऐसा ही मंच है।* इसका आयोजन हर शनिवार को किया जाता है। यहाँ बच्चे विभिन्न विषयों पर बिना तैयारी किए तुरन्त और तैयारी करके भी बोलते हैं, जैसे त्यौहारों और पर्यावरण आदि विषयों पर। बच्चे स्वयं इस कार्यक्रम की तैयारी करते हैं। समुदाय के सदस्यों की भागीदारी भी उत्साहवर्धक दिखाई देती है। बातचीत के दौरान प्रधानाध्यापक ने अपना विश्वास व्यक्त किया– "चिन्तन की योग्यता विकसित करने और भयमुक्त व स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्ति के लिए ऐसे मंच बहुत आवश्यक हैं।"

*यूँ तो बाल सभा जैसे कार्यक्रम कई ज़गहों पर सरकारी व्यवस्था के अन्तर्गत की गई पहल की तरह दिखाई देते हैं, परन्तु इस स्कूल में आयोजित 'बाल सभा' प्रधानाध्यापक के द्वारा की गई एक अनूठी पहल है जिसमें उन्हें अपने सहयोगी शिक्षकों, समुदाय के सदस्यों एवं बच्चों का भरपूर सहयोग मिला।

वाले बच्चों को कई तरह से मदद कर रहे थे। स्कूल प्रबन्धन समिति में महिला सदस्यों की सशक्त भागीदारी को लेकर भी काफी सरहनीय प्रयास किए गए हैं। इतना ही नहीं, बाल सभा जैसे मंचो का निरन्तरता से संचालन विद्यालयी स्तर पर प्रधानाध्यापक द्वारा उठाए गए सराहनीय कदमों में से एक है।

तीसरा, लगभग सभी स्कूलों में सहज एवं मैत्रीपूर्ण वातावरण देखने को मिला; अक्सर यह प्रधानाध्यापक के प्रयासों से शुरू और समर्थित रहा किन्तु रोज-रोज के काम के अर्थों में इसे सभी अध्यापकों द्वारा बनाए रखा गया। इस तरह के माहौल में स्कूल की प्रक्रियाओं को लेकर ज़िम्मेदारी के प्रति एक साझेपन का बोध दिखा। साझेपन का यह बोध सौंपे गए काम से आगे बढ़कर, एक संस्थान के रूप में स्कूल के प्रति ज़िम्मेदारी तक दिखाई देता है जिसमें सम्बन्धित लोगों, जैसे कि समुदाय और शिक्षा विभाग से जुड़े अधिकारी-कर्मचारियों से बातचीत सम्मिलित है। उदाहरण के लिए सभी स्कूलों में अध्यापक, प्रधानाध्यापक की अनुपस्थिति में स्वयं निर्णय लेते व विभिन्न स्कूली प्रक्रियाओं की ज़िम्मेदारी, एक के बाद एक, क्रम से सँभालते दिखे। साथ ही वे यह भी सुनिश्चित करते दिखे कि कार्यालयीन कार्य या अन्य किसी कारण से यदि कोई सहकर्मी अनुपस्थित है तो इसकी वज़ह से पढ़ाई-लिखाई प्रभावित न हो।

यह भी देखा गया कि अध्यापक अपने काम को लेकर अपने ही बीच समीक्षा प्रक्रिया चलाते हैं। वे यह समीक्षा औपचारिक रूप से महीने के अन्त में या फिर अपने रोज के क्रम में, छोटी और तुरन्त होने वाली बैठकों में कर लेते हैं। सहकर्मियों में आपसी भरोसा और आदर दिखा, जहाँ एक अध्यापक दूसरे अध्यापक की लम्बी अनुपस्थिति में स्कूल में पढ़ाई-लिखाई का भार स्वेच्छा से सँभाल सकता है। इसका उदाहरण उत्तराखण्ड के देहारादून जिले में स्थापित दूनसागर प्राथमिक स्कूल में दिखाई देता है, जहाँ एक शिक्षिका के लम्बे मातृत्व अवकाश पर जाने के बाद मौज़ूदा प्रधानाध्यापिका एवं एक अन्य सहायक अध्यापिका यह बखूबी सुनिश्चित करती दिखाई दीं कि कक्षागत प्रक्रियाएँ समुचित तरीके से चलती रहें। ऐसे भी उदाहरण देखने को मिले जहाँ अध्यापक किसी पाठ्यवस्तु को नहीं जानने पर, स्वीकारने में और उसे समझने में अन्य अध्यापक से मदद माँगने में कोई झिझक या शर्मिन्दगी महसूस नहीं करते हैं (बॉक्स-3)। इतना ही नहीं, अध्यापक बच्चों के अधिगम स्तर को बेहतर करने के लिए विशेष तरह के प्रयास करते हैं। उदाहरणस्वरूप, उत्तराखण्ड के उत्तरकाशी जिले में स्थित उपरपुर कन्या उच्च प्राथमिक विद्यालय के अध्यापक उन बच्चों के लिए रेमेडियल कक्षा का विशेष इन्तज़ाम करते हैं जो अधिगम स्तर के मापदण्ड पर कमज़ोर लगते हैं। प्राथमिक कक्षा पढ़कर आए ज़रूरतमन्द बच्चों के लिए इस स्कूल की अध्यापिकाएँ पहले तीन महीने रेमेडियल कक्षाएँ आयोजित करती हैं ताकि ये बच्चे कक्षा 6 का पाठ्यक्रम आसानी से समझ सकें।

अन्ततः सभी स्कूलों में प्रधानाध्यापक थे, भले ही वे नियमित हों या प्रभारी। उनकी पक्की समझ दिखी कि वे अपने स्कूल में और अपने स्कूल के लिए क्या देखना चाहते हैं। उनमें से कइयों के लिए यह दृष्टि अपने अनुभव, सरकारी स्कूली व्यवस्था में चुनौतीपूर्ण परिस्थितियों से सामना और खुद के विकास के लिए व्यक्तिगत प्रयास के मिले-जुले चिन्तन से निकली है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रधानाध्यापक अपने अनुकरणीय व्यवहार और मूल्यों के माध्यम से यही दृष्टि स्कूल के दूसरे अध्यापकों को प्रभावी तरीके से देते देखे जा सकते हैं। यह सब वे उन पेशेगत मूल्यों और मानकों का वातावरण बना कर करते हैं जिनकी वे पैरवी करते हैं और अपने स्कूल में जिनका चलन स्थापित करने के लिए काम करते हैं।

4. निष्कर्ष

अध्यापकों की अनुपस्थिति की प्रवृत्ति के बारे में हुए इस अध्ययन से कुल मिलाकर यह पता चलता है कि बिना किसी कारण अध्यापकों की अनुपस्थिति की दर केवल 2.5 प्रतिशत ही है। यह

अध्यापक अनुपस्थिति की प्रवृत्ति पर हुए अन्य अध्ययनों से भी जुड़ता है, जो यह बताते हैं कि अध्यापकों की 'कर्तव्य से सम्बन्धित लापरवाही' 5 प्रतिशत से भी कम है।

अन्य निष्कर्ष स्कूल से इतर मिलने वाले कार्यों एवं इससे जुड़ी व्यवस्थागत चुनौतियों की ओर इशारा करते हैं, जो अभी भी उनके कार्य समय का बहुत बड़ा हिस्सा ले लेते हैं। अध्यापकों को बहुत-सा समय उन गतिविधियों पर खर्च करना पड़ता है जो उनके मुख्य काम-स्कूल अध्यापन-से सम्बन्धित नहीं होती हैं।

महिला अध्यापक, पुरुष अध्यापकों की तुलना में कम अनुपस्थित पाई जाती हैं। यह भी पाया गया कि स्कूल आने-जाने में लगने वाले समय से अनुपस्थिति पर फर्क पड़ता है, जहाँ आने-जाने में तुलनात्मक रूप से अधिक समय लगता है वहाँ अधिक अनुपस्थिति होती है।

ये दोनों निष्कर्ष अध्यापकों की अनुपस्थिति की प्रवृत्ति पर हुए अन्य अध्ययनों से मेल खाते हैं। हालाँकि यह अध्ययन काफी व्यापक है, फिर भी निष्कर्षों की व्याख्या करते समय (खासतौर पर मात्रात्मक अध्ययन के सन्दर्भ में) कुछ सीमाओं का ज़िक्र ज़रूरी जान पड़ता है–

अ) यह अध्ययन अपेक्षाकृत छोटे और सुविधानुसार सैम्पल पर आधारित है। जिन जिलों/ब्लॉकों में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन का काम है, वहाँ प्रति ब्लॉक चयनित स्कूलों से जानकारी जुटाई गई।

ब) इस अध्ययन में 'अनुपस्थिति' की परिभाषा स्कूल भ्रमण के दौरान और सिर्फ उस दिन के लिए भौतिक रूप से अध्यापक का उपस्थित न होना था।

स) यह एक बार होने वाला अध्ययन था और अनुपस्थिति के विविध मौसमी अन्तरों को समझना अध्ययन की योजना का हिस्सा नहीं था।

इस अध्ययन का दूसरा भाग (गुणात्मक केस स्टडी), सामान्यतः सरकारी स्कूल व्यवस्था और विशेषतौर पर अध्यापकों के कामों के मौजूदा यथार्थ की बहुत ही सूक्ष्म तस्वीर प्रस्तुत करता है, खासकर उन आयामों की जिन्हें वर्तमान शोध अध्ययनों और नीतिगत विमर्श में कम महत्त्व दिया जाता है। ये केस स्टडी बताती हैं कि सरकारी स्कूलों के अध्यापक अपने कामों के साथ कर्तव्यनिष्ठ पेशेवरों की तरह जुटे होते हैं। यहाँ तक कि वे व्यवस्थागत कठिनाइयों और व्यक्तिगत असुविधाओं के चुनौतीपूर्ण सन्दर्भों के बावजूद काम में लगे रहते हैं। इस अध्ययन से जो तस्वीर उभरती है वह उन प्रचलित धारणाओं को नकारती है जो शिक्षक अनुपस्थिति की बढ़ती दर को सीधे-सीधे शिक्षक की गैर-ज़वाबदेही से जोड़ कर देखती हैं। इस मुद्दे पर, पूर्व में किए गए विभिन्न अध्ययन एवं अन्य प्रचलित ब्यौरे शिक्षक अनुपस्थिति की अधूरी तस्वीर पेश करते हैं। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि इन धूमिल तस्वीरों ने इस मुद्दे से जुड़े नीतिगत फैसलों को भी प्रभावित किया है– मसलन नियमित कैडरों को संविदा पर लिए गए अध्यापकों से बदला जाए, अध्यापकों की बायोमैट्रिक उपस्थिति अनिवार्य की जाए, अन्य क्षेत्रों के रिटायर पेशेवरों को बुलाया जाए कि वे स्कूल प्रणाली में अध्यापक के रूप में वॉलण्टियर करें। यहाँ, शिक्षा व्यवस्था के लक्ष्यों, प्रक्रियाओं और परिणामों के मूल्यांकन के लिए 'कार्यकुशलता' सबसे महत्वपूर्ण मानदण्डों में से एक बन जाती है। विडम्बना यह है कि अक्सर ऐसा उन अन्य मानदण्डों की कीमत पर होता है जो एक मज़बूत सरकारी स्कूल का निर्माण करते हैं।

एक स्तर पर, 'कार्यकुशलता' और 'ज़वाबदेही' का यह विमर्श जिस बात को नज़रअन्दाज़ करता है, वह है– सरकारी स्कूलों का रोज़मर्रा का यथार्थ, जिसमें अध्यापक की अनुपस्थिति के लिए अनेक तथ्य काम करते हैं। इनमें से सभी 'ज़वाबदेही की कमी' से नहीं जुड़े होते। वास्तव में, जैसा

कि यह अध्ययन दिखाता है कि स्कूलों में अध्यापकों की अनुपस्थिति के लिए व्यवस्थागत कारणों (जिनमें अन्य अकादमिक और प्रशासनिक ज़िम्मेदारियाँ शामिल हैं) से तुलना करने पर 'बिना कारण अनुपस्थिति' लगभग नगण्य है। ऐसी परिस्थिति में अध्यापक की अनुपस्थिति की प्रवृत्ति का प्रचलित विमर्श एक ऐसी अवस्थिति की पुष्टि करता हुआ सा लगता है जिसमें अध्यापक को एक ऐसे असुरक्षित कार्य वातावरण के अधीन होना चाहिए जो मज़बूती से ज़वाबदेही निर्मित करता हो।

एक अन्य स्तर पर, यह विमर्श अध्यापन के पेशे की वास्तविक प्रकृति पर पर्याप्त ध्यान नहीं देता जिसमें अक्सर शिक्षकों का अपने पेशे से जुड़ाव और उनके द्वारा किये जाने वाले प्रयास, उन्हें मिली स्वायत्तता से तय होते हैं और यही उनके काम को दिशा देने वाली प्रेरक शक्ति होती है। ये केस स्टडी वास्तव में अध्यापकों के काम के इस आयाम का उदाहरण पेश करती हैं। इसके अलावा अध्यापक की अनुपस्थिति की प्रवृत्ति के विमर्श में ज़वाबदेही को जिस तरह से संकल्पित किया गया है उसमें, प्रक्रिया से सम्बन्धित ज़वाबदेही की कीमत पर व्यक्तिगत ज़वाबदेही और परिणामगत ज़वाबदेही पर बहुत अधिक ज़ोर दिया गया है। ज़वाबदेही की प्रक्रिया सम्बन्धित नज़रिए को समझने के लिए यह आवश्यक है कि ज़वाबदेही सम्बन्धी मसलों के व्यवस्थागत कारणों पर भी ध्यान दिया जाए। उदाहरण के लिए– अध्यापक की तैयारी, भरती और नियुक्ति के कमज़ोर तन्त्र, अध्यापकों के समर्थन और परामर्श के लिए अपर्याप्त सांस्थानिक प्रक्रियाएँ, और मुख्य टीचिंग-लर्निंग से जुड़े कार्य-भारों के अनुरूप कार्य-दशा की कमी। कुछ अन्य अध्ययन इस बात को भी चिह्नित करते हैं कि कैसे नीति निर्धारण में और उसके कार्यान्वयन में अध्यापक की आवाज़ के शामिल न होने, उच्चतर अधिकारियों एवं छात्रों के माता-पिता जैसे अन्य साझेदारों द्वारा पर्याप्त सराहना न मिलने, और स्व-विकास के लिए अर्थपूर्ण सहयोगी मंचों की अनुपस्थिति से सरकारी स्कूल के अध्यापकों में निराशा उत्पन्न हुई है (बत्रा 2005, रामचन्द्रन 2005, मूइज 2008)। इन अध्ययनों के साथ जुड़कर, यह अध्ययन भी उपर्युक्त चिन्ताओं और अध्यापकों के काम के समक्ष मौजूद चुनौतियों के प्रति और अधिक गहरी और सरोकारयुक्त समझ बनाने के लिए रास्ता बनाता है ताकि इस मुद्दे के इर्द गिर्द बनने वाली नीतियों की प्रकृति को एक नई दिशा दी जा सके।

सन्दर्भ

Voice and Agency of Teachers: Missing Link in National Curriculum Framework 2005 - P. Batra (2005), Economic and Political Weekly, 40(40): 4347-4356.

Absenteeism, transfers and patronage: the political economy of teacher labor markets in India - T. Beteille (2009), Unpublished Doctoral Dissertation, Stanford University.

Inside Primary Schools: A study of teaching and learning in rural India - S. Bhattacharjea, W. Wadhwa and R. Banerji (2011), Pratham, Mumbai.

Teachers' absence in primary and upper primary schools: Synthesis report of study conducted in Andhra Pradesh, Madhya Pradesh and Uttar Pradesh - Government of India (2009), EdCIL, New Delhi.

Economic Survey 2016-17, Ministry of Finance, Government of India (2017).

The Political Economy of Education in India: Teacher Politics in Uttar Pradesh - G. Kingdon and M. Muzammil (2003),Oxford University Press, New Delhi.

Teacher absence in India: A snapshot - M. Kremer, N. Chaudhury, F. H. Rogers, K. Muralidharan and .J Hammer (2005), Journal of the European Economic Association, 3(2-3): 658-667.

Primary Education, Teachers' Professionalism and Social Class about Motivation and Demotivation of Government School Teachers in India - J. Mooij (2008), International Journal of Educational Development, 28(5): 508–523.

Contract teachers: Experimental evidence from India, K. Muralidharan and V. Sundararaman (2013), (No. w19440) National Bureau of Economic Research.

The Fiscal Cost of Weak Governance: Evidence from Teacher Absence in India - K. Muralidharan, J. Das, A. Holla and A. Mohpal (2016), Policy Research Working Paper 7579, World Bank Group.

Annual Status of Education Report (Rural) 2016 Provisional - Pratham (2017),ASER Centre, New Delhi.

Why School Teachers Are Demotivated and Disheartened - V. Ramachandran (2005), Economic and Political Weekly, 40(21): 2141-2144.

क्या सभी बच्चों को स्कूल में गणित सिखाना चाहिए ?

"गणित शिक्षण कितना जरूरी" विषय पर आयोजित इस संवाद मे दिल्ली सरकार द्वारा संचालित प्राथमिक स्कूल के दो शिक्षकों, माध्यमिक स्तर के एक शिक्षक, डाइट की एक प्राध्यापिका और दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा संकाय द्वारा संचालित प्रायोगिक स्कूल की शिक्षिका ने भागीदारी की। जिनके नाम क्रमशः आलोक तिवारी, संजीव शर्मा, अक्षय दीक्षित, शारदा और अवंतिका दाम है। संवाद मे चर्चा प्रेरक की भूमिका हृदयकान्त दीवान ने निभाई। विशेषज्ञ के रूप में विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के भारतीय भाषा कार्यक्रम से जुड़े अभय कुमार दुबे उपस्थित रहे। इस कार्यक्रम की रिकॉर्डिंग में ज़ामिया विश्वविद्यालय में एम फिल की छात्रा सुबरना बिस्वास ने सहयोग किया। सं.

हृदयकान्त दीवान

भारत में और दुनिया भर में यह प्रश्न चर्चा व बहस का मसला रहा है कि कौन-सी कक्षा तक गणित पढ़ाया जाना चाहिए; बहुत पहले से इस पर बात की जा रही है। यह सवाल तो अब बहस का मसला नहीं है कि सभी लोगों को कुछ सीखना ही चाहिए– इसमें गणित भी शामिल है।

बुनियादी शिक्षा की अनिवार्यता पर बहुत ज़ोर पिछली सदी के शुरू से था। इसमें लिखना, पढ़ना और अंकगणित शामिल हैं। अंकगणित, गणना से और रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से सम्बन्धित है; इसे हम अपने आसपास वैसे ही पाते हैं जैसे कि भाषा। लेकिन जैसे-जैसे तकनीक और विज्ञान का विकास हुआ वैसे-वैसे भिन्न क्षेत्रों के ढाँचों की ज़रूरत पड़ने लगी, जिस की वज़ह से गणित में धीरे-धीरे और चीज़ें भी शामिल होने लगीं।

पहले बीजगणित 11वीं कक्षा में पढ़ाया जाता था, फिर वह 8वीं में आ गया, अब बीजगणित छठवीं कक्षा से ही पढ़ाया जाता है। नम्बर सिस्टम की समझ, जिस में नैचुरल नम्बर की अवधारणा, और फिर अन्य तरह के संख्या समूह से परिचय भी शामिल है, भारतीय उच्च माध्यमिक स्कूलों के गणित में 1970 में आया। उसमें अमूर्तता, गणितीय भाषा, सामान्यीकरण व गणना से आगे बढ़ कर अपेक्षाएँ थीं। हालाँकि ज्यामिति तब भी कुछ एक प्रमेय व उन पर आधारित सवालों से ही निर्धारित थी, और इसी तरह से कोऑर्डिनेट व ट्रिग्नोमैट्री शामिल थी। फिर, 11वीं कक्षा में कैल्कुलस की भी शुरुआत हुई, पर यह सब सिर्फ गणित पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए था। अनिवार्य गणित, कक्षा 8 तक के स्तर तक ही थी और उस में यह सब नहीं था। धीरे-धीरे गणित कक्षा 10 तक अनिवार्य हुई और उस की पाठ्यचर्या व पाठ्यक्रम भी बदले और 10वीं तक क्या गणित पढ़ाया जाए यह महत्तवपूर्ण मसला बना।

अब मैं सीधा एनसीएफ-2005 पर आ जाता हूँ, जिसमें कई चीज़ों पर सवाल उठाए गए हैं। जैसे, बच्चों को गणित से डर लगता है; अनिवार्य गणित सिर्फ गणना नहीं है, उस के और भी आयाम हैं– जैसे एलजेब्रा है, रेखागणित है, डाटा हैण्डलिंग है, औपचारिक सेट थियरी तो नहीं है पर उस का उपयोग है– ये सभी गणित का हिस्सा हैं। बहुत सी बातों को ध्यान में रखते हुए यह चुनाव किया गया है। ज़्यादा अमूर्तता से बचा गया है शायद! पर क्या यह उपयुक्त है, पर्याप्त है?

एनसीएफ बहुत स्पष्ट रूप से कहता है कि गणित शिक्षण में यह सब इसलिए ज़रूरी है क्योंकि ऐसे विषय दिमाग का विकास करने में और गणित को अपनी ज़िन्दगी के साथ जोड़ने में मदद करता है। एनसीएफ यह भी कहता है कि गणित के दो उद्‌देश्य हो सकते हैं– एक तो कमतर, कनिष्ठ स्तर का, मतलब रोज़मर्रा का गणित, और दूसरा हायर ऑर्डर का गणित जिस का तात्पर्य है मैथमैटाइजेशन। एनसीएफ के अनुसार एक प्रजातांत्रिक समाज के लिए मैथमैटाइजेशन ज़रूरी है इसलिए माध्यमिक स्तर तक ऐसा गणित पढ़ाया जाना चाहिए जो इन दोनों ही उद्‌देश्यों की पूर्ति करे।

इस के विपरीत यह तर्क दिया जाता है कि अधिकांश बच्चे गणित नहीं समझ पाते हैं, खास कर इस के जो एब्स्ट्रैक्ट (अमूर्त) हिस्से हैं उन्हें वे नहीं समझ पाते हैं। उन का स्कूल से और शिक्षा से दूर होने का एक प्रमुख कारण यह भी है। तो क्या गणित 8वीं तक ही पढ़ाई जानी चाहिए और उस के बाद बच्चे को यह चुनने की स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह गणित पढ़े या न पढ़े? अनिवार्य गणित के रूप में जो पढ़ाया जाए, क्या वह ऐसा होना चाहिए जिसे हम रोज़मर्रा का गणित कहते हैं, जिस में वाणिज्य गणित शामिल है?

ये कुछ सवाल हैं जिन पर हम आप लोगों के विचार सुनना चाहते हैं। इनके अलावा भी इस विषय से सम्बन्धित या उसके आसपास के यदि आप के कुछ अनुभव और सवाल हैं तो हम उन्हें भी सुनना चाहेंगे।

अक्षय दीक्षित

गणित प्रत्येक देश की शिक्षा व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग है। भारत में पूर्व प्राथमिक स्तर से लेकर 10 वीं तक गणित अनिवार्य है। गणित को इतना महत्त्वपूर्ण क्यों माना जाता है? इस के समर्थन में दिए जाने वाले कुछ तर्क और उनसे जुड़ी वस्तुस्थितियाँ निम्नलिखित हैं–

1. गणित विषय की दैनिक जीवन में बहुत उपयोगिता है, इसलिए उसे औपचारिक रूप से सिखाना आवश्यक है।

वस्तुस्थिति– वास्तविक जीवन में हमने देखा है कि जो व्यक्ति किसी तरह की औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते हैं वे भी ज़रूरत पड़ने पर दैनिक जीवन के गणित में पारंगत हो जाते हैं।

2. गणितीय कौशलों (अन्दाज़ा, अनुमान, समस्या समाधान के विभिन्न मॉडल सोचना, सादृष्यीकरण, गणितीय सम्प्रेषण, निरूपण, सामान्यीकरण, बेहतर विकल्प तलाशना, आदि) को प्राप्त करने के लिए गणित पढ़ाना आवश्यक है।

वस्तुस्थिति– कक्षाओं में जो गणित पढ़ाया जाता है, उसमें इन सब बातों पर ध्यान दिया ही नहीं जाता और ये बिन्दु कहीं न कहीं खो जाते हैं।

3. हम एक लोकतान्त्रिक समाज हैं, हमें ऐसे नागरिकों को तैयार करना है जो दूसरों की बातों को बिना सोचे-समझे स्वीकार न करें, बल्कि उन पर तथ्यों के साथ सोच-विचार कर फैसला लें कि क्या सही और क्या गलत है। वे तर्क करें। गणित हमें यही सिखाता है।

वस्तुस्थिति– गणित सिखाने की वर्तमान व्यवस्था इसका ठीक विपरीत सिखाती है। हम गणित में यह सीखने की बात करते हैं कि आँख बन्द कर के निर्णय मत लो, पर कक्षा में होता यही है कि यह थ्यौरी है, यह प्रमेय है, यह ऐसा ही होता है और आप को ऐसा ही करना है। रटने पर अधिक बल होता है, समझने पर कम।

4. गणित दैनिक जीवन के लिए बहुत उपयोगी है इसलिए कक्षाओं में गणित की अवधारणाओं को दैनिक जीवन से जोड़ा जाता है ताकि बच्चा दैनिक जीवन में गणित का प्रयोग कर सके। शिक्षाविद कहते हैं– "ऐसा नहीं होना चाहिए कि कक्षा-कक्ष में किया गया गणित कुछ और हो, और दैनिक जीवन में किया

जाने वाला गणित कुछ और। इन दोनों के बीच अन्तर नहीं होना चाहिए।"

वस्तुस्थिति– दैनिक जीवन से जोड़ने के नाम पर कक्षाओं में जो सवाल करवाए जाते हैं, वे बहुत ही अजीब से होते हैं। आमतौर पर उनका दैनिक जीवन से कोई लेना-देना नहीं होता है, इसीलिए गणित का दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। कक्षाओं में काल्पनिक दुनिया की समस्याएँ हल करवाई जाती हैं। सच्चाई यह है कि गणित का पाठ्यक्रम जीवन से सबसे कम सम्बन्धित है, जिससे कि बच्चों के पास रटने के सिवाय कोई रास्ता नहीं होता।

5. राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 (NCF) में कहा गया है–

"गणित की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बच्चे की गणितीकरण की क्षमताओं का विकास करना है।"

स्कूली गणित का उच्च लक्ष्य है बच्चे के साधनों को विकसित करना ताकि वह गणितीय ढंग से सोच सके व तर्क कर सके, मान्यताओं के तार्किक परिणाम निकाल सके और अमूर्त को समझ सके।

यह शिक्षा सुखकर व सहज होनी चाहिए। शिक्षा के भूमण्डलीकरण के सन्दर्भ में, सबसे पहला प्रश्न उठता है, आठ सालों की स्कूली शिक्षा के दौरान बच्चे को कैसा गणित पढ़ाना चाहिए जो उसे केवल उच्च माध्यमिक शिक्षा के लिए ही तैयार न करे बल्कि जीवन भर उसके काम आए। साथ ही गणित की पाठ्यचर्या के लम्बे-चौड़े आकार पर दिए जाने वाले ज़ोर को कम करना चाहिए।

- बच्चे गणित से भयभीत होने की बजाए उसका आनन्द उठाएँ।
- बच्चे सार्थक समस्याएँ उठाएँ और उन्हें हल करें।
- बच्चे अमूर्त का प्रयोग सम्बन्धों को समझने, संरचनाओं को देख पाने और चीज़ों का विवेचन करने, कथनों की सत्यता या असत्यता को लेकर तर्क करने में कर पाएँ।
- गणित व अन्य विषयों के अध्ययन के बीच सम्बन्ध बनाने की भी आवश्यकता है।
- ऐसे कई कौशलों और प्रक्रियाओं की चर्चा करते हुए हमने अधिगम और क्रियाविधियों की बहुलता की बात की है। ये सभी स्कूली गणित को सिर्फ 'पढ़ाए' गए विषय व 'कलन विधि' के इस्तेमाल की तानाशाही से मुक्त करने के लिए ज़रूरी है।

एनसीएफ के अनुसार स्कूली गणित शिक्षा की कुछ समस्याएँ निम्नलिखित हैं–

1. बहुत से बच्चे गणित से डरते हैं और इस विषय में असफलता से भयभीत रहते हैं। वे जल्दी ही गणित की गम्भीर पढ़ाई से विमुख हो जाते हैं (या छोड़ देते हैं)।
2. यह पाठ्यचर्या केवल इस से विमुख होने वालों के लिए ही निराशाजनक नहीं है बल्कि यह प्रतिभाशाली बच्चों के लिए भी कोई चुनौती नहीं पेश करती है।
3. समस्याएँ, अभ्यास व मूल्यांकन पद्धति यान्त्रिक हैं और दुहरावग्रस्त हैं। इनमें, जहाँ संगणना पर अत्यधिक ज़ोर दिया गया है वहीं स्थानिक चिन्तन जैसे गणितीय क्षेत्रों को पर्याप्त स्थान नहीं दिया गया है।
4. अध्यापकों में आत्मविश्वास व तैयारी की कमी है और उन्हें आवश्यक मदद भी नहीं मिल पाती है।

वस्तुस्थिति– एनसीएफ़ में गणित के बारे में जो करने को कहा गया है और जो दस साल बाद आज भी वास्तविकता है, दोनों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। ये बातें बार-बार दोहराई तो जाती हैं, लेकिन कक्षा में नहीं आ पाती हैं। उदाहरण के लिए, एनसीएफ कहता है कि गणित शिक्षा ऐसी हो जो जीवन भर विद्यार्थी के काम आए। यह भी

लिखा गया है कि गणित शिक्षा के लम्बे-चौड़े आकार और इस पर दिए जाने वाले ज़ोर को कम करना चाहिए, मतलब गणित को सरल करने या इसके बोझ को कम करने की ज़रूरत है। वास्तविकता यह है कि एनसीएफ़ गणित के विषय में जो कुछ कहता है, और उसी पर आधारित पुस्तकें जो कुछ परोसती हैं, उसमें भी बहुत अन्तर है।

स्कूली गणित शिक्षा की कुछ अन्य समस्याएँ

एनसीएफ में गणित शिक्षा की जो समस्याएँ दी गई हैं, उनके अतिरिक्त कुछ अन्य समस्याएँ भी मौजूद हैं, जैसे–

1. बच्चों को ज्ञान के निर्माण की प्रक्रिया में भागीदारी का मौका नहीं मिलता।
2. पाठ्यक्रम बहुत अधिक है, अत: अध्यापक को कोर्स पूरा करने की जल्दबाज़ी होती है। इससे वे परीक्षाओं के पाठ्यक्रम के दायरे के बाहर चाह कर भी नहीं जा पाते। शिक्षाशास्त्र कहता है कि पाठ्यपुस्तक केवल एक माध्यम है, लेकिन पूरी व्यवस्था पाठ्यपुस्तक केन्द्रित है। न तो शिक्षक ही उसके आगे जा सकते हैं, न बच्चे ही उसके आगे जा सकते हैं। यह उनकी मज़बूरी है क्योंकि उस पाठ्यपुस्तक पर आधारित पेपर ही आएगा और उस पेपर में मिले अंकों से ही यह निर्णय होगा कि बच्चे को अगली कक्षा में जाना है कि नहीं। इसलिए उस पुस्तक का अक्षरश: पालन करना शिक्षक और बच्चे की मज़बूरी बन जाती है।
3. गणित अत्यधिक अभ्यास की अपेक्षा रखता है, इसलिए बच्चे अपनी पढ़ाई का अधिकतम समय गणित को दे देते हैं।
4. गणित को लड़कियों के लिए विशेष रूप से कठिन माना जाता है। इस धारणा के कई पहलू हैं। जैसे, गणित की पुस्तकों में लड़कियों का उल्लेख तक नाम मात्र के लिए होता है। साथ ही एक प्रश्न यह भी है कि क्या लड़कों के लिए गणित सचमुच आसान है? क्या वे अवसर मिलते ही गणित विषय छोड़ नहीं देते हैं?
5. गणित शिक्षण के तरीकों में दशकों से कोई सुधार नहीं हुआ है, कक्षा में सवालों का स्वागत नहीं किया जाता, सोचने के लिए समय नहीं होता। अर्थात शिक्षाशास्त्र शिक्षक की भूमिका से जो अपेक्षा रखता है वह वास्तविकता में सम्भव नहीं हो पाती है, जैसे कि बाल मनोविज्ञान के अनुरूप पढ़ाना, बच्चों के स्तर के अनुरूप पढ़ाना, जिज्ञासा जगाना, आदि।
6. 'गणित का डर' कई अन्य कारणों से और विकट हो जाता है, जैसे– बच्चों की शिक्षा का आधार कमज़ोर होना, पढ़ाई के प्रति उनकी बढ़ती उदासीनता, कक्षा में अधिक बच्चे, संसाधनों का अभाव (जैसे टूटी-फूटी दीवारें), शिक्षक को हर जगह से मिलने वाली उपेक्षा, आदि।
7. गणित का पाठ्यक्रम ऐसे प्रकरणों से भरा पड़ा है जिन का 99% लोगों द्वारा जीवन में कभी उपयोग नहीं किया जाएगा, जैसे त्रिकोणमिति। इसका कारण ज्ञान का विस्फोट है। हमने बड़े बुजुर्गों को कहते सुना है कि जो कुछ आजकल दसवीं कक्षा में पढ़ाया जाता है, उन्होंने स्नातक स्तर पर पढ़ा था। लेकिन जैसे-जैसे सूचनाएँ बढ़ती जा रही हैं, पाठ्यक्रम निर्माता उन्हें निचली कक्षाओं में भेजते जा रहे हैं। इस के लिए वे बिलकुल अ-गणितीय तर्क का सहारा लेते हैं– बच्चों को अमुक कक्षा में इतना तो आना ही चाहिए। क्यों आ जाना चाहिए? इस का कोई कारण या जवाब नहीं मिलता। उदाहरण के लिए, प्राथमिक स्तर पर रेलवे समय-सारणी जैसे विषय मैंने स्वयं हटवाए थे।
8. शब्द-समस्याओं के साथ होने वाली परेशानियाँ– विद्यार्थियों को शब्द-समस्याओं को समझने में कठिनाई होती है। जो बच्चे गणित में बहुत अच्छे माने जाते हैं, उनके लिए भी शाब्दिक सवाल सबसे ज़्यादा मुसीबत भरा होता है क्योंकि उन्हें पता ही नहीं

चलता कि उस में क्या करना है। अंकगणित के सवालों में यदि जमा का निशान है तो बच्चों को पता चल जाता है कि उन्हें जमा करना है। पर शाब्दिक सवालों में उनको और सोचना पड़ेगा। यह सही है कि गणितीय कौशल के विकास के लिए सोचना बहुत ज़रूरी है, पर सोचने की क्षमता हम बच्चों में उत्पन्न ही नहीं कर सके हैं। इस का पहला कारण है, पढ़कर समझने के कौशल की कमी और दूसरा कारण है, ऐसे प्रश्नों का वास्तविक जीवन और अनुभवों से कटा होना। ये प्रश्न वास्तविक जीवन पर आधारित होने का दावा तो करते हैं लेकिन होते बिलकुल अवास्तविक हैं- जैसे, एक नल किसी बर्तन को इतने घण्टों में भरता है या किसी सेब को बराबर भागों में बाँटना आदि।

9. गणित की कठिन शब्दावली : आमतौर पर गणित की शब्दावली सीखने को भी गणित शिक्षा का एक अंग माना जाता है, लेकिन पुस्तकों में सामान्यत: सरल शब्दों की बजाए कठिन शब्द प्रयोग में लाए जाते हैं; जैसे- तीसरी कक्षा की गणित की पुस्तक में घटाव (-) के पाठ में घटा की जगह व्यवकलन लिखा गया है। अब ऐसे शब्द अगर किताब में होंगे तो ये भी अपने आप में गणित को मुश्किल बनाते हैं।

10. गणित को रोचक बनाने के सुझाव हवा-हवाई हैं क्योंकि वे कड़वी दवाई पर चीनी की परत चढ़ाने के उद्‌देश्य से सोचे गए हैं, मूल समस्या को हल नहीं करते; जैसे– प्रयोग, मैथ्स लैब, स्मार्ट-बोर्ड, कम्प्यूटर कार्यक्रम, मैथ्स दीवार, मैथ्स क्लब, मैथ्स पत्रिका आदि।

मेरे दिमाग में कुछ बातें तब से हैं, जब से मैंने पढ़ना शुरू किया था। समस्याएँ यदि इतनी सारी हैं तो समाधान क्या होना चाहिए? मैं केवल गणित की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं सोचता हूँ कि हम किसी भी विषय को कक्षा आठ या दस तक क्यों पढ़ाएँ?

गणित को 10वीं तक अनिवार्य करना एक तरह से विभिन्नता के सिद्धान्त को नज़रअन्दाज़ करना है। यदि हम कहते हैं कि इस क्लास तक गणित को पढ़ाना चाहिए, तो एक तरफ तो बाल मनोविज्ञान है, विकासात्मक सिद्धान्त हैं, शिक्षण पद्धतियाँ हैं, और इन सबका सबसे महत्त्वपूर्ण स्तम्भ यह सिद्धान्त है कि हर बच्चा दूसरे से अलग होता है।

गणित शिक्षा को अनिवार्य बनाने की वकालत कर के हम इस तथ्य को नकार रहे हैं कि हर बच्चे की रुचियाँ भिन्न होती हैं। मान लीजिए कि बच्चे का मन नहीं है गणित पढ़ने का, न ही उस की क्षमता है; उस का मन चित्रकला सीखने का है, साहित्य पढ़ने का है। फिर तो यह प्रश्न भी उठता है कि वह बच्चा गणित ही नहीं बल्कि किसी भी और विषय को क्यों पढ़े? इसका तर्क यह है कि जीवन के लिए आपको कुछ न कुछ बेसिक आना ही चाहिए। इसलिए एक खास स्तर तक तो मूलभूत कौशलों की शिक्षा को अनिवार्य किया जा सकता है। अतः, जो विकल्प उसे 10वीं के बाद मिलने प्रारम्भ होते हैं वे 5वीं के बाद से ही दिए जाने चाहिए।

गणित ही नहीं, बल्कि हर विषय पर यह बात लागू होती है। बच्चे केवल छह विषय ही क्यों पढ़ें? उनकी रुचि के विषयों की विस्तृत श्रेणी विद्यालय में उपलब्ध होनी चाहिए- संगीत, औजार निर्माण और उपयोग, कम्प्यूटर, नृत्य, अभिनय, पाक-कला, वस्त्र-कला आदि। हर बच्चे के पास में विविधिता के चयन की स्वतन्त्रता होनी चाहिए– आप इन विषयों में से कोई भी विषय चुन कर किसी भी कक्षा में पढ़ सकते हैं। परन्तु व्यवस्था यह नहीं करती क्योंकि इन सपनों को सच करने के लिए विशेष प्रयास और धन चाहिए। जो व्यवस्था अभी छह विषयों के अध्यापक उपलब्ध नहीं करवा पा रही है, वह इतने अध्यापक और संसाधन, जैसे मशीनें, विशेषज्ञ आदि, कैसे उपलब्ध करवाएगी– वह भी प्रत्येक स्कूल में?

प्रत्येक विषय (खासतौर पर गणित) के दो स्तर होने चाहिए–

पहला स्तर– सामान्य गणित का एक आधारभूत पाठ्यक्रम जिसे हर बच्चा पढ़े, जो पूरी तरह जीवन से जुड़ा हो, बेहतर जीवन यापन के लिए आवश्यक सभी कौशल इसके द्वारा सिखाए जाएँ।

दूसरा स्तर– उन बच्चों के लिए जो गणित में ही आगे कैरियर बनाना चाहते हैं, जो गणित में विशेष रुचि रखते हैं या अगली कक्षाओं में गणित की पढ़ाई जारी रखना चाहते हैं।

अवन्तिका

मैंने गणित को बचपन से बहुत चाहा है। अभी जो बातचीत हो रही थी उसे मैंने बहुत ध्यान से सुना और मुझे लगा कि यह डर गणित का दोष नहीं है। दोष गणित पढ़ने-पढ़ाने की प्रक्रिया का है। तो हम गणित को दोषी मानते हुए उसे क्यों सजा दें? बहुत से मुद्दे भी उभर कर आए कि गणित क्यों पढ़ाना चाहिए, किस तरह से पढ़ाना चाहिए– इस बात पर भी थोड़ी बहुत चर्चा हुई।

मैं आप के सामने बच्चों के विचार रखना चाहूँगी। मैंने अपनी छठवीं कक्षा के बच्चों से पूछा कि वे इस बात पर सोचें कि यदि उन के जीवन में गणित न हो तो कितना अच्छा होगा? पहले बच्चे सोचते रहे; फिर बच्चों ने बड़े ही मज़ेदार ज़वाब दिए, जैसे– एक ने कहा कि अगर गणित नहीं होता तो, हमारी क्लास की पट्टियाँ और कक्षाओं के स्तर ही नहीं होते; दूसरे बच्चे ने कहा कि हम क-ख-ग लिख लेते; बसों के नम्बर ही नहीं होते। बात आगे बढ़ी– फिर बच्चों ने कहा कि बसें भी नहीं होतीं; यहाँ उन्होंने गणित को मापने से जोड़ा। यदि हम माप नहीं पाते तो हम बस भी नहीं बना पाते। बच्चों ने कहा, "मैडम, आपका चश्मा भी नहीं होता क्योंकि नम्बर ही नहीं होते!" कुछ बच्चों ने इसे आकार के साथ भी जोड़ा; चर्चा बहुत लम्बी रही। कहने का मतलब यह है कि जिन बच्चों की गणित में रुचि नहीं थी, वे भी यह सोच रहे थे कि गणित उनके जीवन में कितना ज़रूरी है।

अभी-अभी दीक्षित जी ने कहा कि हम भाषा क्यों पढ़ाते हैं। जैसे भाषा हमारे जीवन से जुड़ी हुई है वैसे ही गणित भी हमारे जीवन से जुड़ा हुआ है। हम दोनों को अलग नहीं कर सकते हैं। बच्चे वयस्कों को गणित से खेलते हुए देखते हैं। पिछली चर्चा में बच्चों ने यह भी कहा कि हमारे पास नोट नहीं होते, हम खरीद-बेच नहीं पाते।

बच्चों ने जो विचार बताए उस से यह साफ है कि बच्चे समझते हैं कि गणित उनकी ज़िन्दगी से जुड़ा हुआ है। बच्चे इस बात को महसूस कर पा रहे थे। कुछ बच्चों ने कहा कि उन्हें गणित पढ़ने में बड़ा मज़ा आता है। जब उन से पूछा गया कि क्या मज़ा आता है तो वे खुल कर नहीं बोल पाए क्योंकि उनके पास ऐसे शब्द नहीं हैं जैसे शब्द हमारे पास हैं। जो उन्होंने बताया उसमें कुछ ऐसे पहलू थे, जैसे कि उन्हें पैटर्न्स ढूँढ़ने में मज़ा आता है, पैटर्न्स में छुपे हुए नियम ढूँढ़ना और उसके जैसा कोई नया पैटर्न बनाना, पहेलियाँ हल करना, आकारों के साथ खेलना आदि सब में मज़ा आता है। बाकी बच्चे उन से सहमति में अपनी गर्दन हिला रहे थे। वे बताने की कोशिश कर रहे थे कि गणित हमें यह-यह चीज़ें देता है।

बच्चों को जब हम कविताएँ सिखाते हैं तो उन्हें मिलते-जुलते शब्द वाली कविताएँ ज़्यादा याद रहती हैं, जैसे आना-जाना, खाना-पीना, हाथ-साथ आदि। उसी तरह से गणित में बच्चे पैटर्न्स ढूँढ़ते हैं। जब हम बच्चों को पहाड़े भी नहीं बता रहे होते हैं, जोड़ना भी नहीं बता रहे होते हैं, तब भी पहली और दूसरी कक्षा के बच्चे दस के गुणांक बोल रहे होते हैं। दस, बीस, तीस, सौ, दो सौ, तीन सौ– बच्चे इस तरह से पैटर्न खोज रहे होते हैं। इसमें उन्हें आनन्द आ रहा होता है। जैसे कविताएँ बोलने का आनन्द आता है, वैसे ही वे गणित पढ़ने का आनन्द ले रहे हैं। क्या गणित को उनकी ज़िन्दगी से हटा कर हम उस आनन्द को छीन लेना चाहते हैं?

छोटे बच्चों को हम पैटर्न्स के अलावा आकृतियाँ देते हैं तो वे आकृतियों से खेलते हैं, पट्टियों से खेलते हैं। एक बहुत अच्छा उदाहरण बच्चों ने पैटर्न में दिया, जिसे आप बायोलॉजी

कहेंगे। बच्चों ने कुछ-कुछ पेड़ों के नाम ले कर बताया कि कुछ पत्तों के क्रम आपस में जुड़े हुए हैं, कुछ पेड़ों में पत्ते एक निश्चित दूरी पर लगे हैं और एक पत्ते से दूसरे पत्ते का अन्तर समान है। यह जानना और समझना क्या केवल बायोलॉजी ही है?

गणित न केवल ज़िन्दगी से जुड़ा हुआ है बल्कि सारे विषयों से भी जुड़ा हुआ है। बच्चों ने मुझे यह भी बताया कि जब वे नक्शा बनाते हैं तो ग्राफ के बिना नहीं बना पाएँगे। उन्होंने कहाँ ले जा कर इसे जोड़ा! उन्होंने कहीं पढ़ा होगा कि भारत तो बहुत बड़ा है, जिसे वे नक्शे के एक छोटे से रूप में ले आए हैं, यह छोटा सा रूप अनुपात में लाया गया है।

यह सब कक्षा छह के बच्चों के उदाहरण हैं; उन्होंने कहाँ-कहाँ गणित को जोड़ा, जिसे हम सोच भी नहीं पाते हैं। उन से बात करने के बाद मुझे यह लगा कि एक तो जीवन का आनन्द गणित से जुड़ा हुआ है, ठीक वैसे ही जैसे हम समाज में भाषा द्वारा अपनी बात को कहना, लिखना, बोलना महत्त्वपूर्ण समझते हैं, गणित भी इसमें मदद करता है।

बच्चों ने एक और बात कही कि वे जब अलग-अलग चिह्नों का प्रयोग करते हैं, तो इस का अलग मज़ा है। इसे बच्चों ने सड़क पर बने चिह्नों के साथ जोड़ा। ये चिह्न बिना बोले बता देते हैं कि हमें क्या करना है। कई बार ऐसे पोस्टर भी होते हैं जहाँ शाब्दिक रूप में कुछ भी नहीं लिखा होता है, लेकिन वे हमें बहुत सारी सूचनाएँ दे देते हैं क्योंकि उन पोस्टरों में कोई चित्र इस्तेमाल हो रहा होता है, कोई सिम्बल इस्तेमाल हो रहा होता है। वह किस की देन है– वह पोस्टर जब हम बच्चों के सामने रखते हैं तो बच्चे बहुत सारी चीज़ें बताते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि जो चिह्न वे अपनी आम ज़िन्दगी में इस्तेमाल कर रहे हैं, उन में अंक भी चिन्ह ही हैं उनका उपयोग करके वे अलग-अलग संख्याएँ बनाते हैं।

मैं यहाँ पर बात को रोकूँगी। मैंने अभी-अभी दीक्षित जी से बीजगणित की बात सुनी। मैं एक बच्चे का उदाहरण दूँगी– अभी कुछ दिनों पहले मैं एक डिमॉन्सट्रेशन क्लास ले रही थी और वह बीजगणितीय व्यंजक (एल्जेब्रिक एक्स्प्रेशन) की ही क्लास थी। मैंने चर्चा शुरू करते हुए कहा कि जिस में अल्फाबेट होते हैं, वह बीजगणित होता है। मैंने पूछा कि उन्होंने अल्फाबेट कहाँ पढ़े हैं, तो बच्चों ने बताया कि आयत का क्षेत्रफल होता है LXB और यह बताने वाला सातवीं-आठवीं का बच्चा था। उसके हिसाब से LXB बीजगणित नहीं है, यह तो आयत का क्षेत्रफल है। मैं इसे इसलिए ला रही हूँ क्योंकि उस के शिक्षक ने उसे नहीं बताया होगा कि LXB बीजगणित भी है, बच्चे के लिए वह एकदम अलग हिस्सा है।

जैसे कि बात हो रही है गणित शिक्षण, बच्चों को गणित में जोड़ने की जगह गणित से दूर कर रहा है। यह समस्या गणित की नहीं है, यह समस्या गणित शिक्षण की है। यदि हम गणित शिक्षण को मज़बूत करें तो यह सवाल कभी नहीं आएगा कि हमें गणित कब और कितना पढ़ाना चाहिए। गणित कैसे पढ़ाना चाहिए– इसे जोड़ लें तो यह मुद्दा कभी भी नहीं उठेगा कि गणित से हमें डर लगता है या फिर गणित हमें कहाँ तक पढ़ाना चाहिए।

आलोक तिवारी

लगभग ऐसी ही कुछ बातों को लेकर मैं भी यहाँ हूँ। साँस्कृतिक पहलुओं पर विचार करना, उनके बारे में पढ़ना, आदि मेरे शौक हैं। मैं गणित में कभी बहुत अच्छा नहीं रहा। मैं उस गणित को बहुत अच्छी तरह समझ पाता हूँ जो गणित शिक्षा के नाम पर, समाज के नाम पर, अर्थ के नाम पर, संस्कृति के नाम पर की जा रही है। गणित को इस तरह से समझते हुए मैं यह भी समझ पाया कि दरअसल गणित में न तो डरने वाली और न ही डराने वाली कोई बात है।

जब हम यह चर्चा कर रहे हैं कि माध्यमिक स्तर पर गणित की बात होनी चाहिए या नहीं, और इसे आगे कैसे लेकर चलना चाहिए, तब हमें इस बात पर भी गौर करना चाहिए कि

वास्तव में गणित क्या है? अवधारणा के रूप में गणित क्या है? क्या गणित केवल गिनना है या गणित अनुमान लगाना है, तर्क से किसी बात को सिद्ध करना है या किसी बात को समझने के लिए मूर्त से अमूर्त की तरफ बढ़ने की कोई पद्धति है। अगर हम इसे समझ रहे हैं, तो जिसे हम समझा रहे हैं क्या वह उसे नहीं समझता? यानी शिक्षा के क्षेत्र में जो मूलभूत है– एक विद्यार्थी हमारे सामने है, जिसको हमें पढ़ाना है– क्या वह विद्यार्थी जिन चीज़ों को पढ़ने आया है, चाहे वह कोई भी विषय हो, उनको पढ़ने की क्षमता रखता है? जैसे ही हम कहते हैं कि उसे पढ़ाना चाहिए या नहीं पढ़ाना चाहिए, हम उसी को प्रश्न कर रहे हैं कि वह पढ़ने लायक है कि नहीं। मुझे लगता है कि कोई भी औसत विद्यार्थी सीखने की किसी भी क्षमता से वंचित नहीं है। सीखने के तरीके में फर्क ज़रूर हो सकता है। शिक्षक का ज़्यादा बड़ा दायित्व यही है कि वह सिखाने के तरीकों पर विचार करे, न कि यह सोचे कि बच्चे में सीखने की क्षमता है या नहीं?

इस मामले को हम तब गड़बड़ कर देते हैं जब हम यह सोचना शुरू करते हैं कि बच्चा गणित से डरता है। दरअसल बच्चा गणित से नहीं डरता, गणित के साथ जो तमाम तरह की भ्रांतियाँ हैं– और जो केवल गणित के साथ नहीं हैं, वे विज्ञान के साथ भी हैं, अन्य विषयों के साथ भी हैं, भाषा में व्याकरण के साथ भी हैं– वे उसे डराती हैं। यह अवधारणात्मक समस्या है।

चूँकि मैं भाषा का शिक्षक हूँ, तो मैं भाषा की बात करूँगा– व्याकरण पहले है कि भाषा पहले है? अगर भाषा पहले है, मतलब 'कबूतर' पहले है कि 'क' पहले है? यदि कबूतर पहले है तो बच्चे को कबूतर से शुरू करवाना चाहिए, 'क' से क्यों शुरू करवा रहे हैं? तो गणित यदि अनुमान लगाना है, यदि तर्क है, तो फिर गणित को अंकों से ही शुरू करने की ज़िद क्यों? कहने का आशय यह है कि हमारी शुरुआत ही अमूर्त से हो जाती है।

कक्षा शिक्षण के सिद्धान्त में हम कहते कुछ हैं पर व्यवहार में शुरुआत में ही गड़बड़ कर जाते हैं। इस गड़बड़ी का परिणाम यही निकलता है कि कुछ लोग सीख रहे हैं, कुछ लोग नहीं सीख रहे हैं; तो जो नहीं सीख रहे हैं उन के लिए हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ये बच्चे सीखने की क्षमता ही नहीं रखते हैं। इस स्तर पर इन्हें नहीं सिखाया जा सकता है और गणित इन के लिए कठिन है। यदि गणित कठिन होती तो आम आदमी ज़िन्दगी में इस का प्रयोग क्यों करता? इन्सान की ज़िन्दगी तो बहुआयामी है, उसमें वह भाषा का प्रयोग करता है, विज्ञान का प्रयोग करता है, गणित का प्रयोग करता है और माध्यमिक स्तर तक तो कुशल प्रयोग करने लगता है। यदि उसमें गणित की क्षमताएँ नहीं होतीं तो वह कुशल प्रयोगकर्ता कैसे हो सकता था?

शिक्षा के सन्दर्भ में सोचने समझने वालों के दिमाग में इस तरह का भ्रम बिलकुल नहीं होना चाहिए कि किसी स्तर पर कोई चीज़ सीखी या सिखाई जानी चाहिए कि नहीं। हमें उन विधियों पर चर्चा करनी चाहिए, सीखने की उन पद्धतियों के बारे में बातचीत होनी चाहिए, जो सम्भव हैं और जिन के द्वारा सीखा या सिखाया जाना चाहिए। माध्यमिक स्तर पर गणित के सन्दर्भ में यदि मैं सोचूँ तो गणित सीखने के दौरान मैं सभी तरह की गणनाएँ आसानी से कर लिया करता था। पर जब वही सवाल के रूप में सामने आ जाती थी, तो मैं उसमें असफल हो जाता था।

मेरे पिता गणित के शिक्षक थे, और जब 10वीं बोर्ड की परीक्षा में मेरे 39% नम्बर आए तो घर में वज्रपात सा हुआ। कम अंक आने की वजह यह नहीं थी कि मैं गणित में कमज़ोर था, बड़ी वज़ह यह थी कि मैं अंग्रेजी में कमज़ोर था, और हमारे यहाँ गणित अंग्रेजी में पढ़ाई जाती थी। घर के सभी लोगों ने कहा कि मैं गणित सही से नहीं पढ़ पाता। अब, भाषा शिक्षक होने के बाद मुझे समझ में आया कि दरअसल मैं अंग्रेजी ठीक से नहीं समझ पाता था, इसलिए मैं गणित नहीं समझ पाता था। तो शिक्षकों का यह बहुत

बड़ा दायित्व है कि इस बिन्दु को वे समझें कि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में जो दिक्कत है, यह किस वज़ह से उत्पन्न हो रही है। ज़रूरी नहीं है कि जिस विषय को हम समझा रहे हैं उस विषय को न समझ पाने की बाधा ही हो क्योंकि जीवन में सभी पहलू एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, अलग-अलग पहलू नहीं हैं। ऐसा बहुत सम्भव है कि गणित न समझ पाना, भाषा न समझ पाने के कारण हो। या गणित न समझ पाना उसकी उपयोगिता न समझ पाने के कारण हो।

अन्त में, मेरा यही कहना है कि विषयों को ऐसे खाँचों में बाँटने की बज़ाए यह समझना ज़रूरी है कि बच्चा विषयों को कैसे समझता है और अलग-अलग बच्चे कैसे समझते हैं। इसके अलावा इस विषय पर अधिक शोध करने की आवश्यकता है कि समझना वास्तव में है क्या? एक तो समझने को अवधारणा के रूप में जानने की ज़रूरत है और फिर समझाए जाने के तरीके के बारे में जानने की ज़रूरत है।

शारदा कुमारी

मैं अपनी स्कूली ज़िन्दगी को आधार बनाते हुए बात कर रही हूँ। मैंने भी गणित पढ़ा है और मैं एक शब्द इस्तेमाल करूँगी कि हर बच्चे के लिए यह एक "त्रासदी" है कि उसे गणित पढ़ना ही पड़ता है। मुझे जब गणित पढ़ने के लिए कहा गया था तो सवाल यही था कि गणित क्यों पढ़ा जाए? तब मुझे बताया गया था कि यह दैनिक जीवन में बहुत काम आएगा, आगे चलकर तुम्हें बहुत पैसे मिला करेंगे तो उन की गिनती रखना, हिसाब-किताब रखना होगा और इसमें कहीं मात न खा जाओ इसलिए गणित पढ़ना ज़रूरी होगा। इस तर्क से आकर्षण तो बढ़ा कि नौकरी करूँगी तो बहुत सारे पैसे आएँगे, हिसाब-किताब रखने के लिए मुझे किसी का सहयोग न लेना पड़े, सब खुद कर सकूँगी तो इसके लिए गणित पढूँगी।

मैं गणित में बहुत अच्छे अंक लाती थी, पर आज की ज़िन्दगी में गणित मुझे कभी काम नहीं आया। आज भी जब सब्जी खरीदने जाती हूँ तो चाहे आवश्यकता हो या न हो, वह आधा किलो या एक किलो ही ली जाएगी क्योंकि सवा और पौन का हिसाब करना मुझे अभी भी नहीं आता है। इस से इतर मैं बात नहीं करती क्योंकि मुझे गिनती करने और हिसाब लगाने में मुश्किल होती है। सीधी सपाट गिनती करने तक तो ठीक है, लेकिन एक छठा, एक पाव या आधा पाव का हिसाब करने में पसीने छूटने लगते हैं।

स्कूल में मेरे जो अंक आए, उनके लिए शिक्षक के पढ़ाने के तरीके और कुदरत ने जो मुझे स्मरण शक्ति दी है– उन दोनों ने काम किया। मेरी स्मरण शक्ति इतनी तेज थी कि मैं पूरा का पूरा सवाल उत्तर सहित याद कर लेती थी, सवाल मेरे ज़ेहन में छप जाते थे, इसके कारण मैं सदा अव्वल रही। गणित, जिसकी मुझे ज़रा भी समझ नहीं थी उसमें भी मैं अव्वल रही। कद छोटा होने के कारण मैं न केवल प्रार्थना सभा में आगे रहती थी बल्कि कक्षा में भी मुझे पहली लाइन में बैठाया जाता था। यह कह कर भी उत्साहित किया जाता था कि बाकी सभी चीज़ों में तुम तेज हो तो गणित में पीछे कैसे रह सकती हो, तो रट-रट कर मैं गणित में हमेशा अव्वल रही। उस समय अव्वल रहने के बावजूद मेरा गणित कमज़ोर है।

अभी कुछ दिन पहले ही मैं एक बस में चढ़ी। मैंने कण्डक्टर से 15 रुपये का टिकिट माँगा। उसने कहा कि इस बस में मुझे 25 रुपये किराया देना होगा। मेरे पास खुले पैसे नहीं थे तो मैंने उसे 50 रुपये का नोट दिया और मेरे दिमाग में तत्काल यह नहीं आया कि वह मुझे कितने रुपये वापस करने वाला है– 15 रुपये मैं पहले दे चुकी थी, 50 रुपये मैंने बाद में दिए हैं तो वह मुझे कितने रुपये वापस करेगा। इस के लिए मुझे अंगुलियों पर गिनती करके हिसाब करना पड़ा। कण्डक्टर मुझे देख कर हँसा और बोला, "लगती तो टीचर हो?" मुझे इस शर्मिन्दगी से बचने के लिए कहना पड़ा, "मैं गणित की टीचर नहीं हूँ।" तो गणित में अव्वल रहना रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में काम नहीं आया, जबकि कहा यह गया था कि गणित इसलिए

पढ़ो कि पैसे गिनना आसान हो जाएगा, पैसे का हिसाब-किताब रखना आसान हो जाएगा।

उसी स्कूली ज़िन्दगी से जुड़ा एक और वाकया है। कुछ इस तरह के सवाल आते थे कि एक आम है जिसे इतने लोगों में बाँटना है, तो वहाँ दशमलव बिन्दु लगाना पड़ता था। जैसे, मैंने एक सेब का टुकड़ा काटा है और इसे 6 लोगों में बाँटना है। मान लीजिए कि इसका उत्तर 2.3 आता है। मेरे ज़ेहन में एक सवाल उठता था कि मेरे पिता जब हम भाई-बहनों को फल काट कर देते हैं तो किसी का टुकड़ा छोटा भी हो जाता था, किसी का बड़ा भी हो जाता था। मैंने अपने माता-पिता को कभी भी इतने बराबर टुकड़े करते हुए नहीं देखा कि सब को एक दम बराबर-बराबर मात्रा में चीज़ें मिलें। मैं अपनी शिक्षिका से इस बारे में सवाल करती थी कि वे हमें इतने बराबर-बराबर टुकड़े करने के लिए क्यों कहती हैं? ऐसा हमने घरेलू ज़िन्दगी में कहीं भी नहीं देखा था। मुझे इस सवाल का ज़वाब नहीं मिल पाया था।

आज से आठ बरस पहले जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में अंकगणित पर एक कार्यशाला थी जहाँ बताया गया कि दशमलव की ज़रूरत हमें रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में नहीं होती है, पर तब होती है जब हम अन्तरिक्ष या ऐसे किसी विषय पर अनुमान लगाते हैं जहाँ सेकेण्ड से भी कम समय की स्थितियों तक का हिसाब रखना पड़ता है। पूरी स्कूली ज़िन्दगी, कॉलेज़ की पढ़ाई और अध्यापक शिक्षक बनने के बाद उस समय मुझे पता चला कि यह दशमलव वाले सवाल क्यों आते हैं।

मुझे लगता रहा कि गणित शिक्षण में इस तरह की कठिनाइयाँ धीरे-धीरे कम होती जाएँगी क्योंकि हम अन्य चीज़ों की तरह शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति कर रहे हैं। अध्यापक शिक्षक होने के नाते जब मैं स्कूलों की मॉनिटरिंग के लिए जाती हूँ तो गणित की कक्षा में ज़रूर जाती हूँ– यह देखने के लिए कि आज कक्षाएँ कैसी चल रही हैं, पर दुखद है कि यहाँ रत्तीभर भी बदलाव नहीं है, बल्कि स्थिति पहले से भी बदतर है। मेरे समय में तो हमारी गणित शिक्षिका को अपने आप में गणित करना आता था, वे बिना किसी कुंजी की मदद लिए गणित किया करती थीं। आज तो हर शिक्षक के हाथ में कुंजी होती है। तो, जिस उद्देश्य से गणित पढ़ने की बात राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा कहती है वे सुनहरी बातें हैं, जिनको बोल कर हम खुश हो सकते हैं। यह दुखद तो है, पर गणित शिक्षण की स्थिति मेरे विद्यालयीय जीवन से लेकर आज तक नहीं बदली है।

रेखागणित के बारे में बात करें और उसमें समावेशी शिक्षा की तरफ जाएँ, तो हमारी कक्षाओं में दृष्टिबाधित छात्र भी है, वह कहता है, "सर, हमें दिखाई नहीं दे रहा है।" यदि शिक्षक कहते हैं कि छू कर देख लो, तो श्याम-पट्ट पर सीधी सपाट रेखा को छू लेने से उसे क्या समझ में आएगा? सौभाग्य से दुर्गाबाई कॉलेज में जाने का मौका मिला और यह सीखने का मौका मिला कि त्रिभुज और ऐसी कई चीज़ें ठोस रूप से बनाई जाती हैं। इस तरह की चीज़ें वास्तविक धरातल पर किए जाने की ज़रूरत है। टेक्टाइल सामग्री उपलब्ध है जो ऐसे छात्रों के काम आ सकती है, पर अभी तक यह शब्दावली भी हमारे शिक्षकों के पास नहीं है।

हमारे यहाँ भी गणित शिक्षण एक अनिवार्य विषय है। हमारे यहाँ जो शिक्षक अध्यापक पढ़ते हैं, उनसे बहुत परेशान होकर हमारे कुछ साथी शिक्षक कहते हैं कि इनका कुछ नहीं हो सकता है। पर, जब भी मैं उन विद्यार्थियों के साथ काम करती हूँ, और उनसे कहती हूँ कि आपको इतने गमलों को गेरू से रंगना है, तो उनके हिसाब में कोई गलती नहीं होती है। मैं यह सोचकर हैरान रह जाती हूँ कि ये वही शिक्षक अध्यापक हैं जो गणित में कमज़ोर कहे जाते हैं और गणितीय शिक्षा में उन्हें एक कमज़ोर छात्र घोषित कर दिया जाता है।

डॉ. संजीव शर्मा

आज का जो हमारा विषय है कि क्या

विद्यालय के स्तर पर गणित पढ़ाएँ या कितना पढ़ाएँ, इस पर मैं थोड़ा अलग सोचता हूँ क्योंकि मैं अपने बाल्यकाल में वह विद्यार्थी रहा हूँ जिस का पहला प्यार ही गणित था। इसके बहुत से कारण रहे— सबसे पहला कारण तो यही था कि मैं पश्चिम बंगाल के हावड़ा जिले के एक म्युनिसिपल स्कूल बेलूर में था और मेरे बड़े भाई डॉन बॉस्को स्कूल में पढ़ते थे, जो ठीक मेरे स्कूल की दूसरी तरफ था। उस दौर में संयुक्त परिवार हुआ करते थे। परिवार का एक बच्चा अंग्रेजी माध्यम के स्कूल में पढ़ सकता था और बाकी बच्चों को किसी भी स्कूल में पढ़ाया जाता था। मेरे भाई मुझसे पाँच साल बड़े थे। परिवार के सिस्टम को देखते हुए बड़े भाई का एडमिशन डॉन बॉस्को में हो चुका था और मुझे म्युनिसिपल्टी स्कूल में भेजा गया। पर, मेरे पिता जी हमेशा यही कहते थे कि मेरा स्कूल भईया के स्कूल से बहुत अच्छा है क्योंकि मेरा गणित अच्छा था और डॉन बॉस्को में पढ़ कर भी भईया का गणित ठीक नहीं था।

पारिवारिक रूप से हमारा ट्रांसपोर्ट का काम था तो बचपन में गणित मेरे लिए खेल था— ट्रकों के पीछे के नम्बरों को देखना, उन नम्बरों को जोड़ कर नए-नए नम्बर बनाना। मेरे पिता की बहुत पढ़ाई-लिखाई नहीं हुई थी, पर उनके लिए भी गणित खेल था क्योंकि उन्हें गणित से बहुत फायदा होता था। वे खेल-खेल में गिनती सिखा दिया करते थे। गणित अच्छा जानने की वज़ह से एक सम्मान मिलता था, जो सरकारी स्कूल में पढ़ने की हीन भावना को कम कर देता था। मेरे जितने भी दोस्त थे, सब अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में पढ़ते थे, सरकारी स्कूल में पढ़ने के कारण उनके माता-पिता उन्हें मेरे साथ खेलने नहीं देना चाहते थे।

कक्षा पाँचवी तक मेरा गणित बहुत बढ़िया था, कक्षा छठवीं में रातों-रात मेरा गणित खराब हो गया क्योंकि उस साल से हमें बीजगणित पढ़ाना शुरू किया गया। पाँचवीं में अंग्रेजी पढ़ानी शुरू की गई थी; वह विषय मेरे लिए अटपटा था, और जब बीजगणित आया तो फिर वही ABCD। मैंने कभी बीजगणित को गणित माना ही नहीं! बचपन से मैं यह सोचता था कि जो गणित मुझे पढ़ाया जा रहा है उसका क्या महत्त्व है? तो, पहला तर्क यह था कि आंकड़ों का मामला है— जोड़, घटा, गुणा, भाग— ज़िन्दगी में आमतौर पर इन का प्रयोग होगा। ब्याज के सवाल होते थे तो पता था कि परिवार में इस तरह का व्यापार होता है और इस की ज़रूरत पड़ेगी। जब कक्षा छह में बीजगणित आया तब मैंने अपने एक दोस्त से पूछा, "यह क्या है?" दोस्त ने कहा, "अंग्रेजी है।" मैंने भी सोचा ABCD है, तो अंग्रेजी ही होगा।

पाँचवी में बांग्ला भी तीसरी भाषा के रूप में आई थी। मुझे बांग्ला बहुत अच्छे से बोलनी आती है, पर बांग्ला पढ़ना एक अलग बात है। हमें बताया गया कि आठवीं में बांग्ला चली जाएगी; इस का मतलब बीजगणित भी चला जाएगा; तो यह सोचा कि जब इसे आठवीं के बाद चला ही जाना है तो बेकार में क्यों सिर खपाया जाए।

स्कूल ऐसा था जहाँ तीन-चार अध्यापक थे, जिन का काम हमें घेरना था। कितनी बार तो दरबान ही हमारे अध्यापक बन जाते थे। इसी प्रक्रिया में बीजगणित की बेसिक चीज़ को मैं नहीं समझ पाया।

उस समय बंगाल में नवीं और दसवीं का सिलेबस कम्पाइल हो कर आया करता था। इसमें गणित, भौतिकी, जीवविज्ञान और रसायनशास्त्र को मिला कर विज्ञान का ग्रुप बनता था और उस में पास होने के लिए आप को 34% नम्बर चाहिए होते थे। गणित में पास होने के लिए न्यूनतम 20 नम्बर चाहिए होते थे। जब मैं नवीं में आया तो मेरे लिए बड़ी विकट स्थिति पैदा हो गई। अंकगणित के लिए 35 नम्बर, 35 का बीजगणित और 30 का रेखागणित; नवीं और दसवीं के सिलेबस में इतने नम्बर हमें लाने थे। कुल 50 प्रमेय हमें पढ़ने थे, 10 निरमेय पढ़ने थे; मैंने सोचा कि मेरे कम से कम 20 या 34 नम्बर कैसे आएँगे?

मैं तो वास्तव में इतिहास पढ़ना चाहता था,

पर परिवार का दबाव था कि आगे चल कर वाणिज्य ही पढ़ना है। कोर वाणिज्य पढ़ने के लिए ज़रूरी था कि गणित में आप के न्यूनतम नम्बर 34 तो होने ही चाहिए थे। यह 96 का दौर था। मुझे अभी भी याद है कि मैंने केवल 45 नम्बर का पेपर किया था; बीजगणित को मैंने छुआ तक नहीं था।

मेरे साथ मामला यह हुआ कि अंकगणित के सवाल मेरी ज़िन्दगी से जुड़े हुए होते थे। अपनी अनुभव आधारित अवधारणा पर मैं उस के आंकड़ों को समझ पाता था। बीजगणित में ऐसा कुछ नहीं होता था और मैं उसे अपने जीवन से नहीं जोड़ पाता था। मुझे लगता था कि यह ABCD भौतिकी में भी आ गया, रसायन शास्त्र में भी आ गया, गणित में भी आ गया, अंग्रेजी में भी आ गया? मैं इस ABCD से घबरा गया था, मुझे लगता था कि मैं इस से कब मुक्त हो पाऊँगा? दसवीं की परीक्षा में मेरे ठीक 34 नम्बर आए। उसके बाद मैंने कॉमर्स ले लिया। मेरा अकाउण्ट्स बहुत अच्छा था। बाद में मुझे पता चला कि चार्टेड अकाउण्टेण्ट बनने के लिए फिर वही बीजगणित पढ़ना है! तब फिर मैंने इतिहास लिया और वहाँ से मैं आगे की पढ़ाई के लिए प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता चला गया।

यह मामला है गणित का; मुझे गणित की आवश्यकता भी थी और मैं गणित पढ़ना भी चाहता था, पर सब कुछ होने के बाद भी मैं बीजगणित नहीं कर पाया। मुझे एक छोटी बच्ची ने इसी तरह की एक बातचीत के दौरान बताया– "सर, एक पेन और एक पेंसिल का योग एक पेन और पेंसिल ही होगा।" मैं तो यह सुनकर सन्न रह गया कि एक इतनी छोटी सी अवधारणा को मेरे अध्यापक मुझे नहीं समझा पाये या मुझे नहीं बताया। यदि इस सरल सी संकल्पना को शिक्षक ने समझा दिया होता तो शायद गणित मुझे कभी नहीं छोड़ना पड़ता। मैं गणित में नम्बर को ढूँढ़ा करता था, उसकी जगह ABCD आ गए। गणित वैसे भी अमूर्त विषय है– उसमें भी आप अंकों से अल्फाबेट की तरफ जा रहे हैं, तो यह तो एकदम पहेली हो गई। पर, उस बच्ची ने कितनी आसानी से मुझे बीजगणित का मूल विचार समझा दिया। यदि इसी बात को मेरे शिक्षक उन कक्षाओं में बता देते तो मैं गणित पढ़ना तो नहीं छोड़ता। मैंने अपने कॉलेज के समय में गणित व सांख्यिकी पढ़ने वाले छात्रों को यह कहते हुए सुना है कि गणित से ज़्यादा मज़ेदार विषय कोई नहीं ?

अब यदि इस सवाल पर आ जाएँ कि क्या सभी बच्चों को गणित सीखना चाहिए तो, इसके साथ ही सवाल यह भी है कि क्या बच्चों को स्कूल भेजना चाहिए? यदि गणित नहीं सीखना चाहिए तो क्या सिखाना चाहिए? गणित उनके जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं से जुड़ा है, जहाँ जोड़, घटाव, गुणा, भाग के अलावा अनुपात भी आता है, समानुपात भी आता है; यह कहना कि दशमलव स्पेस थ्योरी में जाएगा सही नहीं है। यह वहीं तक का मामला नहीं होता है। आप घड़ी का समय भी देख रहे हैं– यह सब दशमलव से ही जुड़े हुए हैं। जब मुझे घड़ी के समय को आधा करके लिखने के लिए कहा जाता था तो मैं सोचता था कि .50 लिखूँ या .30 लिखूँ क्योंकि वहाँ पर एक घण्टे का मतलब 100 न हो कर 60 हो जाता है। यदि हम औपचारिक शिक्षण की बात कर रहे हैं तो यह सबसे ज़्यादा आवश्यक है।

सवाल यह है कि हम कौन सा गणित सीखना चाहते हैं और कौन वह गणित सिखाना चाहता है? क्या मैं एक विद्यार्थी के रूप में सीखना चाहता हूँ या सत्ता मुझे सिखाना चाहती है– ये दो अलग बातें हैं। यदि मैं एक विद्यार्थी की तरह गणित सीखना चाहता हूँ तो मैं जिस प्रकार के गणितीय आकलन और विश्लेषण पर जाऊँगा, वह मैं अपने नज़रिए से जाऊँगा। पर यदि सत्ता मुझे गणित सिखाना चाहती है तो सत्ता मुझे वही गणित के सिद्धान्त सिखाएगी, वैदिक गणित टाइप के।

मैं अपने सहपाठियों से पूछा करता था, "वैदिक गणित कोई स्कूल है या रटने की कोई कुंजी है? यदि स्कूल है तो मैं भी उसे सीखना

चाहूँगा और यदि रटने की कोई पद्धति है तो गाँव-देहात के किसी बनिये को पकड़ लीजिए, वह अपने बच्चे को जिस तरह से हिसाब-किताब सिखाता है, वही इसे करना सिखा देगा।" तो, क्या सत्ता मुझे गणित सिखाना चाहती है या मैं सिखाना चाहता हूँ या दोनों से तटस्थ एक विद्वत समाज गणित सिखाना चाहता है?

दूसरा मामला है उच्च गणित और निम्न गणित का– आखिर कौन सी क्लास के पहले हम यह फिल्टर लगाएँगे कि इसके बाद आप उच्च गणित लेंगे या इसके बाद आप निम्न गणित लेंगे? मान लेते हैं कि दसवीं के बाद (जैसे कि आप कहना चाहते हैं कि आठवीं के बाद) हम तय कर लें कि उच्च गणित होगा या निम्न गणित होगा।

पहले तो हम यह कह रहे हैं कि बच्चे गणित के डर के कारण फेल हो जाते हैं और पढ़ना छोड़ देते हैं तो देखिए पढ़ने-पढ़ाने का मकसद किसी को उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण करना नहीं होता। यदि आपको ज़बरदस्ती किसी को स्कूल में रखना है तो फिर आप कुछ दूसरे तरीके तलाशें, उस जगह का नाम कुछ और रख दें, विद्यालय न रखें, वहाँ शिक्षक नाम का शब्द न रखें, वहाँ प्रधानाध्यापक जैसा मामला न रखें।

यह तय कैसे होगा कि कौन-सा बच्चा उच्च गणित ही पढ़ेगा? मतलब आप नवीं या दसवीं में उस बच्चे को आईआईटीअन बनाना चाहते हैं (उच्च गणित का मतलब आईआईटी और इंजीनियरिंग वाले मामले पर चला जाता है)। रेखागणित की भी तो ज़िन्दगी में आवश्यकता है। आप निम्न गणित में क्या पढ़ाएँगे? अंक गणित ही न– जोड़, घटा, गुणा, भाग; आगे मिश्रधन, मूलधन, ब्याज वाला मामला बता देंगे। रेखागणित का क्या करेंगे? वास्तविक जीवन में तो रेखागणित और ज्यामिति सबकी आवश्यकता होती है। एक तरफ मैं कहता हूँ कि मैं महात्मा गाँधी की बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त पर चलना चाहता हूँ; मैं उस सिद्धान्त पर बढ़ना चाहता हूँ तो वहाँ पर भी आपको गणित की ज़रूरत पड़ने वाली है।

अब इससे फर्क बात पर आ जाएँ कि हम गणित न पढ़ाएँ तो फिर हम क्या करेंगे? चलिए, पूरे स्कूल स्तर पर हमने गणित हटा दिया तो क्या हम यह करना चाहते हैं कि सीधे नवीं से गणित प्रारम्भ करेंगे? कौन सा गणित पढ़ाना शुरू करेंगे? एक बार हमने कहा कि आठवीं तक कोई गणित नहीं होगा। अगर हम नवीं में गणित को ले कर आते हैं, तो किस रूप में गणित को ले कर आएँगे? क्या हम उसी रूप में लाएँगे जैसे कि प्रौढ़ शिक्षा में अक्षर ज्ञान की शुरुआत कर रहे होते हैं? उस के बाद आगे बढ़ने का जो कॉमन पेस होता है, तो हम क्या करेंगे? समस्या गणित में है या गणित में पैदा की गई है? हम ज़रा इस के बारे में सोचें।

इस के साथ-साथ एक और सबसे बड़ा मामला है– सत्ता को कायम रखने का। इस में भी इस गणित की बहुत बड़ी भूमिका रही है– एक तरफ आम जनता के उपयोग का गणित है जो सभी सीख लेते हैं, तो दूसरी ओर अमूर्त गणित है, जो मुश्किल हो जाता है, कुछ ही तरह के लोग इसे सीख पाते हैं और कर पाते हैं।

जैसा कि अभी पाठ्यक्रम में उदाहरण की बात चली थी– आप जब भी किसी पाठ्यक्रम में कोई उदाहरण देंगे जो आम ज़िन्दगी से मिलता-जुलता होगा, तो कोई ऐसा उदाहरण नहीं हो सकता जो सब पर लागू हो। तब फिर कक्षा के लिए समस्या है। आप हर बच्चे के लिए अलग सवाल हरगिज़ नहीं बना सकते हैं, एक मॉडल फ्रेम लेते हैं जो अधिकतम के लिए हो। पर ऐसा फ्रेम कैसा हो जो सबको शामिल करे, यह एक मुश्किल मसला है।

सार संक्षेप

इस संवाद में पाँच शिक्षकों ने भागीदारी की। संवाद का मुख्य विषय था– 'गणित की पढ़ाई किस स्तर तक होनी चाहिए?'– इस प्रश्न के उत्तर को टटोलते हुए शिक्षकों ने अपने स्कूली

दिनों, अपने स्वयं के गणित सीखने के अनुभवों और वर्तमान में वे जिन बच्चों को पढ़ा रहे हैं, उनके साथ हुए अनुभवों को याद किया और उनका विश्लेषण भी किया।

प्रस्तुत संवाद में शिक्षक अपनी कक्षाओं व अपने अनुभवों के आधार पर कहते हैं कि गणित के प्रति छात्रों में भय पहले भी था और आज भी है। इस भय का एक मूल कारण गणित सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं में है, न कि गणित में। उनके अनुसार यह कहना सही नहीं है कि बच्चे गणित से डरते हैं। बच्चे भी यह भली भाँति जानते हैं कि गणित का उपयोग वे कहाँ-कहाँ करते हैं और क्या-क्या ऐसी बातें हैं जो गणित के बगैर हम सोच ही नहीं सकते। लेकिन वे यह भी महसूस करते हैं कि कक्षाओं में जो गणित होता है वह इस गणित से फर्क हो जाता है, और इसीलिए बच्चे धीरे-धीरे गणित से डरने लगते हैं।

कुल मिला कर यह बात उभरी कि बुनियादी गणित की पढ़ाई हर बच्चे के लिए होनी चाहिए, पर इसको करने के रास्ते में कई सवाल हैं। अनिवार्य गणित में वे सभी तत्त्व भी शामिल हों, जो बच्चे की उन क्षमताओं का विकास करें जिनसे उसे न सिर्फ व्यवहार में वरन अमूर्त स्तर पर सोच पाने में मदद मिले। पर इसमें क्या-क्या शामिल हो और क्या नहीं, यह एक मुश्किल सवाल है। उनके अनुसार गणित शिक्षण को बच्चों के अनुभवों और सन्दर्भ से जोड़ने का विचार सटीक है, किन्तु अनुभवों की विविधता के चलते इसे कर पाना जटिल है। इसी तरह, कक्षा में बच्चों के सीखने की अलग-अलग रफ्तारों को कैसे समायोजित करें? जहाँ तक विषय के चुनाव का प्रश्न है तो यह सवाल सिर्फ गणित पर ही नहीं बल्कि हर विषय पर लागू होता है कि किसी विषय को किस स्तर तक अनिवार्य रूप से सभी को पढ़ाया जाए। ◙

लेखकों से आग्रह

हमने पत्रिका के लिए आलेख आमंत्रित करते हुए सभी को पत्र लिखे थे और लेखों की प्रकृति व स्वरूप के लिए कुछ आधार भी दिए थे। इसके अलावा कुछ आधार आपको इस अंक के लेखों से मिल जाएँगे। आप शिक्षा से सम्बन्धित किसी भी मसले पर अपने अनुभव, अध्ययन व विश्लेषण के आधार पर लिख सकते हैं। उम्मीद करते हैं कि आप जो भी लेख भेजेंगे वह ठोस आधारों पर हों और यदि लेख में दिए गए किसी विवरण, चर्चा अथवा व्याख्या से सम्बन्धित किसी तर्क अथवा प्रमाण के लिए किसी पुस्तक, जरनल या वेब स्रोत से कोई सामग्री ली गई हो तो उसका उल्लेख जरूर करेंगे। आप जो भी सामग्री लें उससे लेख को अर्थपूर्ण, तार्किक और गुणवत्तापूर्ण बनाने में मदद मिले।

पत्रिका में लोगों के अनुभव भी लिए जाएँगे। इसमें कक्षा व स्कूल में विषय सीखने–सिखाने के अनुभव, छात्रों द्वारा किसी अवधारणा विशेष को सीखने की प्रक्रिया, उनके साथ की जाने वाली गतिविधियों के अनुभव, पाठ्यपुस्तक पढ़ाने के अनुभव और उनका विश्लेषण, बच्चों के साथ खेलने, चित्रकारी करने, बालसभा, मध्याह्न भोजन इत्यादि के अनुभव भी हो सकते हैं। साथ ही छात्र–अध्यापक सम्बन्ध, कक्षा में बातचीत, अनुशासन व अन्य ऐसे कोई भी विषय हो सकते हैं। आशा करते हैं कि ये अनुभव ठोस एवं यथार्थपरक होंगे। उसमें कुछ ऐसा जरूर हो जो पाठक को रुचिपूर्ण व सार्थक लगे।

इसके अलावा आप किसी पुस्तक, फिल्म अथवा अन्य शिक्षण सामग्री के बारे में भी लिख सकते हैं, मसलन उनका परिचय, समीक्षा अथवा विश्लेषण। इसके लिए आप शिक्षा व समाज से सम्बन्धित कोई ऐसी पुस्तक ले सकते हैं जो आपको उल्लेखनीय लगे। आप चाहें तो परिचय अथवा विश्लेषण के लिए एक ही क्षेत्र की दो–तीन पुस्तकों अथवा फिल्म को एक साथ ले सकते हैं।

लेखकों को अपने लेखन के सन्दर्भ में किसी भी तरह के सहयोग की आवश्यकता महसूस होती है तो वे इसके लिए सम्पर्क कर सकते हैं। उन्हें इस सन्दर्भ में सम्पादक मण्डल के सदस्यों द्वारा आवश्यक सहयोग और सुझाव दिए जाएँगे।

हम आशा करते हैं कि **पाठशाला भीतर और बाहर** का यह पहला अंक आपको अच्छा लगेगा और आप इसके अगले अंकों के लिए जरूर लिखेंगे। पत्रिका के इस अंक पर आपकी टिप्पणियों व सुझावों का हमें इन्तज़ार रहेगा।

मुद्रक तथा प्रकाशक मनोज पी. द्वारा अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन फॉर डेवलपमेंट के लिए अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, प्लाट नं. 321–322, ई–8, अरेरा कालोनी, पंजाब नैशनल बैंक के पीछे, फॉर्च्यून प्राईड सोसाइटी के पास, त्रिलंगा, भोपाल, मध्यप्रदेश 462039 की ओर से प्रकाशित एवं गणेश ग्राफ़िक्स 26–बी, देशबंधु परिसर, प्रेस काम्प्लेक्स, एम.पी. नगर, जोन–1 भोपाल द्वारा मुद्रित।
सम्पादक : गुरबचन सिंह

MPHIN34796

अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय की अन्य पत्रिकाएँ